साहित्य-रत्न-माला—१५

शब्द-साधना

लेखक

रामचन्द्र वर्म्मा

प्रस्तावना-लेखक

श्रीयुत श्रीप्रकाश जी

(मद्रास के राज्यपाल)

साहित्य-रत्न-माला कार्यालय,

२० धर्म कूप, बनारस ।

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-माला कार्यालय,
२० धर्म कूप, बनारस।

पहला संस्करण
मूल्य ५)

मेवालाल गुप्त,
बम्बई प्रिंटिंग काटेज,
बाँस फाटक, काशी।

उन

विचारशीलों को

जो

तात्त्विक और वैज्ञानिक दृष्टि से

शब्दों की आत्मा का

साक्षात्कार करना

चाहते

हैं

शब्द-ब्रह्म

शब्दों मे भी आत्मा तथा जीवन—ब्रह्म का व्यक्त और स्पष्ट अश—होता है। उनका भी जन्म और विकास होता है; कुल, गोत्र और परिवार होते हैं। उनका महत्त्व उन प्राणियों से भी बढकर होता है, जो उनका प्रयोग करते हैं। ऐसी उत्कृष्ट वस्तु को नगण्य या साधारण समझकर हम बहुत बड़ा अन्याय और अपराध करते हैं। शब्दों के ठीक ठीक अर्थ और आशय समझना अपना और अपने देश तथा साहित्य का गौरव बढाना है। पर इसके लिए विपुल तपस्या और साधना होनी चाहिए। राष्ट्र भाषा ऐसे तपस्वियों और साधकों की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रही है।

निवेदन

कुछ दिन हुए, नागपुर रेडियो से श्री मुमताजुद्दीन की हास्य रस की एक वार्त्ता प्रसारित हुई थी, जिसका शीर्षक था—मजे मे तो हैं ? वार्त्ता भी वैसी ही मजेदार थी, जैसा उसका शीर्षक था। उसका साराश यही था कि हम लोग प्रायः शब्दों का प्रयोग बिना उनका ठीक और पूरा अर्थ या आशय समझे, यों ही अभ्यास-वश किया करते हैं। उधर सुननेवाले भी इसी प्रकार अभ्यास-वश उनका आधा-तीहा अर्थ समझे या बिना समझे उत्तर दे चलते हैं। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह बात है भी सोलहो आने ठीक। दूर मत जाइए, यही (उक्त वाक्य का अन्तिम शब्द) 'ठीक' ले लीजिए, और अपने दो-चार मित्रों से इसका आशय पूछ देखिए। कोई कहेगा—ठीक का अर्थ है—वाजिब; कोई कहेगा—मुनासिब, और कोई कहेगा—उचित। कुछ सुयोग्य मित्र ऐसे भी निकल आवेंगे, जो अपना आर्थी अज्ञान छिपाने के लिए आपको ही फटकार बताने लगेंगे; और कहेंगे—वाह साहब, आप 'ठीक' का भी अर्थ नहीं जानते ? यदि आप उनसे कहे—'हाँ भाई, हम सचमुच नहीं जानते। आप ही व्याख्या करके बतला दीजिए।' तो फिर देखिए कि वे कैसी दर्शनीय मुख-मुद्रा बनाते हैं !

पर जरा विचारपूर्वक देखिए कि क्या ठीक, वाजिब, मुनासिब और उचित सब एक ही अर्थ रखते हैं ? क्या सदा एक की जगह दूसरे का प्रयोग किया जा सकता है ? आप कहेंगे—सब जगह नहीं, तो बहुत-सी जगहो पर तो एक का काम दूसरे से चल ही जाता है। तब हम कहेगे—यदि सब जगह काम नहीं चलता तो फिर इनमें कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होना चाहिए। अत बात फिर जहाँ की तहाँ रह जाती है। अब हम यदि यह अन्तर जानना चाहे तो हमे बहुधा अपनी बुद्धि से ही काम लेना पड़ेगा, क्योंकि हिन्दी साहित्य मे कहीं कोई ऐसा साधन नहीं मिलेगा, जो हमे इस प्रकार के पर्याय माने जानेवाले शब्दो के पारस्परिक अन्तर बतला सके। यह ठीक है कि अच्छे और बड़े शब्द-कोशो से कहीं

कहीं हमे थोडी-बहुत सहायता मिल जायगी; परन्तु उतने से कभी हमारा काम पूरा न होगा। और यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो शब्द-कोशों का काम मोटे हिसाब से शब्दो की साधारण-सी व्याख्या करके उनके दो चार पर्याय दे देना ही होता है। पर जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है, पर्याय हमे बहुधा धोखे मे रखते हैं। वे हमे शब्दो के अर्थों की छाया का आभास मात्र करा देते हैं—उनके ठीक और पूरे अर्थ तथा भाव नहीं बतलाते। कारण यही है कि हम जिस प्रकार किसी शब्द के वास्तविक अर्थ से अपरिचित होत हैं, उसी प्रकार उसके पर्यायो के वास्तविक अर्थों से भी कोरे रहते हैं। फिर उन पर्यायो मे भी बहुत कुछ अर्थ भेद होते हैं। और जब तक हमें पर्याय माने जानेवाले शब्दो के अर्थ-भेद न मालूम हो, तब तक हमारा भाषा-ज्ञान अधूरा ही रहता है, वह कभी गहरा, पक्का, पूरा और यथार्थ नहीं हो सकता। भाषा और उसके शब्दो के अर्थों के इसी अधूरे ज्ञान से जन-साधारण के सब काम जैसे-तैसे चलते रहते हैं। पर क्या यह हमारे शब्द-ज्ञान और हमारी भाषा पर बहुत बडा कलक नहीं है?

हमारे यहाँ का 'शब्द-ब्रह्म' पद बतलाता है कि किसी समय हम भारतीय लोग शब्दो और उनके अर्थों को कितना अधिक महत्त्वपूर्ण समझते थे। इधर बहुत दिनो से हम शब्दो को 'ब्रह्म' मानना और 'ब्रह्म' ही की तरह उनकी उपासना तथा साधना करना भूल गये हैं; और इसी लिए विद्या तथा साहित्य की दृष्टि से बहुत पीछे रह गये हैं। पाश्चात्य देशो मे अब 'शब्द-ब्रह्म' की उपासना और साधना उसी प्रकार हो रही है, जिस प्रकार किसी समय प्राचीन भारत मे होती थी। आज हमारे लिए फिर से शब्द-ब्रह्म का महत्त्व समझना बहुत आवश्यक हो गया है। उसी महत्त्व की ओर हिन्दीवालो का ध्यान आकृष्ट करने के लिए मेरा यह तुच्छ प्रयास है।

भाषा का मानकीकरण

चाहे अधिकारत कहिए, चाहे सयोग, सौभाग्य आदि से, हिन्दी भारत की राष्ट्र-भाषा के पद से आगे बढकर राज-भाषा के पद पर पहुँच गई है। फलतः हम गर्व से फूले नहीं समाते; और चाहते हैं कि सारे देश मे, हर काम

मे और हर जगह, हमे हिन्दी ही हिन्दी दिखाई दे। हमारी ऐसी कामना कुछ अनुचित या अस्वाभाविक तो नहीं है; पर हमारी इस कामना की आड़ मे कहीं कुछ जबरदस्ती या बल-प्रयोग की भावना भी काम कर रही है। हम न तो अपनी भाषा की त्रुटियो की ओर ध्यान देते हैं, न उन त्रुटियो के सुधार का कोई प्रयत्न करते हैं। फिर भी हम चाहते यही हैं कि हमे देश भर मे हिन्दी का सार्वभौम साम्राज्य दिखाई दे। यही हमारी जबरदस्ती, यही हमारा बल-प्रयोग है।

प्रत्येक भाषा के प्रचार और प्रसार मे उसका साहित्य ही सबसे अधिक सहायक होता है। जिस भाषा मे जितना अच्छा और जितना अधिक साहित्य होता है, उसका उतना ही अधिक प्रचार भी होता है। दूसरे, जो भाषा सबसे अधिक पुष्ट, भाव-व्यजक और स्वस्थ होती है, वही सबसे अधिक लोक-प्रिय भी होती है; और उसी मे सबसे अधिक तथा उत्कृष्ट साहित्य भी प्रस्तुत होता है। इस विचार से इस समय दो काम मुख्य रूप से हमारे सामने आते हैं। एक तो हिन्दी साहित्य की श्री-वृद्धि, और दूसरे, हिन्दी भाषा का मानकीकरण। साहित्य की श्री-वृद्धि के उपायो आदि का विचार प्रस्तुत प्रसग मे हमारे क्षेत्र के बाहर है। यहाँ हमारे लिए हिन्दी भाषा के मानकीकरण का प्रश्न ही प्रधान है।

हर भाषा को मानक बनाने के लिए तीन बातें आवश्यक होती हैं। एक तो व्याकरण की दृष्टि से शुद्धता और सर्वांग-पूर्णता; दूसरे, अक्षरी के विचार से शब्दो के रूपो की निश्चिति और स्थिरता *, और तीसरे, शब्दो की आर्थी मर्यादा का निर्धारण और परिसीमन। हमारे लिए यह बहुत ही लज्जा की बात है कि इन कसौटियों मे से एक पर भी हमारी भाषा खरा नहीं उतरती। व्याकरण की दृष्टि से भाषा की दुर्दशा के सैकडों हजारो उदाहरण नित्य हमारे सामने सामयिक-पत्रों

* व्याकरण की दृष्टि से भाषा का शुद्ध स्वरूप बतलाने के लिए मैंने 'अच्छी हिन्दी' और 'हिन्दी प्रयोग' में अपने विचार प्रकट किये हैं। शब्दों के रूप स्थिर करने के सम्बन्ध की कुछ बाते 'अच्छी हिन्दी' में भी हैं, और प्रत्यक्ष रूप में इस सम्बन्ध का थोड़ा बहुत काम 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' में भी हुआ है, जिसमें अधिकतर अर्थ और व्याख्याएँ मानक शब्दो के साथ दी गई है, स्थानिक शब्दों में मानक शब्दो का अभिदेश मात्र कर दिया गया है।

और दिन-पर-दिन बढते रहनेवाले साहित्य मे दिखाई देते हैं। हमारे पत्रों, ग्रन्थों और लेखकों की सख्या जिस अनुपात मे बट रही है, प्राय उसी अनुपात मे हमारी भाषा की विकलागता भी बढती जाती है। हम यही मानकर निश्चिन्त रहते हैं कि यही हमारी भाषा का स्वाभाविक विकास है, और इसी प्रवाह मे बहते-बहते हम कहीं न कहीं पहुँच ही जायँगे। पर हम कभी यह नहीं सोचते कि यों शुतुर मुर्ग की तरह बालू मे सिर छिपाकर हम हिन्दी के विरोधियो का पक्ष कितना प्रबल कर रहे हैं! और हिन्दी का भविष्य किस प्रकार नष्ट कर रहे हैं!

मेरा ही नहीं, अधिकतर लोगो का यह विश्वास है कि स्वतत्रता प्राप्त करने के उपरान्त हिन्दी की समुचित उन्नति तथा विकास के लिए अब तक न तो हिन्दीवालों ने ही कोई पक्का और बड़ा काम किया है और न केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारों ने ही। यह ठीक है कि अनेक स्थानों पर शब्द गढने के कुछ कारखाने खुल गये हैं; और लेखकों को उत्साहित करने के लिए बहुत-से पुरस्कार बँटने लग गये हैं; परन्तु इतने से ही हमारी भाषा को वह मानक रूप नहीं प्राप्त हो सकता, जो किसी राज-भाषा को आवश्यकऔर अनिवार्य रूप से होना चाहिए।

हिन्दी की वास्तविक उन्नति करने और उसे राजकीय व्यवहार के योग्य बनाने के लिए हमे पहले उसकी त्रुटियाँ देखनी होंगी और वे त्रुटियाँ दूर करने के लिए पूरे प्रयत्न करने होगे। हम बिस अगरेजी के स्थान पर हिन्दी को आसीन करना चाहते हैं, यदि उसके साहित्यिक वैभव को छोड़ कर केवल भाषिक वैभव की ओर ध्यान दें, तो भी हम सहज मे समझ सकेंगे कि हमे अँगरेजी के पास तक पहुँचने के लिए अभी कितना बडा रास्ता पार करना है। और जब तक हम वह रास्ता थोडा-बहुत पार न कर लेंगे, तब तक हिन्दी कभी आधुनिक राजकीय व्यवहारों के लिए उपयुक्त और समर्थ न हो सकेगी। हिन्दी की भाषिक त्रुटियों और दुर्बलताओं का जितना और जैसा अधिक अनुभव मुझे इस 'शब्द-साधना' के काम मे हुआ है, उतना और वैसा अनुभव आज तक कभी नहीं हुआ था। पग पग पर मुझे दिखाई पडता था कि नये-नये सूक्ष्म भाव और विचार प्रकट करने मे हमारी भाषा, उपयुक्त शब्दों के अभाव मे, कितनी दबती चलती है—भाव-व्यजन का भार ढोने मे वह कितनी असमर्थ है! हिन्दी की यह दुर्बलता तभी दूर होगी,

जब हम अपनी भाषा को उसी प्रकार मानक बना सकेंगे, जिस प्रकार ससार की अन्य उन्नत भाषाएँ हैं। केवल शब्दों की कमी देखकर नये-नये हजारों-लाखों शब्द गढ डालने भर से काम नहीं चलेगा।

भाषा की सृष्टि किसी विशिष्ट युग, देश और समाज मे होती है; और उसपर परिस्थितियों की गहरी छाप पडती है। सस्कृत का विकास जिस युग और जिस समाज मे हुआ था, वह मुख्यत आध्यात्मिक था। उसका दृष्टि-कोण उतना इह-लौकिक नही था, जितना पारलौकिक था। इसी लिए उसमे उसी स्थिति के अनुरूप शब्दों की बहुलता थी। यह ठीक है कि उस युग मे भी भारत ने राजनीतिक, सामाजिक, औद्योगिक, बौद्धिक, मानसिक, शैक्षणिक आदि अनेक क्षेत्रों में बहुत कुछ उन्नति की थी, और सस्कृत इस दृष्टि से भी यथेष्ट उन्नत तथा सम्पन्न हुई थी। पर आगे चलकर जब दुर्भाग्य से हमारी अवनति, पराधीनता और विग्रहों के दिन आये, तब हमारे अन्य वैभवों के साथ-साथ भाषिक वैभव भी बहुत कुछ लुप्त हो गया। इसके उपरान्त जब हिन्दी का युग आया, तब अन्यान्य उन्नत भारतीय भाषाओं की तरह, हिन्दी ने भी उस भाषिक वैभव की थोडी-बहुत रक्षा अवश्य की; परन्तु उस वैभव की कोई विशिष्ट वृद्धि नहीं हुई। दिन पर दिन हमारा भी और हमारी अन्य बातों के साथ साथ हमारी भाषा का भी ह्रास ही होता गया। न तो मुसलमानों के जमाने मे ही हिन्दी आगे बढने पाई और न अँगरेजों के जमाने मे ही। वह बराबर दबती और पीछे हटती चली गई। फलत उसका दरिद्र और दीन-हीन होना स्वाभाविक था। भला हो भारतेन्दु जी का, जिन्होने इस मृत-प्राय हिन्दी को फिर से अनुप्राणित करने और इसमे नये जीवन का सचार करने का प्रयत्न किया। सच पूछिए तो हमारी आधुनिक हिन्दी की अवस्था यही ७०-८० वर्षों की है; और भाषाओ के जीवन मे इतना समय कुछ भी नहीं है। हाँ इतना अवश्य है कि एक तो हिन्दी उस सस्कृत की परम्परा मे और उसकी उत्तराधिकारिणी है, जो अपने समय मे ससार की सर्व-श्रेष्ठ भाषा थी, और दूसरे, इसके सिर पर चन्द वरदाई से लेकर सूर, तुलसी, कबीर आदि महापुरुषों तक का वरद हस्त रहा है। तीसरे यह रामचन्द्र शुक्ल, गुप्त, प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला, महादेवी आदि की सुकृतियों द्वारा सेवित हुई है। पर अब इसे राज-भाषा बनना है—

राजकीय व्यवहार मे आना है। इसी लिए इसमे ऐसा राजोचित निखार लाना आवश्यक है जो इसे राज-सभा मे उपयुक्त रूप से गौरवपूर्वक आसीन करा सके। इस के लिए हमे अपना दृष्टि-कोण बदलकर उसे बिलकुल नया रूप देना होगा—एक नये शास्त्र का आश्रय लेना होगा। और वह नया शास्त्र है—

पर्यायकी

'पर्यायकी' शब्द भी और इसका विषय भी हम लोगो के लिए बिलकुल नया है। यह भाषा-शास्त्र का एक ऐसा आधुनिक अग है, जिसकी ओर अभी तक हिन्दीवालों का ही क्या, कदाचित् अन्य भारतीय भाषाओ के विद्वानों का भी ध्यान नहीं गया है। परन्तु भाषा की व्यजना शक्ति बढाकर उसे उन्नत, पुष्ट, प्रभावोत्पादक तथा हृदय-ग्राहिणी बनाने के लिए इस शास्त्र का अध्यन और अनुशीलन परम आवश्यक और अनिवार्य है। हिन्दी मे इस विषय की चर्चा तो इसलिए और भी अधिक होनी चाहिए कि उसे सभी व्यावहारिक क्षेत्रों मे ॲगरेजी का स्थान लेना है। पर्यायकी का विवेचन ही हमारी आँखें खोलकर हमे यह दिखला सकेगा कि जिस हिन्दी को हम राष्ट्र-भाषा बना चुके हैं और जिसे अब राज भाषा का स्थान लेना है, वह ॲगरेजी की तुलना मे कितनी अधिक अक्षम, दीन और पगु है। यदि हम पर्यायकी की सहायता से हिन्दी की भाषा-सम्बन्धी त्रुटियाँ दूर न कर सके, तो वह कभी ॲगरेजी का स्थान लेने के योग्य न होगी।

पर्याय को ॲगरेजी मे सिनाँनिम (Synonym) कहते हैं, अत सिनाँनिमिज्म या सिनाँनिमी (Synonymism या Synonymy) को हम 'पर्यायकी' कह सकते हैं। इस शास्त्र मे इस बात का विचार होता है कि एक दूसरे के पर्याय माने जानेवाले शब्दों मे वस्तुत आर्थी दृष्टि से क्या अन्तर है। अर्थात् इससे हमे पता चलता है कि किस प्रसग मे किस शब्द का प्रयोग करना चाहिए; और किस शब्द का नही करना चाहिए। हम अबला, नारी और स्त्री; ऊर्मि, तरग और वीचि, खेद, दु ख और शोक, झटका, ठोकर और धक्का; टक्कर, भिड़न्त और मुठ-भेड; उद्योग, चेष्टा और प्रयत्न, शका, सन्देह और सशय सबको एक मानकर और इनके मन-माने प्रयोग करके कभी हिन्दी को राजकीय व्यवहारो

के लिए उपयुक्त नही बना सकते ; क्योंकि राजकीय, विधिक आदि व्यवहारों के लिए प्रत्येक शब्द का एक सु-निश्चित अर्थ होना परम आवश्यक है। हिन्दी की सच्ची श्री-वृद्धि तो तभी होगी, और उसमे सच्ची पात्रता तभी आवेगी, जब हम इस प्रकार के पर्याय माने जानेवाले शब्दों के अलग अलग अर्थ समझकर उनके अँगरेजी समानक शब्दों की तुलना मे उनका उचित मान तथा मूल्य निर्धारित करेंगे और अँगरेजी के प्रत्येक शब्द का हिन्दी समानक स्थिर करके उपयुक्त अर्थ मे और उपयुक्त स्थान पर उसका प्रयोग करना सीखेगे।

किसी समय हमारी आकर भाषा सस्कृत मे शब्दो के अर्थों का ठीक विचार और पूरा विवेचन होता था, और उसी विचार तथा विवेचन के आधार पर शब्दों का ठीक प्रयोग भी होता था। पर आगे चलकर संस्कृत मे अर्थ-विवेचन तो शिथिल होता गया, और पर्याय-रचना की प्रवृत्ति बढती गई। फल यह हुआ कि सस्कृत मे एक एक शब्द के सैकडों पर्याय बन गये; और बहुतेरे शब्दों मे पचीसों-पचासो क्या सैकडों अर्थ आ लगे। कवियों की दृष्टि से भले ही यह स्थिति उपयोगी हो, पर भाषा-शास्त्रियों, विधिज्ञों और साहित्यकारों की दृष्टि से यह बहुत बडा दोष ही माना जायगा। हम हिन्दीवाले सस्कृत शब्द ले लेना तो जानते ही हैं; और सस्कृत के आधार पर नये शब्द गढना भी सीख रहे हैं। पर अर्थ-विवेचन की मद मे हमें हिन्दी मे शून्य का ही साम्राज्य दिखाई देता है। यह स्थिति अशोभन भी है और हमारी उन्नति के मार्ग मे बाधक भी।

आधुनिक दृष्टि से पर्यायों के सूक्ष्म अर्थ-भेदो के निरूपण की ओर पहले-पहल फ्रान्सीसी भाषाविदों का ध्यान गया था। सन् १७१८ मे जिरर्ड नामक फ्रान्सीसी विद्वान् ने अपने एक ग्रन्थ मे यह बतलाया था कि पर्यायो को बिलकुल समानार्थी समझना बहुत बडी भूल है। शब्दो के अलग अलग अर्थ होते हैं; और उनका प्रयोग सदा उन ठीक अर्थों मे ही होना चाहिए। फ्रान्सीसी भाषा मे जो बहुत-से शब्द एक दूसरे के पर्याय माने जाने के कारण अनपयुक्त रूप से प्रयुक्त होते थे, उनके ठीक अर्थ और प्रयोग इस ग्रन्थ मे बतलाये गये थे। इस ग्रन्थ का सारे युरोप मे यथेष्ट प्रचार हुआ था, और इसकी ओर अच्छे-अच्छे विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ था। इसी ग्रन्थ के अनुकरण और आधार पर

इँग्लैंड मे जॉन ट्रूसलर नामक एक पादरी ने सन् १७६६ मे 'पर्यायवाची माने जानेवाले शब्दो में भेद' नामक एक ग्रन्थ ॲगरेजी मे प्रकाशित किया था। इस विषय का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ब्रिटिश पर्यायकी (British Synonymy) के नाम से सन् १७९४ मे प्रकाशित हुआ था, जिसकी रचयित्री श्रीमती पियोजी थीं। श्रीमती पियोजी ॲगरेजी के सुप्रसिद्ध कोशकार और विद्वान् डा० जॉन्सन की घनिष्ट मित्र थी। यद्यपि इस ग्रन्थ मे बहुत सी त्रुटियाँ थीं और अनेक स्थानों पर शब्दों के अर्थों के सम्बन्ध मे डा० जॉन्सन से मत-भेद भी प्रकट किया गया था, तो भी इस ग्रन्थ से एक नई विचार-धारा के प्रवाह मे भी और ॲगरेजी भाषा का स्वरूप स्थिर करने मे भी बहुत-कुछ सहायता मिली थी। तभी से और अनेक विद्वान् इस विषय मे रस लेने लगे, और ॲगरेजी पर्यायकी क्रम क्रम से वैज्ञानिक और व्यवस्थित शास्त्र का रूप धारण करने लगी। अब तक ॲगरेजी मे इस विषय के पचीसों ग्रन्थ प्रस्तुत हो चुके हैं, जिनमे क्रैब, फर्नाल्ड आदि के पर्याय कोश परम उपयोगी हैं। सन् १९४२ मे अमेरिका से जो वेब्स्टर कृत पर्याय कोश निकला था, उसमे शब्दों के वर्गीकरण, अर्थों के विवेचन तथा प्रयोगों के उदाहरण आदि सभी ऐसी सीमा पर पहुँचा दिये गये हैं, कि उससे आगे बढने के लिए अभी बीसियों वर्ष लगेगे। इन सभी कोशों मे शब्दों के अर्थों तथा प्रयोगो का इतना अधिक सूक्ष्म विवेचन हुआ है कि देखकर दग रह जाना पडता है—समझ मे नही आता कि हिन्दी को इस ऊँचाई तक पहुँचने मे कितने दिन लगेगे। पर इसके लिए प्रयत्न आरम्भ होना तो दूर रहा, अभी हम लोगों का ध्यान भी उधर नहीं गया।

अच्छी भाषा का मुख्य लक्षण यही समझा जाता है कि उसमे प्रत्येक शब्द नपा-तुला हो—उसका हर अग कसौटी पर खरा उतरे, हर बात काँटे की तौल हो। और भाषा मे यह बात तब तक नहीं आ सकती, जब तक प्रत्येक शब्द की आर्थी मर्यादा तथा प्रायौगिक सीमाएँ निर्धारित न हों। हमे तो मानों नींव मे ही सारा काम आरम्भ करना होगा। पर हिन्दी को राज-भाषा के पद पर गौरव-पूर्वक आसीन कराने के लिए हमे यह काम करना ही होगा; और जितनी जल्दी हम इस ओर अग्रसर होगे, उतना ही यह काम हमारे लिए भी और हमारी भाषा के लिए भी शुभ होगा। हमारे लिए इस दृष्टि से कि शब्दों के अर्थों के ठीक

ठीक अन्तर समझने से हमारे ज्ञान और बौद्धिक शक्ति का विकास होगा, हममे सूक्ष्म-दर्शिता आवेगी, और हमारी मातृ-भाषा के लिए इस दृष्टि से कि वह भी संसार की अन्य उन्नत भाषाओं के सामने सिर ऊँचा करके खडी होने के योग्य बन सकेगी। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशा मे पहला पग है। हो सकता है कि पहला प्रयास होने के कारण इसमे अनेक प्रकार की त्रुटियाँ हों, अनेक भूलें हों, पर इसका एक मात्र उद्देश्य है—हिन्दी को भाषिक दृष्टि से आगे बढाकर अँगरेजी के सम-कक्ष करना। इसके लिए सैकडों नये शब्द गढे गये हैं और सैकडों पुराने शब्दों के अर्थों मे परिवर्त्तन और सुधार किये गये हैं, और जहाँ तक हो सका है, अर्थों को एक निश्चित सीमा मे बद्ध करके उनके विस्तार तथा व्याप्ति को मर्यादित रूप देने का प्रयत्न किया गया है।

कुछ तो भाषा के शुद्ध रूप तथा शब्दों के शुद्ध प्रयोग की ओर बचपन से ही मेरी थोडी बहुत रुचि थी, और कुछ हिन्दी शब्द-सागर के सम्पादन मे लग जाने और स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का सान्निध्य प्राप्त होने के कारण यह विषय मेरे लिए व्यसन सा हो गया था। शब्द-सागर के सम्पादन-काल मे ही हम लोगो को इस बात का यथेष्ट अनुभव हो गया था कि शब्दों की ठीक और पूरी व्याख्या करना बहुत ही कठिन काम है; और उसमे बहुत अधिक जानकारी, परिश्रम तथा विचारशीलता की आवश्यकता होती है। शब्दों की व्याख्या के समय ही पर्यायों के सूक्ष्म अन्तर भी सामने आते थे। जब हम लोग 'टाँगना' की व्याख्या करने बैठे थे, तब यह प्रश्न सामने आया था कि 'लटकाना' से इसमे क्या अन्तर है, और यह अन्तर स्थिर करने मे ही हम लोगो को कई दिन लग गये थे। पर हाँ, इस प्रकार के विवेचनों ने हमारे सामने एक ऐसा नया मार्ग खोल दिया था, जो बहुत ही बीहड था और जिस पर चलना लोहे के चने चबाना था। मित्रवर शुक्ल जी तो इस विषय का अगाध ज्ञान अपने साथ लेकर चले गये, हाँ, अपना थोड़ा-बहुत प्रसाद मुझे अवश्य देते गये, जिसके बल पर मैंने 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' मे हजारों शब्दों की व्याख्या बिलकुल नये सिरे से करने और पर्याय माने जानेवाले शब्दों के आर्थी अन्तर निश्चित करने का तुच्छ प्रयास किया था।

कोई साल भर पहले (शायद सितम्बर १६५४) की बात है। एक दिन सन्ध्या समय मेरे आदरणीय और सुयोग्य मित्र श्री शिवनाथ प्रसाद जी बेरी मेरे यहाँ बैठे हुए शब्दो और उनके अर्थों की चर्चा कर रहे थे। उस समय दु ख, खेद, विषाद आदि का प्रसग आया। इस वर्ग के साथ आठ शब्द इकट्ठे करके उनके सूक्ष्म अर्थ-भेदो का विचार होने लगा। दूसरे दिन मेरे छोटे भानजे चि० बदरीनाथ कपूर ने इसी विवेचन के आधार पर एक छोटा सा लेख लिखकर हम लोगों को सुनाया। उसमे कई तरह की त्रुटियाँ निकाली गई और उनका परिष्करण हुआ। निश्चय हुआ कि मैं फिर से ठीक करके यह लेख प्रस्तुत करूँ, अतः 'दु ख का परिवार' शीर्षक लेख तैयार हुआ जो जनवरी १६५५ के 'आज-कल' मे छपा था। इस पर चारो ओर से बीसियों पत्र आये, जिनमे आग्रह था कि अर्थ-भेद के विवेचन का यह क्रम बराबर चलता रहे। श्री बेरी जी तथा उनके जामाता, मेरे परम प्रिय मित्र डा० व्रजमोहन (हिन्दू विश्व-विद्यालय के गणित विभाग के प्राध्यापक) जो इस विषय के पुराने रसिक थे, उक्त लेख देखकर और भी प्रसन्न हुए; और उन्होंने मुझे फर्नाल्ड का अँगरेजी पर्याय कोश दिखलाया जो इसी विषय का बहुत उत्कृष्ट ग्रन्थ था। तभी से हम लोगों का एक नया कार्य-क्रम आरम्भ हुआ। बेरी जी, व्रजमोहन जी, मै और चि० बदरीनाथ कपूर सप्ताह मे एक दिन ३-४ घण्टे जमकर बैठते थे और अँगरेजी की एक दो शब्द-मालाएँ लेकर उनके हिन्दी समानक स्थिर करते थे। कभी कभी तो एक ही अँगरेजी शब्द का हिन्दी समानक स्थिर करने मे घण्टों सिर-पच्ची करनी पडती थी। शब्दों के सूक्ष्म अर्थ-विवेचन मे फर्नाल्ड की पुस्तक से बहुत सहायता मिलती थी। इसी बीच में मेरे प्रिय मित्र प० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र ने इस विषय का हम लोगों का प्रयास देखकर क्रैब का अँगरेजी पर्याय कोश भी मेरे पास उपयोग करने के लिए भेज दिया; और महीने दो महीने बाद एक अन्य मित्र ने वेब्स्टर का पर्याय कोश भी हम लोगों को दे दिया। अब हम लोगों के पास पर्याप्त सामग्री हो गई और काम धड़ल्ले से चलने लगा। अँगरेजी शब्दो के हिन्दी समानक तो उक्त गोष्ठी मे स्थिर होते थे; और मै शब्द-मालाओं को हिन्दी रूप देता चलता था। पचास वर्षों तक हिन्दी वाटिका मे भ्रमण करने पर उसके शब्द-पुष्पों की जो सुगन्ध मेरे मानस-भडार

में सचित थी, वह इस शब्द-साधना के काम मे बहुत कुछ उपयोगी सिद्ध हुई; और प्राय एक वर्ष के कठिन परिश्रम से अब यह पुस्तक वर्त्तमान रूप मे हिन्दी जगत को नम्रतापूर्वक भेंट की जा रही है। पर अभी इस प्रकार का बहुत अधिक काम होने को है और होना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक का बहुत कुछ श्रेय श्री बेरी जी, तथा ब्रजमोहनजी को भी है जिनसे मुझे अँगरेजी शब्दों के हिन्दी समानक स्थिर करने मे भी और शब्दों के अर्थ-निरूपण मे भी अमूल्य सहायता मिली है। चि० बदरीनाथ कपूर और श्री महाराज नारायण एम० ए० (हिन्दू विश्वविद्यालय के भू शास्त्र विभाग के प्राध्यापक) से भी समय समय पर बहुत सहायता मिलती रही है जिसके लिए मै इनका परम कृतज्ञ हूँ। धन्यवाद के सबसे अधिक अधिकारी हैं माननीय श्रीयुत श्रीप्रकाश जी महोदय (मदरास के राज्यपाल) जो समय समय पर अनेक शब्द-मालाओं की पाडु-लिपि देखकर शब्दों के विवेचन आदि के सम्बन्ध मे अपने विपुल ज्ञान के आधार पर बहुमूल्य परामर्श देते रहे हैं और बराबर मेरा उत्साह बढाते रहे हैं। अन्त मे सबसे अधिक प्रोत्साहन उन्होंने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखकर दिया है। उनकी कृपाओं के लिए धन्यवाद देने को शब्द मुझे नहीं मिलते।

अन्त मे एक दो शब्द अपने सम्बन्ध मे भी। यह पुस्तक मेरे जीवन के सबसे अधिक संकट-मय काल की रचना है। मानसिक, शारीरिक आदि अनेक प्रकार की चिन्ताएँ अपने प्रबल-तम रूप मे मेरे सामने आई हैं। इस बीच में मुझे एक ऐसा विकट मानसिक आघात सहना पडा है, जिसकी मैने कभी स्वप्न में भी कल्पना नही की थी। यदि मै इस आघात के फल स्वरूप मरने या पागल होने से बचा हूँ, तो इसी 'शब्द-साधना' की कृपा से। यही काम इतने दिनों तक मुझे विकट मानसिक कष्टों और चिन्ताओं की ओर से उदासीन रखने में समर्थ हुआ है। अत यह 'शब्द-साधना' मेरे लिए सजीवनी सिद्ध हुई है।

शरद पूर्णिमा,
सवत् २०१२ वि०

रामचन्द्र वर्म्मा

प्रस्तावना

जिन वस्तुओ से हम जन्म से ही परिचित रहते हैं, उन्हे स्वाभाविक मान लेते हैं, और उनका महत्त्व न समझकर प्रायः उनकी अवहेलना करते हैं। शब्द भी ऐसी ही वस्तु हैं। शब्दों का महत्त्व कितना आवश्यक है और हम सबके लिए वे कितने उपयोगी हैं, इस पर जल्दी हमारा ध्यान ही नहीं जाता।

जैसा कि मैं अभी कह चुका हूँ, बहुत-सी परिचित वस्तुओ की तरह शब्दो को भी हमने स्वाभाविक मान लिया है, और हम साधारणत उस पर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता नही समझते। एक तरह से यह अवश्य कहा जा सकता है कि शब्द स्वाभाविक हैं, क्योंकि बिना किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त किये हर प्रकार के प्राणी कुछ न कुछ शब्द करते ही हैं, और अपनी प्रकृति तथा आवश्यकता के अनुरूप दूसरे प्राणी उन शब्दों का अर्थ भी लगा लेते हैं, जैसा उनके आचरण से सिद्ध होता है। पर मनुष्य जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, वे स्वाभाविक नही कहे जा सकते; क्योंकि हम अपने शब्दों की रचना कृत्रिम रूप से करते हैं; और उनमे विशिष्ट अर्थों तथा भावो का आरोप करते हैं। पीढी-दर-पीढी इन शब्दों का हम लगातार प्रचार करते हैं; और उनके ठीक अर्थ समझने के लिए समाज से आग्रह करते रहते हैं।

अपनी मातृ-भाषा से नैसर्गिक प्रेम रखते हुए भी उसके शुद्ध प्रयोग की तरफ से प्राय लोग उदासीन रहते हैं। यह बात हिन्दी भाषा-भाषियों के ही लिए नहीं, सबके लिए कही जा सकती है। हमारे लिए तो विशेष रूप से यह ठीक है; क्योंकि हमे इसकी शिक्षा देने के लिए पाठशालाओ और विद्यालयों मे कोई विशेष प्रबन्ध नहीं रहता। हम इसे साधारण प्रयोग मात्र से सीखा करते है। ऐसी अवस्था मे जो कोई हमे एतत्सम्बन्धी रहस्य समझने मे सहायता दें, वे हमारी कृतज्ञता और प्रशसा के पात्र हैं।

ऐसे ही सज्जन श्री रामचन्द्र वर्मा जी हैं। हिन्दी की विविध रूप से जो सेवा उन्होंने की है, वह हिन्दी-प्रेमियों से छिपी नहीं है। आज से ४१ वर्ष पूर्व मुझे इनसे प्रथम बार परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला था। जब इँगलैंड से अपना विद्यार्थी-जीवन समाप्त करके मै जुलाई १९१४ मे घर लौटा था और अपने पुराने शिक्षक स्व० श्री श्यामसुन्दर दासजी से मिलने नागरी-प्रचारिणी सभा-भवन मे गया था, उस समय उन्होंने मुझे हिन्दी शब्द-सागर के होते हुए कार्य के भिन्न-भिन्न स्तरों का परिचय कराया था, और उसी प्रसग मे वर्मा जी से मेरी पहली भेट भी हुई थी। वे इस काम मे बहुत तत्परता से लगे हुए थे। मेरा उनका बहुत सम्पर्क तो नहीं था, पर बीच बीच मे सार्वजनिक सभाओ अथवा सामाजिक उत्सवों मे उनसे मिल ही जाता था। उनकी विलक्षण कार्य-कुशलता तथा विस्तृत ज्ञान देखकर मुझे सदा आश्चर्य होता था।

इधर करीब ६ वर्षों से मेरा उनका सम्पर्क पर्याप्त निकट का हो गया है। उन्होंने कृपाकर मेरे पास प्रामाणिक हिन्दी कोप और अच्छी हिन्दी नामक अपनी रचनाएँ असम मे उस समय भेजी थी, जब मै वहाँ राज्यपाल था। यह १९४९ की बात है। मुझे वे ग्रन्थ देखकर बहुत ही आनन्द और सन्तोष हुआ, और मैंने यह अनुभव किया कि हिन्दी की वास्तविक सेवा यदि कोई कर रहा है, तो वर्मा जी कर रहे है। बिना किसी से झगडा मोल लिये, बिना हिन्दी के प्रचार मे उग्रता दिखलाये, वे लोगों के ऐसे सच्चे सहायक के रूप मे मुझे दिखाई पडे, जो प्रेम-पूर्वक शिक्षक की भाँति लोगों को शुद्ध और सरल भाषा का प्रयोग करना सिखलाते हैं; और बतलाते हैं कि किस प्रकार से बिना जाने हुए ही हम लिखने-पढने मे कितनी ही अशुद्धियाँ करते रहते हैं, पर थोडी सावधानी से बोलने-लिखने से हम जिनसे सहज मे बच सकते हैं। उनकी पुस्तकों से मेरी आँख खुल गई है। मै यह तो नही कह सकता कि अब अशुद्धियाँ कम करता हूँ; पर मै यह अवश्य स्वीकार करूँगा कि उनसे मैंने बहुत-सी ऐसी बाते सीखीं, जिनका मुझे पहले पता नहीं था और जिनसे मुझे बहुत सहायता मिली। इसके लिए मै उनका परम अनुगृहीत हूँ।

यह उनकी कृपा है कि उन्होने अपनी इस नई और अत्यन्त उपयोगी पुस्तक

'शब्द-साधना' की प्रस्तावना लिखने का आग्रह मुझसे किया है। अवश्य मै असमजस मे पडा, क्योंकि मुझे किसी भाषा के सम्बन्ध मे यह अधिकार नहीं है कि उस पर कुछ लिखूँ। पर वर्मा जी के प्रति मुझमे जो हार्दिक सम्मान है, वह मुझे ये पंक्तियाँ लिखने के लिए बाध्य कर रहा है। मै ऐसा करते हुए अपने को गौरवान्वित अनुभव कर रहा हूँ; क्योंकि मुझे पूरा विश्वास है कि इस पुस्तक से बहुत-से लोगों का वास्तविक उपकार होगा, और साथ ही हमारी भाषा का उद्धार भी होगा।

हम लोग बहुत-से शब्दों का बिना विचारे हुए ही प्रयोग करते रहते हैं। जैसे जैसे भाषा प्रौढ होती जाती है, वैसे वैसे हमारा शब्द-भण्डार बढता जाता है। यद्यपि देखने मे एक ही अर्थ मे कई शब्द प्रयुक्त होते और हो सकते हैं, पर वास्तव में प्रत्येक शब्द के अर्थ मे कुछ भेद और विशेषता होती है, और इस भेद तथा विशेषता के प्रदर्शन के लिए ही अलग अलग शब्दों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, साधारण तौर से मन्त्री उस पुरुष का वाचक है, जो राजा को मन्त्रणा देता है, अर्थात् शासन का सचालन करता है। पर सचिव, अमात्य आदि शब्दों का भी इसी अर्थ मे प्रयोग होता है, जो भिन्न भिन्न विषयों में मन्त्रणा देनेवालों अथवा भिन्न भिन्न विभागों का संचालन करनेवालों के वाचक हैं।

इसमे मनोविज्ञान का खेल देख पडता है। मनुष्य का मस्तिष्क एक अद्भुत यत्र है। यदि इसका चमत्कार बाह्य सृष्टि मे विज्ञान की कृतियों मे देखा जाता है, तो आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक सृष्टि मे उन सूक्ष्म विचारों मे भी देखा जाता है, जिनके व्यक्त रूप 'शब्द' होते हैं। श्री रामचन्द्र वर्मा जी ने हजारों शब्दों का परम सूक्ष्म विश्लेषण किया है, मनोविज्ञान की दृष्टि से उनकी समीक्षा की है; और साधारण जीवन के सर्व-परिचित उदाहरण देकर उनका ठीक अर्थ समझाया है। उनकी भाषा बहुत सरल है; इस कारण किसी को उसे समझने मे कठिनाई नहीं होगी। ससार का इतना विस्तृत ज्ञान न जाने कैसे अपने पुस्तकालय और कार्यालय मे ही बैठे हुए उन्होंने प्राप्त कर लिया कि जीवन के सभी अगों से उपयुक्त घटनाओं का वर्णन करके अपने विवेच्य शब्दों के अर्थ वे इतनी अच्छी तरह समझा सके।

मुझे कितने ही शब्दों की व्याख्या की पाडु लिपि देखने का अवसर मिल चुका है। मै तो चकित हो गया; क्योंकि बहुत-से साधारण से साधारण शब्दों के वास्तविक अर्थ और उनके पर्यायों के अर्थ में सूक्ष्म भेद समझने का मैने अवसर पाया। एक साधारण शब्द 'गुप्त' ही ले लीजिए। हम लोग जब कोई वस्तु या भाव कहीं अव्यक्त पावेंगे, तो 'गुप्त' शब्द का प्रयोग कर देंगे। परन्तु इस 'शब्द-साधना' मे पाठक देखेंगे कि 'गुप्त' के अर्थ के विभिन्न सूक्ष्म भेदों की विवेचना करने पर हम अन्तर्गत, अन्तर्निष्ठ, अन्तर्भुक्त, निहित, विवक्षित, सुप्त सरीखे शब्दों का प्रयोग आवश्यक मानेगे जो मोटे तौर से 'गुप्त' शब्द से निर्दिष्ट किये जाते हैं, पर जो वास्तव मे विभिन्न भावों के सूचक हैं। हम अनुभव करेंगे कि यदि इन भिन्न भिन्न शब्दों से भिन्न भिन्न अवसरों पर हम अपने भाव ठीक तरह से सूचित करें तो हमको मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उनमे पर्याप्त अन्तर दिखाई देगा, और इस प्रकार हम अपने भावों का सूक्ष्म विश्लेषण करके उन्हे शुद्ध रूप मे व्यक्त कर सकेंगे, और साथ ही अपनी भाषा को पुष्ट तथा व्यंजक भी करते चलेंगे। इस पुस्तक की और भी बहुत-सी विशेषताएँ और उपयोगिताएँ बताई जा सकती हैं। पर मेरी समझ मे प्रस्तावना मे अधिक न कहकर पाठकों को पुस्तक ध्यानपूर्वक पढने के लिए साग्रह निमन्त्रित कर देना ही उचित और पर्याप्त होगा। शब्दों के विश्लेषण का मनन करके पाठक अपनी ही चित्त-वृत्तियाँ, मनोभाव और विचार-धाराएँ समझने मे सहायता तथा प्रोत्साहन प्राप्त करेंगे।

हाँ मुझे एक बात का अवश्य खेद है, और वह मै यहाँ लिख देना अनुचित नहीं समझता। वर्मा जी ने अपनी पुस्तक मे अँगरेजी के बहुत-से पर्याय दिये हैं; पर इन्हे उन्होंने रोमन अक्षरों मे ही छापा है। मेरा तो यही विचार है कि हिन्दी पुस्तक मे जब नागरी लिपि का ही प्रयोग किया गया है, तो यदि विदेशी भाषा के शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता हो तो उन्हें भी नागरी मे ही लिखना चाहिए। इससे यह लाभ होगा कि जो लोग भाषा विशेष की लिपि नहीं जानते, वे भी उन्हे पढ सकेंगे। यदि हमे अपने ही देश की भिन्न भिन्न भाषाओं के कुछ शब्द हिन्दी की पुस्तकों मे लिखने होते हैं, तो उन्हें हम नागरी मे ही लिखते हैं; बँगला, मराठी, तमिल या गुजराती मे नहीं लिखते। अँगरेजी शब्दों के लिए

भी इसी नियम का पालन करना उचित होगा। उसके लिए कोई अपवाद करना ठीक नहीं है। हम कितने ही अँगरेजी शब्द जानते हैं, कितने ही बाहर के शब्द हिन्दी में हमने ले भी लिये हैं, पर यदि वे रोमन अथवा किसी दूसरी लिपि मे लिखे जायँ तो हम उन्हे नही पढ सकेंगे, और इस कारण समझ भी न सकेंगे। इससे पढने की शृंखला मे कष्टदायक बाधा पड़ती है। ये ही शब्द यदि नागरी में लिखे जायँ तो हम सरलता से उन्हें पढ और समझ सकेंगे।

मै श्री रामचन्द्र जी वर्मा को ऐसी सुन्दर पुस्तक तैयार करने और उसमे इतना परिश्रम और समय देने के लिए हिन्दी पाठकों की ओर से हृदय से धन्यवाद देता हूँ। हिन्दी साहित्य को यह भेंट देकर उन्होंने हिन्दी भाषा भाषियों का बहुत बडा उपकार किया है; और मुझसे इसकी प्रस्तावना लिखवाकर मेरा सम्मान किया है। मै आशा करता हूँ कि सभी लोग इसे रोचक और उपयोगी पावेंगे और इससे पूरा लाभ उठावेंगे।

१८ अक्टूबर १९५५
राजभवन, मदरास।

श्री प्रकाश

आवश्यक संशोधन

खेद है कि इस पुस्तक के पहले ही पृष्ठ में 'अज्ञात' वाली माला के अन्तर्गत, छापे के भूतों की कृपा से एक बहुत बडी भूल हो गई है। उसमे अनभिज्ञ के आगे Un-acqainted और अपरिचित के आगे Ignorant छप गया है। होना चाहिए—

अनभिज्ञ (Ignorant)
अपरिचित (Un-acqainted)

अज्ञात (Unknown)

अगोचर (Imperceptible) **अनभिज्ञ** (Un-acqainted)
अज्ञेय (Un-knowable) **अपरिचित** (Ignorant)

अज्ञात का साधारण अर्थ है—जो जाना हुआ न हो, या जिसके सम्बन्ध में कुछ ज्ञान न हो। हमें वस्तुओं, व्यक्तियों आदि का ज्ञान अनेक प्रकार से और अनेक रूपों में होता है। कहीं तो हम उनके नाम या रूप ही जानते हैं, कहीं उनके गुण-दोषों आदि से भी परिचित होते हैं, कहीं प्रत्यक्ष सम्बन्ध के कारण और कहीं केवल सुनी-सुनाई बातों के आधार पर जानते हैं। जिसे हम इनमें से किसी रूप में भी न जानते हों, वही हमारे लिए **अज्ञात** है। **अज्ञात** व्यक्ति भी हो सकता है, वस्तु भी और विषय भी। **अज्ञेय** वह है जिसका अस्तित्व तो हो, पर जिसके सम्बन्ध की ठीक और पूरी बातें, सब प्रकार के प्रयत्न करने पर भी, किसी प्रकार जानी ही न जा सकती हों। **अज्ञात** तो किसी प्रकार ज्ञात हो भी सकता है, पर **अज्ञेय** कभी ज्ञेय नहीं हो सकता—उसके सम्बन्ध में कभी कुछ जाना नहीं जा सकता। ब्रह्म का स्वरूप या विश्व का रहस्य हमारे लिए **अज्ञेय** ही है, क्योंकि इनके सम्बन्ध की ठीक और पूरी बातें हम कभी जान ही नहीं सकते। **अगोचर** वह है जिसका बुद्धि या मन से भले ही कुछ ज्ञान हो सके, पर इन्द्रियों से जो कभी ग्रहण न किया जा सके। बुद्धि या मन से हम ईश्वर की कल्पना तो कर सकते हैं, पर उसे आँखों से देख या हाथों से पकड़ नहीं सकते, और यदि वह बोलता भी हो तो उसकी बात नहीं सुन सकते; अतः वह हमारे लिए **अगोचर** है। चेचक के कीटाणुओं के सम्बन्ध में भी यही

कहा और माना है कि वे अभी तक हमारे लिए **अगोचर** ही हैं। उनका अस्तित्व तो है और हमें उनके अस्तित्व के प्रमाण भी मिलते हैं, फिर भी वे अभी तक किसी प्रकार देखे नही जा सके हैं, और इसी लिए पकड़े भी नहीं जा सके हैं। फलत वे अभी तक हमारे लिए **अगोचर** ही हैं। यदि आत्मा और मन नाम की सचमुच कुछ वस्तुएँ हों तो वे भी अब तक हमारे लिए **अगोचर** ही हैं। **अपरिचित** वह कहलाता है जिससे हमारा परिचय न हो। परिचय का साधारण अर्थ है—जान-पहचान। अर्थात् किसी को जानना और पहचानना ही उससे परिचित होना है। परिचय समय समय पर होते रहनेवाले सम्पर्क या सम्बन्ध से होता है। हम जिस व्यक्ति से एक-दो बार मिलकर कुछ बाते कर चुके हो या जो वस्तु एक-दो बार देख चुके हो, उसके सम्बन्ध मे कुछ जान चुके हो, वही हमारे लिए परिचित और इसके विपरीत **अपरिचित** है। किसी वस्तु, विषय या व्यक्ति के सम्बन्ध मे कुछ भी न जानना ही उससे **अपरिचित** होना है। **अनभिज्ञ** अपेक्षया कुछ विस्तृत अर्थवाला शब्द है, पर इसका प्रयोग सदा केवल व्यक्तियों के सम्बन्ध मे होता है, वस्तुओ या विषयों के साथ इस विशेषण का प्रयोग नही हो सकता। **अनभिज्ञ** का साधारण अर्थ है—जिसे परिचय के रूप मे ज्ञान न हो। हम यह तो कह सकते हैं कि हम अमुक बात या विषय से **अनभिज्ञ** है, पर यह नहीं कह सकते कि अमुक बात या विषय हमसे **अनभिज्ञ** है। अज्ञानी होना तो सभी दशाओं मे निन्दनीय या बुरा माना जाता है; और किसी विषय या व्यक्ति से **अपरिचित** होना भी कुछ अवस्थाओ मे निन्दनीय या बुरा हो सकता है, पर किसी बात या मनुष्य से **अनभिज्ञ** होना त्रुटि भले ही हो, कोई दोष या निन्दा की बात नही है। हम बिना भय या सकोच के कह सकते हैं कि हम अमुक बात या व्यक्ति से **अनभिज्ञ** हैं, और इसका सीधा-सादा अर्थ यही होता है कि हम उसे नही जानते—कोई ऐसा अवसर या प्रसग नहीं आया है, जिसमे हमे उसकी कोई जानकारी हुई हो। कोई अशिक्षित देहाती हमारी रहन-सहन या विद्या-बुद्धि से **अनभिज्ञ** हो सकता है, और हम पशु-पक्षियों की रहन-सहन से **अनभिज्ञ** हो सकते हैं।

अदृश्य (Invisible)

अन-देखा (Unseen) **तमाच्छन्न** (Obscure)
अ-लक्षित (Un-observed) **प्रच्छन्न** (Hidden)
अ-स्पष्ट (Indistinct) **प्रच्छादित** (Concealed)

अदृश्य वह है जो सामने या आस-पास कहीं हो तो सही, पर किसी विशेष कारण-वश या इधर-उधर हो जाने पर आँखों से ओझल हो गया हो और हमे दिखाई न दे रहा हो। जैसे—उचक्का या चोर देखते-देखते भीड मे **अदृश्य** हो गया। अर्थात् वह था तो कही इधर-उधर भीड मे ही, पर हमे दिखाई नही देता था। यह भी हो सकता है कि वह इसी **अदृश्य** रहने की अवस्था मे कही दूर निकल गया हो। यदि चालाकी से कोई हमारी घडी हमारे सामने से इस प्रकार उठा ले जाय कि हमे पता न चले, तो भी हम कहेंगे—घडी देखते-देखते यहाँ से **अदृश्य** हो गई। अथवा हम यह भी कहते हैं—इस प्रसग मे हमे कोई **अदृश्य** शक्ति काम करती हुई दिखाई देती है। हम जानते हैं कि कोई शक्ति काम कर रही है, पर हम उसे देख नहीं सकते, इसी से वह हमारे लिए **अदृश्य** होती है। अर्थात् इसमे होने पर भी आँखो के सामने न आने, न रहने या न होने का भाव मुख्य है। **अ लक्षित** भी है तो बहुत कुछ वही जो **अदृश्य** है, फिर भी यह उससे कुछ भिन्न है। इसमे हमारे लक्ष या ध्यान के न होने का भाव मुख्य है। कही कोई काम हो तो रहा है, पर वह हमारे लक्ष या ध्यान में नही आ रहा है। यदि हमारे सामने से घडी उठानेवाला वहीं कही पकडा जाय और उसके पास से घडी निकल आवे, तो हम कहेंगे—इसने अ-लक्षित रूप से घडी उठा ली थी। अर्थात् उसका उठाना हमारे लक्ष या ध्यान मे नहीं आया था। **अदृश्य** का प्रयोग मुख्यत वस्तुओं आदि के सम्बन्ध मे और अ-लक्षित का प्रयोग क्रियाओं, व्यापारों आदि के सम्बन्ध मे होता है। जो सामने हो तो सही, पर ठीक तरह से और पूरा-पूरा दिखाई न दे या अच्छी तरह समझ में न आवे, वह **अ स्पष्ट** है। हमारी लिखावट घसीट होने के कारण आपके लिए

अ-स्पष्ट हो सकती है, और आपका कथन आपकी वाक्य-रचना के पेचीलेपन के कारण या आपका उत्तर चालाकी से भरा होने के कारण हमारे लिए **अ-स्पष्ट** हो सकता है। अथवा सन्ध्या के समय अँधेरा बढ़ जाने के कारण दूर की कोई आकृति भी हमारे लिए **अ-स्पष्ट** हो सकती है। उस दशा मे हम कहेगे—आकृति-सी तो दिखाई देती है, पर वह है **अ-स्पष्ट**। अर्थात् हम स्पष्ट रूप से यह नहीं देख पाते कि वह पशु है, मनुष्य है या वृक्ष है। जिसका रूप सामने होने पर भी स्पष्ट या साफ न हो, वही **अ-स्पष्ट** है। **तमाच्छन्न** वह कहलाता है जिसके स्वरूप तक आँखो या मन की पहुँच न होती हो। हो सकता है कि उसके चारो ओर यथेष्ट प्रकाश न हो अथवा उसमे गहराई या पेचीलापन अधिक हो, अथवा उसकी बनावट कुछ धुँधली-सी जान पडती हो। जिसके चारो ओर किसी प्रकार का ऐसा आवरण हो, जो हमारी दृष्टि या बुद्धि के मार्ग मे बहुत कुछ बाधक हो, वही हमारे लिए **तमाच्छन्न** है। **तमाच्छन्न** कोई मूर्त पदार्थ भी हो सकता है और कोई अमूर्त पदार्थ, अर्थ, आशय या भाव भी। उसका कुछ अश या तो दिखाई देता है या उसके होने का कोई निश्चित प्रमाण मिलता है। हम जानते है कि वह कुछ है, पर अपनी बाहरी परिस्थितियो के कारण वह हमे पूरी तरह से दिखाई नही देता या हमारी समझ मे नही आता। इसके विपरीत **प्रच्छन्न** वह है जिसके ऊपर या चारो ओर कोई परदा पड़ा हो, और जब तक वह परदा न हटे, तब तक हम नही कह सकते कि वह क्या है। किसी की आड मे छिपी हुई कोई चीज ही **प्रच्छन्न** कहलाती है। इसमे किसी ऊपरी परदे या आड का भाव मुख्य है। प्राचीन भारत मे कुछ सम्प्रदाय इसी लिए **प्रच्छन्न** बौद्ध कहलाते थे कि वे वस्तुत या सिद्धान्तत बौद्ध होने पर भी ऊपर से किसी और धर्म की आड या आवरण रखते थे। **प्रच्छादित** वह है जिसे किसी दूसरे ने यो ही अथवा जान-बूझकर प्रच्छन्न कर रखा हो। सीधे शब्दों मे, जो किसी तरह की आड मे छिपा हो, वह **प्रच्छन्न** है; और जो आड मे किया या छिपाया गया हो, वह **प्रच्छादित** है। पहला स्वय छिपा हुआ होता है, दूसरा किसी के द्वारा छिपाया हुआ।

अद्भुत (Wonderful)

अद्वितीय (Unique) निराला
अनुपम (Incomparable) लोकोत्तर (Supernatural)
अनूठा (Singular) विचित्र (Peculiar)
अनोखा=विचित्र विलक्षण (Strange)
आश्चर्यजनक (Surprising) विस्मयजनक (Astonishing)
कुतूहलजनक (Curious) विस्मयाकुलक (Astounding)
चमत्कारिक (Marvellous)

अद्भुत वह है जिसे देखकर मन प्रसन्न होने पर भी कुछ समय के लिए स्तब्ध-सा हो जाय, और यह समझ मे न आवे कि यह कैसे अस्तित्व मे आया या प्रस्तुत हुआ है। इसमे विचित्रता, विलक्षणता, अपूर्वता आदि अनेक ऐसी बातें होती हैं जिनके सम्बन्ध मे मन मे कुछ कुतूहल भी होता है और आश्चर्य भी। जिसे देखकर हमे प्रसन्नता भी हो और परम आश्चर्य भी, फिर भी जिसकी तह या रहस्य तक हम न पहुँच सके, वही अद्भुत है। इसका मूल बहुधा अज्ञान या अल्प ज्ञान होता है। जिसका ज्ञान जितना ही अधिक होता है, उसके लिए उतनी ही कम चीजे अद्भुत होती हैं। किसी जगली या देहाती के लिए दूर-भाष (टेलीफोन), रेडियो या रेल का इजन जितना अद्भुत हो सकता है, उतना किसी नगर-निवासी या शिक्षित के लिए नही होता। पर विश्व, जीवनी-शक्ति या परमाणु बम के सम्बन्ध की बहुत-सी बाते बहुत-से लोगों की दृष्टि मे इसी लिए अद्भुत होती हैं कि वे उनका रहस्य कुछ भी नहीं जानते या बहुत कम जानते हैं। कभी-कभी प्राकृतिक सयोग से भी हमे कुछ अद्भुत दृश्य दिखाई देते हैं; जैसे जल-स्तम्भ आदि। विस्मय-जनक भी है तो कुछ-कुछ वही जो अद्भुत है, पर एक तो इसका आशय अपेक्षया कुछ हलका है, और दूसरे इसमे विस्मय उत्पन्न करने का भाव मुख्य है। अद्भुत सदा कोई कृति या व्यापार होता

है; और हमारे मन पर उसका जो परिणाम या प्रभाव होता है, वह विस्मयजनक होता है। मन पर होनेवाली इसी प्रतिक्रिया के आधार पर कोई वस्तु विस्मयजनक कही जाती है। जो सचमुच अद्भुत होगा, वह सदा अद्भुत ही रहेगा (जैसे—आगरे का ताज महल), पर विस्मय-जनक के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उसकी विस्मित करनेवाली शक्ति या गुण अस्थायी या क्षणिक भी हो सकता और प्राय होता ही है। विस्मयाकुलक वह है जो हममें आकुल कर देनेवाला विस्मय उत्पन्न करे। जो विस्मयजनक वस्तु या बात देखकर हम कुछ घबरा-से जायँ या जो कुछ तीव्र रूप से विस्मयजनक हो, उसी को हम विस्मयाकुलक कहेंगे। यदि जगल मे शेर हमारे बहुत पास से चुपचाप निकल जाय तो यह विस्मयजनक होगा। पर यदि वह रास्ते मे बकरी के बच्चे से खेलने लग जाय तो यह विस्मयाकुलक होगा। विस्मयजनक से आश्चर्यजनक कुछ हलका है। इसमें किसी बात के सहसा या अप्रत्याशित रूप से घटित होने का भाव मुख्य है; पर साथ ही उस घटना मे कुछ विलक्षणता भी होनी चाहिए। यदि किसी दूर देश के निवासी हमारे कोई मित्र या सम्बन्धी हमे पहले से सूचना दिये बिना अचानक हमारे घर पहुँच जायँ तो उनका आना हमारे लिए आश्चर्यजनक होगा। यदि कोई विद्वान् किसी प्रसग मे साधारण सी बात का अर्थ या आशय न समझ सके अथवा कोई गम्भीर स्वभाववाला व्यक्ति छोटे बच्चों के साथ मिलकर खेलने और उन्हीं का-सा आचरण या व्यवहार करने लगे, तो उसका ऐसा करना भी आश्चर्यजनक होगा। कुतूहलजनक वह है जो अपनी विचित्रता के कारण अपने प्रकार, रूप आदि के सम्बन्ध में हमारे मन मे कुछ उत्सुकतापूर्ण जिज्ञासा उत्पन्न करे। यदि हमे किसी लडके के हाथ मे बिलकुल नई तरह के हवाई जहाज का ऐसा खिलौना दिखाई पड़े जो आपसे आप एक चौकी पर से उड़कर दूसरी चौकी पर चला जाता हो, तो वह हमारे मन मे यह जिज्ञासा उत्पन्न कर सकता है कि यह कैसे उडता है, और इसी लिए वह खिलौना हमारे लिए कुतूहलजनक होगा। अनूठा वह है जो अपने वर्ग या जाति के और सब पदार्थों, व्यक्तियों आदि की तुलना मे कोई ऐसी विशेषता रखता हो जो हमें चकित करने के साथ हो प्रसन्न भी कर सके। इसमे आकर्षक विचित्रता का

भाव मुख्य है। **अनूठा** सदा उत्कृष्ट भी होता है। जैसे अनूठा रूप या अनूठी उक्ति अपने वर्ग मे सबसे अलग भी होती है, बढकर भी और सुखद भी। **अनोखा** या **विचित्र** वह है जो सहसा सब जगह न देखने मे आता हो। जो चीज या बात हमे साधारणत प्राय एक रूप में दिखाई देती है, वही जब किसी नये और अलग रूप मे देखने मे आती है, तब वह हमारे लिए **अनोखी** या **विचित्र** होती है। **अनूठे** और **अनोखे** या **विचित्र** मे सबसे बडा अन्तर यह है कि **अनूठा** सदा अभीष्ट और प्रिय रूपवाला होता है, पर **अनोखे** या **विचित्र** के लिए ऐसा होना आवश्यक नहीं है। हाँ उसमे औरो की अपेक्षा कुछ विशेषता अवश्य होनी चाहिए। **अनूठा** कपडा या गहना तो सदा उत्कृष्ट होगा; पर **अनोखे** या **विचित्र** कपडे या गहने के लिए यह आवश्यक नही है कि वह उत्कृष्ट भी हो ही। हाँ उसके लिए नियमित या साधारण से कुछ अलग प्रकार का होना आवश्यक है। जो सदा एक-सा आचरण न करे, उसे हम **विचित्र** स्वभाववाला मनुष्य कहते हैं। यदि हमारा मित्र कभी तो हमारे प्रति कठोर हो जाय और कभी कोमल, तो हमे उसका व्यवहार भी विचित्र जान पड़ेगा। **विलक्षण** भी है तो बहुत कुछ वही जो **अनोखा** या **विचित्र** है, फिर भी विलक्षण और **विचित्र** मे कुछ अन्तर अवश्य है। शब्दार्थ के विचार से **विचित्र** वह है जो अपने कई रगों आदि के कारण हमारा ध्यान आकृष्ट करता हो, और **विलक्षण** वह है जो अपने किसी विशिष्ट लक्षण के कारण औरो से पहले हमारे लक्ष या ध्यान मे आवे, पर प्रयोग के विचार से **विलक्षण** वह है जो अपने स्वरूप के कारण कुछ ऐसी अ-सामान्य स्थिति मे हो कि हमे कुछ चकित भी कर सके। **विचित्र** भी चकित तो करता ही है, पर उतना नही, जितना **विलक्षण** करता है। वह **अद्भुत** भी हो सकता है और **निराला** भी। **विचित्र** की अपेक्षा **विलक्षण** के प्रति हमारा कुतूहल कुछ अधिक जाग्रत होता है, और इसी लिए विचित्र की अपेक्षा विलक्षण कुछ उत्कट और ऊँचा है। **अद्वितीय** वह है जिसके जोड़ या बराबरी का और कोई न हो। इसका अर्थ ही है—जिसका या जिसके बाद दूसरा कोई न हो। अर्थात् जो अपने वर्ग मे या अपने ढग का एक ही हो, वह **अद्वितीय** कहलाता है। **अनुपम** भी बहुत कुछ वही है, जो **अद्वितीय** है, पर

इसका अर्थ है—जिसकी किसी से उपमा न दी जा सकती हो। **अद्वितीय** मे भाव यह है कि इसके बाद अभी तक इस तरह का कोई नहीं हुआ; पर **अनुपम** में भाव यह है कि इससे पहले या इसके बाद कोई ऐसा नही हुआ, जिससे इसकी उपमा दी जा सके या बराबरी की जा सके। **निराला** वह है जो अपनी बनावट, रूप, विशेषता आदि के कारण अपने वर्ग मे सबसे अलग प्रकार का होने के अतिरिक्त अपना कुछ विशिष्ट आकर्षण और सौन्दर्य भी रखता हो। यह सदा कुछ अनूठे कौशल से युक्त होता है। जो अद्भुत, विचित्र या विलक्षण चीज या बात देखकर हम चौक पड़े, अर्थात् जिससे हमारा कुतूहल और विस्मय इतना बढ़ जाय कि हम कुछ समझ ही न सके, वही हमारे लिए **चमत्कारिक** है। महापुरुषों की बहुत सी बाते अथवा पर्वतों और वनो मे पर्यटन करनेवाले लोगों के बहुत-से विवरण हमारे लिए **चमत्कारिक** होते हैं। **लोकोत्तर** वह है जो साधारणत इस लोक मे न होता हो अथवा ससार मे जल्दी कही दिखाई न देता हो। अर्थात् जो न तो देखने मे आता हो और न किसी तरह समझ मे ही आता हो, जो मनुष्य की बुद्धि से बिलकुल परे का हो, वही **लोकोत्तर** है।

अधिकार (Right)

अभ्यर्थन (Claim) **मताधिकार** (Franchise)
जन्म-सिद्ध अधिकार (Birthright) **विशेषाधिकार** (Privilege)
जात अधिकार=जन्मसिद्ध अधिकार **समनुज्ञा** (License)
परमाधिकार (Prerogative)

संस्कृत और हिन्दी मे **अधिकार** के बहुत-से अर्थ हैं, पर प्रस्तुत प्रसग मे उस योग्यता, शक्ति या सामर्थ्य का सूचक है जो नियम, नीति, न्याय, विधि,

सामर्थ्य आदि पर आश्रित होता है और जिसके आधार पर वह कोई काम कर सकता या करता है। यह स्वाभाविक भी हो सकता है और कृत्रिम या मनुष्य कृत भी। पुत्र को अपने पिता की सम्पत्ति पाने का स्वाभाविक **अधिकार** होता है, और राज्यपाल को संसद् भंग करने अथवा जनता को अपने प्रतिनिधि चुनने का कृत्रिम या मनुष्य-कृत **अधिकार** होता है। यह उस स्वामित्व का भी सूचक है जिसके अनुसार कोई व्यक्ति किसी वस्तु का मन-माना उपयोग कर सकता है। जैसे—इस मकान पर चारो भाइयो का समान **अधिकार** है। कुछ **अधिकार** अपनी योग्यता या शक्ति के द्वारा भी प्राप्त किये जाते हैं, और कुछ धन देकर खरीदे भी जाते हैं। मनुष्य के स्वाभाविक **अधिकार** ही **जन्म-सिद्ध** या जात-**अधिकार** कहलाते हैं। जैसे जीवन-निर्वाह, आत्म-रक्षा या अपने बाल-बच्चो की देख-रेख का **अधिकार जन्म-सिद्ध** है। कुछ **जन्म-सिद्ध अधिकार** ऐसे भी होते हैं जो कुछ स्थितियो मे हाथ से निकल जाते हैं और जिन्हें फिर से प्राप्त करने के लिए शक्ति अपेक्षित होती है। स्वतत्रता सबका **जन्म-सिद्ध अधिकार** है, पर दूसरो के दास बने हुए लोगो को यह अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना अथवा बल लगाना पड़ता है। **परमाधिकार** (परम + अधिकार) वह है जो किसी व्यक्ति को उसकी अवस्थिति या सत्ता के फल-स्वरूप प्राप्त होता है। यह अधिकार ऐसा होता है जो विशिष्ट रूप से उसी को अपने लिंग, पद, विशिष्ट गुण आदि के कारण प्राप्त होता है। जैसे—राजा या राज्यपाल को अपने राज्य मे शासन और व्यवस्था सम्बन्धी बहुत-से काम कर सकने का और मनुष्यों को सोच-समझकर काम करने का **परमाधिकार** है। ईश्वर दत्त **परमाधिकार** (जैसे स्त्रियो को सन्तान प्रसव करने का) तो किसी तरह छीना नहीं जा सकता, पर राजा अपने सरदारो या सामतो का कोई **परमाधिकार** इसलिए छीन भी सकता है कि उसे ऐसा करने का **परमाधिकार** होता है। राजा भी अपनी प्रजा या न्यायालय से अपने छिने हुए **परमाधिकार** माँगने और पाने का अधिकारी हो सकता या अभ्यर्थन कर सकता है।

विशेषाधिकार (विशेष + अधिकार) वह विशिष्ट प्रकार का अधिकार है जो किसी को अनुग्रहपूर्वक या रिआयत के रूप मे दिया जाता है। ऐसा अधिकार प्राय

कृत्रिम होता और कुछ ही लोगों को (और वह भी विशिष्ट परिस्थितियो मे ही) मिलता है। ऐसा अधिकार कुछ काम कर सकने के सम्बन्ध मे भी हो सकता है और कुछ कामो से बचने या बच सकने के लिए भी। कुछ लोगो को यह **विशेषाधिकार** मिल सकता है कि वे जब चाहें, तब ससद् की बैठको मे उपस्थित हों, और जब चाहें, तब न हो। जिन जगलो मे शिकार खेलना मना होता है, उनमे कुछ लोगों को शिकार खेलने का **विशेषाधिकार** मिल सकता है। **मताधिकार** (मत + अधिकार) वह है जो लोक-तत्री व्यवस्थाओ मे लोगो को किसी चुनाव मे अपने प्रतिनिधि चुनने अथवा किसी विचारणीय विषय मे अपना मत प्रकट करने के लिए प्राप्त होता है। ऐसे अधिकार के साथ प्राय कुछ नियम या बन्धन भी लगे होते हैं। इसका प्रयोग सरकारी और सार्वजनिक सस्थाओ के क्षेत्रो मे होता है। **अभ्यर्थन** नया शब्द है जो स० अर्थन (या अर्थन=कुछ माँगना या पाने के लिए प्रार्थना करना) मे अभि उपसर्ग लगाकर बनाया गया है। यह अपने अधिकार की वह माँग है जो उस अधिकार से रहित या वञ्चित होने की दशा मे ऐसे व्यक्ति के सामने उपस्थित की जाय जो या तो वह माँगा हुआ अधिकार स्वयं दे सकता हो या दूसरो से दिला सकता हो। यह झूठा भी हो सकता है और सच्चा भी, स्वीकृत भी हो सकता है और अ-स्वीकृत भी। इसमे केवल अपनी माँग किसी के सामने रखने अथवा अधिकार जतलाने भर का भाव मुख्य है। हम कहते हैं—वह अपने रुपयो के झूठे **अभ्यर्थन** का विचार पचायत मे कराना चहता था। अथवा—उस समय सम्पत्ति पर कई आदमी अपना **अभ्यर्थन** जतलाते थे, इसलिए सरकार ने वह सम्पत्ति अपने अधिकार मे कर ली है। अब जिसका **अभ्यर्थन** सच्चा निकलेगा, उसे वह सम्पत्ति मिलेगी। **समनुज्ञा** स० अनुज्ञा मे स उपसर्ग लगने से बना है। यह किसी ऐसे काम या बात के लिए, जो साधारणत औरो के लिए वर्जित हो, विशेष रूप से और कुछ शर्तों के साथ मिलनेवाला अधिकार है। जहाँ सब लोगो के लिए पिस्तौल या बन्दूक रखने की अथवा मादक और विषाक्त पदार्थ बेचने की मनाही होती है, वहाँ कुछ विशिष्ट लोगों को ये काम, करने की **समनुज्ञा** दी जाती है। युद्ध-क्षेत्र मे सैनिक अधिकारियो को आवश्यकतानुसार बहुत-से काम, बिना बडे अधिकारियों से पूछे, कर डालने की

समनुज्ञा होती है। कभी-कभी इसका प्रयोग अधिकार या स्वतन्त्रता के दुरुपयोग के सम्बन्ध मे भी होता है। जैसे—तुमने तो मानों झूठ बोलने (अथवा छल-कपट से लूटने) की **समनुज्ञा** प्राप्त कर रखी है। आशय यही होता है कि तुम समझते हो कि तुम्हे ऐसे अनुचित काम करने का पूरा अधिकार मिला हुआ है।

अध्याय (Chapter)

अनुच्छेद (Paragraph) **धारा** (Section **विधिक**)

अभिपद (**Article**) **परिच्छेद=अध्याय**

उप-धारा (Sub-section) **प्रकरण=अध्याय**

अध्याय, **परिच्छेद** और **प्रकरण** प्राय समानक ही हैं, और किसी विचार-प्रधान ग्रन्थ या पुस्तक के अन्तर्गत ऐसे विभागों के सूचक हैं जिनमे किसी एक ही विषय का प्रतिपादन होता है। यद्यपि इन शब्दो के प्रयोगो के सम्बन्ध मे कोई निश्चित विभाजक रेखा नही है, तो भी लोक-व्यवहार की दृष्टि से **अध्याय** का प्रयोग मुख्यत धार्मिक ग्रन्थों, **प्रकरण** का प्राय ऐतिहासिक और दार्शनिक क्षेत्र के ग्रन्थो और **परिच्छेद** का साधारण कथा-कहानियो, विवेचनों, समीक्षाओ आदि के ग्रन्थो मे होता अथवा देखने मे आता है। जैसे—गीता का तीसरा अध्याय, कामायनी का पाँचवाँ प्रकरण, झाँसी की रानी का दसवाँ परिच्छेद आदि। **अनुच्छेद** किसी ग्रन्थ (के अध्याय, परिच्छेद या प्रकरण) लेख्य या लेख का वह छोटा विभाग है जिसमे किसी विषय के या तो एक अग या पक्ष का अथवा उसके किसी अश का स्वतत्र (अन्य प्रसगो से अलग) विवेचन होता है। यह बहुत-से छोटे-बडे वाक्यो का एक पृथक् वर्ग या समूह होता है, और इसका प्रचलन इधर हाल मे केवल लिखाई और छपाई के सुभीते के विचार से हुआ है। इसकी मुख्य पहचान यह है कि इसका आरम्भ सदा नई पक्ति से होता है, और ऐसी

नई पंक्ति के आरम्भ में भी थोडी-सी जगह सदा खाली छूटी रहती है। इसके सिवा जिस पंक्ति मे **अनुच्छेद** का अन्त होता है, उसके सामने या सीध का सारा स्थान खाली छोड दिया जाता है—उसमे कुछ लिखा या छापा नहीं जाता। यह किसी प्रसग के सम्बन्ध मे कही हुई बातो या वाक्यो की स्वतन्त्र इकाई मात्र है, जो विषय-विवेचन के युक्ति-सगत विभाग की सूचक होती है। **अभिपद** शब्द पद मे अभि उपसर्ग लगाकर बनाया हुआ नया शब्द है। यह ऐसे निर्णय, मत, विचार, सिद्धान्त आदि का सूचक है जो किसी समष्टि का एक पूरा और स्वतन्त्र अग हो। यह एक अनुच्छेद का भी हो सकता है और कई अनुच्छेदो का भी। इसका प्रयोग प्राय अभिसमय के निश्चयो, विविध लेख्यो, राजकीय घोषणाओ आदि मे अथवा उनके सम्बन्ध मे होता है। जैसे—इस अनुबन्ध (या सविदा) का तीसरा अभिपद पारिश्रमिक के भुगतान से और पाँचवाँ अभिपद क्षति-पूर्त्ति से सम्बन्ध रखता है। अथवा—लन्दन मे डाक, तार आदि के सम्बन्ध में जो सार्वराष्ट्रिय अभिसमय बना था, उसमे सब मिलाकर बीस अभिपद थे। **धारा** भी बहुत कुछ **अभिपद** की ही तरह का विभाग है, पर इसका प्रयोग मुख्यत विधिक क्षेत्रो मे या नियमावलियो, विधानो आदि के क्षेत्र मे होता है। जैसे—अमुक व्यक्ति पर १०७ वी धारा के अनुसार मुकदमा चलाया गया है, अथवा नियमावली की १२ वीं धारा के अनुसार वे सदस्यता के अधिकारो से वचित कर दिये गये हैं। प्रत्येक **धारा** मे कोई एक पूरा विचार या सिद्धान्त होता है। पर यदि किसी धारा मे उससे सम्बन्ध रखनेवाली कुछ और गौण बातें या उनके स्पष्टीकरण के लिए कुछ अग-उपाग भी हो तो उनका विवेचन प्राय अलग-अलग अनुच्छेदो के रूप मे होता है। **धारा** के ऐसे ही छोटे विभाग **उप-धारा** कहलाते हैं।

अन-बन

खट-पट **बिगाड़**

अन-बन मे अन हिन्दी का अभाव-सूचक उपसर्ग है, और 'बन' पद हिं० बनना का भाववाचक सक्षिप्त रूप है। इसका अर्थ है—वह अवस्था जिसमे दो व्यक्तियो या पक्षो मे आपस मे न बनती हो, अर्थात् दोनों ठीक तरह से साथ मिलकर न रह सकते हो, या दोनो मिलकर कोई काम न कर सकते हो। यह विशुद्ध अभाव-वाचक या नहिक शब्द है और ऐसी विशिष्ट स्थिति मात्र का सूचक है जिसमे कोई विरोधी क्रिया नहीं होती। **अन बन** होने पर भी दोनों पक्ष शान्त भाव से अलग रहकर अपने काम चला सकते है। उनका एक-दूसरे के मार्ग मे बाधक होना या वैर-विरोध ठानना आवश्यक नही है। परिवारो, मित्रो आदि मे जब अन-बन होती है, तब वे एक दूसरे से अलग भर हो जाते है। **खट-पट** शब्द उस अवस्था का सूचक है, जिसमे दो पक्षो मे बहुत ही साधारण कहा-सुनी या झगडा चलता है। यह झगडे या विरोध का बहुत ही हल्का रूप है और इसी लिए इससे विशेष अनिष्ट की आशका भी नहीं होती। अपने इसी मन्द रूप मे यह कुछ दिनो तक चल सकती है, पर अधिक उग्र रूप धारण करने पर अपना कुछ दुष्परिणाम भी दिखा सकती है, अथवा वैर-विरोध आदि का रूप भी धारण कर सकती है। **बिगाड** शब्द हिं० बिगडना का भाव-वाचक रूप है और स० विकार का अपभ्रष्ट रूप भी हो सकता है। पर अधिक सम्भावना इसी बात की जान पडती है कि यह हिन्दी व्याकरण के नियमो के अनुसार हिन्दी 'बिगडना' से ही बना हो, सीधे स० विकार से न बना हो। किसी चीज या बात के बिगड जाने की अवस्था या भाव ही **बिगाड़** है। इस प्रसग मे यह उस स्थिति का सूचक है जिसमे दो व्यक्तियो या पक्षो की **अन बन** या **खट-पट** ने अप्रिय और उग्र रूप धारण करके दोनों को एक-दूसरे से बिल्कुल अलग कर दिया हो। परन्तु **अन-बन** की तरह **बिगाड़** होने पर भी यह आवश्यक नही है कि दोनो पक्ष एक दूसरे के विरोधी या शत्रु हो ही जायँ। फिर भी है यह **अन-बन** और **खट पट** की

तुलना मे कुछ अधिक दूषित भाव का सूचक, और इसी लिए यह सहज मे अनिष्ट-कारी भी हो सकता है।

अपमान (१. Disgrace २. Insult)

अवगणन (Ignoring) **अवहेला** (Disregard)
अवज्ञा (Contempt) **उपेक्षा** (Neglect)
अवधीरण (Slight) **तिरस्कार** (1 Disdain, 2 Dishonour)
अवमान (Disrespect)

इस वर्ग के सभी शब्द ऐसे अनुचित अथवा अशिष्ट आपसी व्यवहारो के सूचक हैं जो दूसरो की प्रतिष्ठा या मान घटानेवाले या उन्हें ठेस पहुँचानेवाले हो। **अपमान** शब्द मान के विरोधी भाव का सूचक है। इसका अर्थ है—मान या प्रतिष्ठा घटना या नष्ट होना। यही बे-इज्जती है। बड़े लोग अपने अधीनस्थ छोटे लोगो का **अपमान** कर सकते हैं, बराबरवाले आपस मे एक दूसरे का **अपमान** कर सकते हैं, और छोटे भी उद्दण्डतापूर्वक बडो का **अपमान** कर सकते हैं*। राजा अपने दरबारी या सरदार का **अपमान** करके (उसे गालियाँ, झिडकियाँ आदि देकर या उसके पद या मर्यादा के सूचक चिह्न और अधिकार छीनकर) उसे अपने दरबार या देश से निकलवा दिया करते थे, और बडे आदमी

*** छोटे लोग जो बडों का अपमान करते है, वह अँगरेजी मे 'इन्सल्ट' कहलाता है, और बड़ो के द्वारा छोटो का होनेवाला अपमान 'डिस्डेन' कहलाता है; बराबरवालो का अपमान 'इन्सल्ट' भी हो सकता है और 'डिस्ग्रेस' भी। हिन्दी मे इन दोनो प्रकार के अपमानों को हम 'तिरस्कार' भी कह सकते हैं और 'अपमान' भी।**

अब भी अपने नौकर का अपमान करके उसे घर से निकाल देते हैं। बडो के सामने कोई अनुचित या उद्दण्डतापूर्ण आचरण करना अथवा अनुपयुक्त बात कहना भी उनका **अपमान** करना है। हम कहते हैं—जिसे जनम भर हमने पाला-पोसा हो, उसकी उद्दंडता के सामने सिर झुकाने मे हम अपना **अपमान** समझते हैं। अथवा दूसरो के आगे हाथ फैलाना, दूसरों की कृतियो की चोरी या नकल करना आदि **अपमान जनक** बाते हैं। ऐसे अवसरो पर **अपमान** करनेवाला कोई दूसरा व्यक्ति नहीं होता, बल्कि हमारा ही कोई काम ऐसा हो सकता है जो हमारी प्रतिष्ठा या मान घटानेवाला हो, और ऐसे काम या बात को हम अपना **अपमान** समझते हैं। प्रतिष्ठा या मान का कम होना या न रह जाना ही **अपमान** है। **अवमान** भी है तो **अपमान** के ही वर्ग का शब्द, पर उससे बहुत हलका है। **अपमान** मे तो मान नष्ट होने या बिगड़ने का भाव है, पर **अवमान** मे केवल उचित आदर या मान न करने या न होने का भाव है। जिसका जैसा आदर या मान करना चाहिए, यदि हम उसका वैसा (या कुछ भी) आदर या मान न करें, तो यह उसका **अवमान** होगा। यदि हमारे यहाँ दो मित्र आवे और हम उनमे से एक का तो यथेष्ट आदर-मान करे, पर दूसरे का बहुत कम या कुछ भी आदर-मान न करे, तो यह भी उस दूसरे मित्र का **अवमान** ही होगा। हाँ दूसरे मित्र हमारे किये हुए इस **अवमान** को अपना **अपमान** समझ सकते हैं—भले ही हमारे मन मे उनका **अपमान** करने का कोई भाव न हो। **अवगणन** का अर्थ है—गिनती मे न लाना, अर्थात् तुच्छ या नगण्य समझना। हमारे सामने कोई ऐसी चीज आती या बात होती है, जिसका कुछ महत्त्व तो होता है, पर कुछ कारणो से हम जान-बूझकर उसे महत्त्व नही देते—उसे गिनती मे नही लाते। यही हम उस चीज या बात को **अवगणित** करते हैं। **अवगणन** उसी चीज या बात का होता है, जिसे हम महत्त्व नही देना चाहते। यदि हमारा विरोधी इधर-उधर हमारी छोटी-मोटी निन्दाएँ करता फिरे या समाज मे बैठकर हमारे सामने हमारा कुछ उपहास करे और हम उसे तुच्छ समझकर उसकी ओर ध्यान न दे, तो हम उस निन्दा या उपहास का भी और उस व्यक्ति का भी **अवगणन** करते हैं। इसमे किसी बात को ध्यान न देने योग्य

समझकर यों ही छोड़ देने या देख-सुनकर भी अन-देखी या अन-सुनी करने का भाव मुख्य है। पर **अवज्ञा** में इसकी अपेक्षा कुछ तीव्रता और कटुता का भाव भी है। जब हम किसी बात को अनुचित, अपमान-जनक अथवा हीन समझते हैं और उसके प्रति अपना असन्तोष या विरोध दिखलाने के उद्देश्य से ही उसकी ओर ध्यान नहीं देते, उसे अ-ग्राह्य समझते हैं, तब हम उस बात की **अवज्ञा** करते हैं। यह आचरण, व्यवहार, आज्ञा, आदेश, व्यक्ति, सत्ता आदि सबकी हो सकती है। **अवहेला** किसी बात या व्यक्ति की ओर जान-बूझकर ध्यान न देना है। जहाँ या जिधर हमें ध्यान देना चाहिए, वहाँ या उधर यदि हम ध्यान न दें, तो इसे **अवहेला** कहेंगे। इसमें उस बात या व्यक्ति को तुच्छ समझने का कुछ भी भाव नहीं होता, जिसकी **अवहेला** होती है। और इस दृष्टि से यह अपने वर्ग का सबसे हलका, निर्दोष और निरीह शब्द है। **उपेक्षा** का पहला और सीधा-सादा अर्थ तो देखना या दृष्टि-पात करना ही है, पर दूसरा अर्थ बहुत कुछ **अवहेला** की तरह का, पर उससे कुछ आगे बढ़ा हुआ है। जो **अवहेला** जान-बूझकर, किसी को तुच्छ समझकर या नीचा दिखलाने के भाव से की जाती है, वही **उपेक्षा** है। लड़के अपनी पढ़ाई-लिखाई और शिक्षक की उपेक्षा कर सकते हैं, और हम अपने किसी मित्र की चेतावनी या परामर्श की उपेक्षा कर सकते हैं। आशय यही होता है कि हम जान-बूझकर उसे तुच्छ समझते हैं और उसकी ओर ध्यान नहीं देते। **तिरस्कार** का व्युत्पत्तिक अर्थ है—अलग करना या दूर हटाना। पर प्रस्तुत प्रसंग में किसी विशिष्ट कारण से दूसरों का जो अपमान किया जाता है, अथवा उनके उचित आदर-सम्मान की उपेक्षा की जाती है, उसे **तिरस्कार** कहते हैं। हमारे सामने कोई ऐसी चीज या आदमी आता है, जो साधारणतः आदर या मान का अधिकारी अथवा पात्र तो होता है, पर हम किसी कारण-वश उस चीज या आदमी की ओर ध्यान नहीं देते अथवा उसे ग्राह्य नहीं समझते। यही उस चीज या आदमी का **तिरस्कार** है। यदि बैंक में हमारे खाते में यथेष्ट धन न हो और इसी लिए बैंक हमारा चेक लौटा दे तो यह भी हमारे चेक का **तिरस्कार** ही कहा जायगा।

———

अभिमान (Pride)

अहं (Ego)	**घमंड** (Vanity)
अहंकार (Egoism)	**दम्भ** (Arrogance)
अहंभाव=अहंकार	**दर्प** (Hauteur)
अहंमन्यता, हमी, हमेव (Egotism)	**मद** (Inebriety)
	मान
अवलेप (Presumption)	**मिथ्याभिमान** (Conceit)
अस्मिता=अहंकार	**अहमिका=अहंकार**
आत्म-श्लाघा (Self praise)	**स्वाभिमान** (Self-respect)
गर्व	

प्रत्येक मनुष्य को इस बात का सहज और स्वाभाविक ज्ञान होता है कि मैं हूँ—मेरी स्वतन्त्र सत्ता है। अपने निर्विकार और विशुद्ध रूप मे यही ज्ञान या बोध अहं कहलाता है। यही कुछ अधिक विस्तृत और विकृत होकर अहंकार या अहंभाव बन जाता है। साहित्य मे अन्त करण की उस अभिमानपूर्ण वृत्ति को अहंकार कहा गया है, जिसमे मनुष्य अपनी और अपने कार्यों की चर्चा करना और सुनना पसन्द करता है। साधारणत अहंकार मे मनुष्य औरो की अपेक्षा अपना कुछ अधिक महत्त्व समझने लगता है। वह सोचता है कि जितनी अच्छी चीजे या बाते हैं, वे सब पहले मेरे लिए होनी चाहिएँ, फिर औरो के लिए भले ही हुआ करे। अर्थात् उसमे स्वार्थ का भाव आ जाता है। सम्भवत-यह भावना मनुष्य की आत्म-रक्षावाली प्राकृतिक प्रेरणा से उत्पन्न होती है। यही भावना कुछ और अधिक बढने और विकृत होने पर अहंमन्यता (जिसे लोक मे हमी या हमेव भी कहते हैं) बन जाती है। इसमे मनुष्य समझता है कि जो कुछ

हूँ, वह मै ही हूँ, और जो कुछ है, वह सब मेरे ही लिए होना चाहिए। अर्थात् दूसरों के हित का विचार उसकी आँखों से ओझल हो जाता है। अपने सामने उसे और लोग प्राय तुच्छ और नगण्य-से लगते हैं। ऐसी ही मनोवृत्ति मे जब वह अपने आपमें ऐसे गुणों या विशेषताओ का आरोप करने लगता है जो गुण और विशेषताएँ वास्तव मे उसमे नहीं होतीं अथवा बहुत कम होती हैं, तब उसका ऐसा करना **अवलेप** कहलाता है*। यदि साधारण योग्यता या शक्तिवाला मनुष्य यह जतलाने लगे कि मेरी योग्यता या शक्ति बहुत अधिक है, तो यह भी **अवलप** ही कहलावेगा। ऐसी स्थिति मे छोटा मनुष्य भी अपने आपको बडों की बराबरी का मानने या समझने लगता है। जब वह इसी दृष्टि से समय-कुसमय और जगह-जगह अपने मुँह से आप ही अपनी बडाई करने लगता है. तब इसे **आत्म-श्लाघा** कहते हैं। लोगो से यह कहते फिरना कि मै यह कर सकता हूँ, वह कर सकता हूँ अथवा मैने यह किया है, वह किया है, इसके मुख्य लक्षण हैं। ये सभी मनुष्य के अहभाव के विकृत और दूसरो को खटकनेवाले रूप हैं।

इसी अहकार का एक और रूप है जिसे **अभिमान** कहते हैं। मान का सामान्य अथ है—प्रतिष्ठा। अपनी प्रतिष्ठा का अतिरिक्त रूप से होनेवाला ज्ञान ही **अभिमान** है। इसमे मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा या बडप्पन के ही ध्यान मे लोन रहता है, औरो की प्रतिष्ठा या बडप्पन उसे दिखाई ही नहीं देता। जहाँ तक अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान रहे, वहाँ तक तो यह उचित या सद् ही होता हे, और अपने इसी उचित या सद् रूप मे यह **स्वाभिमान** कहलाता और आत्म-सम्मान के भाव का सूचक होता है। इसमें मनुष्य अपने आपको औरो की दृष्टि मे गिरने नहीं देता, बल्कि गौरवशाली बनाये रखता है। इसी का एक और विकृत तथा सार्विक पक्ष भी है जिसमे मनुष्य को अपनी जाति, देश, सस्कृति, सद्-गुणों आदि की मर्यादा का भी वैसा ही ध्यान रहता है, जैसा स्वय अपनी मर्यादा का होता है। इस सीमा तक तो अभिमान प्रशमनीय ही नहीं, बल्कि आवश्यक

* हिन्दी मे इसी को 'लगाना' कहते है। जैसे—वह अपने आपको बहुत लगाते हैं। आशय यही है कि वह अपने आपमें बहुत अवलेप करते हैं।

भी होता है*। पर औचित्य की इस सीमा से आगे बढने पर वह अवस्था आती है, जिसमें अपनी प्रतिष्ठा या मान के सामने दूसरों की प्रतिष्ठा या मान तुच्छ जॅचने लगता है। ऐसी अवस्था मे यही अभिमान उस **घमड** का समानक बन जाता है, जो मनुष्य की नैतिक दुर्बलता और मानसिक तुच्छता का सूचक होता तथा समाज मे निन्दनीय माना जाता है†। **घमड** उस समय माना जाता है, जब मनुष्य अपनी बुद्धि, विद्या या शक्ति का महत्त्व दूसरों की अपेक्षा बहुत अधिक समझकर उन्हे उपेक्षा या तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगता है और यह समझता है कि मै जो चाहूँ, वह कर सकता हूँ। ऐसा मनुष्य बडों के सामने उद्धत या उद्दड हो जाता और छोटो को उपेक्षा या घृणा की दृष्टि से देखता है। अर्थात् **अभिमान** का निकृष्ट रूप ही **घमड** कहलाता और लोक मे निन्दनीय माना जाता है‡। **अवलेप** जब अधिक उग्र या तीव्र होकर आचरण और व्यवहार मे प्रकट होने लगता है, तब वह **मिथ्याभिमान** कहलाता है। असद् अभिमान या घमड का तो फिर भी कुछ आधार होता है ; पर **मिथ्याभिमान** मे का 'मिथ्या' विशेषण ही इस बात का सूचक है कि ऐसे अभिमान का कोई वास्तविक आधार नहीं होता। **अभिमान** और **मिथ्याभिमान** मे एक अन्तर यह भी है कि अभिमानी या घमडी व्यक्ति प्राय लोक मे होनेवाली निन्दा-स्तुति की उतनी परवाह नहीं करता , पर मिथ्याभिमानी सदा दूसरों से अपनी प्रशसा कराना चाहता है। **गर्व** भी बहुत कुछ वही है, जो अभिमान है, फिर भी लोक-व्यवहार मे, प्रयोग के विचार से, कहा जा सकता है कि **अभिमान** मे यदि आधी मात्रा सद् की और आधी असद् की है, तो **गर्व** मे तीन-चौथाई सद् की और एक चौथाई असद् की है। अर्थात् **गर्व** का प्रयोग अधिकतर सद् क्षेत्रों मे दिखाई देता है। हम यह तो कहते हैं—

---

* सद् अभिमान का एक उदाहरण है—
अस अभिमान जाइ नहि भोरें। मै सेवक, रघुपति पति मोरें॥
—तुलसी।

† कहौ सुभाव, न कछु अभिमानू।—तुलसी।

‡ मारा चहसि अधम अभिमानी।—तुलसी।

मै गर्वपूर्वक समाज मे सिर ऊँचा करके खडा हो सकता हूँ, पर यह नही कहते—मै अभिमानपूर्वक समाज मे सिर ऊँचा करके खडा हो सकता हूँ। कारण यही है कि **गर्व** की अपेक्षा **अभिमान** अधिक बुरा होता है। कदाचित् इसी विचार से साहित्य मे भी एक सचारी भाव **अभिमान** नही बल्कि **गर्व** माना गया है, और इसका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—इसमे मनुष्य अपने किसी गुण या विशेषता के कारण अपने आपको दूसरो से बढा-चढा समझता है, और अपने आचार तथा व्यवहार से अपनी श्रेष्ठता प्रकट करता है। **दम्भ** भी असद् अभिमान का एक उग्र रूप है। वास्तविक गुण या विशेषता होने पर उसका जो अतिरिक्त असद् अभिमान होता है, वही **दम्भ** कहलाता है, और इस दृष्टि से यह **मिथ्याभिमान** से बिलकुल अलग है। **दम्भ** और **अवलेप** में यह अन्तर है कि दम्भी अपने आपको दूसरो से बडा समझता है, पर अवलेपक मनुष्य अपने आपको बडों की बराबरी मे पहुँचाना चाहता है। **दम्भ** में उद्दडता भी होती है, **अवलेप** भी और योग्यता, वैभव, शक्ति आदि का प्रदर्शन भी। **दर्प** वह है जिसमे मनुष्य के स्वाभिमान पर अनुचित आघात होने या उसे ठेस लगने पर उसकी योग्यता, विद्या, शक्ति आदि अपने आपे मे न रहकर उबल पडती है। फिर भी इसमे कुछ सात्विकतापूर्ण तेजस्विता की मात्रा रहती ही है; और इसी लिए **दर्प** का प्रयोग बहुधा ऐसे अवसरों पर होता है, जब कोई दृढतापूर्वक किसी को फटकार बतलाता है। यदि किसी सती साध्वी के साथ कोई अनुचित व्यवहार हो तो वह बहुधा दर्पपूर्वक उसकी भर्त्सना करेगी। **मद** वस्तुत घमड का वह उग्रतर रूप है जिसमे मनुष्य भले-बुरे का ज्ञान खो बैठता है। अर्थात् इसमे मन या भावनाएँ नशे की-सी हालत मे हो जाती हैं और भावावेश के कारण मनुष्य का नैतिक और मानसिक सन्तुलन नष्ट हो जाता है। **मान** इस प्रसग मे एक विशिष्ट अर्थ या भाव का सूचक होता है। जब हमारा कोई प्रिय व्यक्ति हमसे कुछ अनुचित व्यवहार कर बैठता है या हम उसका कोई ऐसा अपराध या दोष देखते हैं जो हमारी प्रतिष्ठा पर आघात करता या उसे ठेस पहुँचाता है, तब हमारा **स्वाभिमान** उत्तेजित या क्षुब्ध होकर हमे कुछ समय के लिए उस प्रिय से उदासीन तथा रुष्ट कर देता है। अपने प्रिय के प्रति होनेवाली यही अस्थायी उदा-

सीनता तथा रोष **मान** कहलाता है। साहित्य मे मानवती या मानिनी नायिका के उदाहरण और उल्लेख प्राय देखने मे आते हैं। इस **मान** के मूल मे भी अपने मान या प्रतिष्ठा का विचार ही मुख्य होता है। हिन्दी में इसी को 'रूठना' कहते हैं।

अभियोजन (Accusation)

अवक्षेप=दोषारोपण	**परिवाद** (Complaint)
उपालंभ, उलाहना	**पिशुनता**
चुगली = पिशुनता	**पैशुन्य=पिशुनता** (Back-biting)
दोषारोपण (Blame)	**शिकायत=परिवाद (आंशिक रूममें)**

अभियोजन का अर्थ है—किसी पर अभियोग लगाना, या किसी के सम्बन्ध मे यह कहना कि उसने अमुक अनुचित या निन्दनीय काम किया है। यह प्राय नैतिक, वैधानिक और व्यावहारिक बातो से सम्बन्ध रखता है, और इसका मुख्य उद्देश्य यह होता है कि अभियोग सम्बन्धी जो बातें कही गई हैं, उनकी जाँच की जाय, तथ्य का पता लगाया जाय; और यदि अभियोग ठीक सिद्ध हो तो अभियुक्त को उचित दड दिया जाय। यह सच्चा भी हो सकता है और झूठा भी। **परिवाद** प्राय किसी बात या व्यवहार के सम्बन्ध मे अपना असन्तोष प्रकट करने के लिए होता है। इसमे यह कहा जाता है कि हमे अमुक बात से यह कष्ट या असुविधा है, अत यह बात दूर की जाय। यह बहुधा स्वार्थ-रक्षा की भावना से होता है। प्राय यह भी होता तो दूसरो के आचरण या व्यवहार के सम्बन्ध मे ही है, पर इसका उद्देश्य अपनी अडचने दूर कराना ही होता है, किसी को दड दिलाना नही। हर तरह से अपना आचरण ठीक रखने पर भी हम दूसरों के मिथ्या अभियोजनो से नहीं बच सकते। पर अपना आचरण

या व्यवहार ठीक रखकर हम **परिवाद** से बहुत कुछ बच सकते हैं। **दोषारोपण** का साधारण अर्थ है—किसी पर कुछ दोष लगाना या यह कहना कि तुमने (या उसने) अमुक दोष या कसूर किया है। यह कई प्रकार का होता है। जिन लोगों को किसी के काम पर विचार या टीका-टिप्पणी करने का अधिकार होता है, वे भी किसी पर दोषारोपण कर सकते हैं, और जिन्हें किसी अनुचित बात से कष्ट पहुँचता या हानि होती है, वे भी **दोषारोपण** कर सकते हैं। पर यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा **दोषारोपण** सदा ठीक या साधार ही हो। **अभियोजन** का उद्देश्य तो सदा किसी न किसी प्रकार का दड दिलाना ही होता है, पर **दोषारोपण** इसके सिवा अपमानित या बदनाम करने और नीचा दिखाने के उद्देश्य से भी हो सकता है। **चुगली** या **पैशुन्य** किसी की अनुपस्थिति मे उसके सम्बन्ध मे कही जानेवाली वह बात है जो उसे किसी प्रकार का दड दिलाने, कुछ हानि पहुँचाने या दूसरों के द्वारा अपमानित अथवा तिरस्कृत कराने के उद्देश्य से कही जाती है। यह सर्वथा निराधार तो नहीं होती (इसमे सत्यता का कुछ अश या आधार तो अवश्य होता है) फिर भी असल बात प्राय कुछ बढा-चढाकर, बुरे ढग और बुरे उद्देश्य से कही जाती है। यदि किसी से कोई साधारण अपराध या दोष हो जाय और वह उसके लिए लज्जित भी हो या औरो से वह बात छिपाना चाहे, तो उस दशा मे किसी अपर व्यक्ति का दूसरो से उसकी चर्चा करना **चुगली** कहलाता है। पर इसमे दो बाते आवश्यक होती हैं। एक तो यह कि **चुगली** उन्ही लोगो से की जाती है, जिनसे चुगली की बातो का कुछ सम्बन्ध हो। दूसरे जिस व्यक्ति की चुगली खाई *जाती है, उसकी कुछ न कुछ हानि कराना भी अभीष्ट होता है। **शिकायत** (अरबी) इसका और **परिवाद** का हल्का रूप है। यह प्राय किसी के अनुचित, असगत या कठोर व्यवहार के सम्बन्ध मे होती है, और इसका उद्देश्य यह होता है कि जो अनुचित बात हो चुकी है, या तो उसका परिमार्जन हो या कम से कम

*** चुगली के साथ प्राय खाना और लगाना क्रियाओं का प्रयोग होता है। जैसे किसी की चुगली खाना या किसी से किसी की चुगली लगाना।**

भविष्य मे वैसी अनुचित बात न होने पावे। **चुगली** से इसका कुछ और भी अन्तर है। **चुगली** प्राय ऐसी बातों के विषय मे होती है जिनका चुगली खानेवाले से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, पर **शिकायत** प्राय ऐसी बातों के विषय मे होती है, जिनका शिकायत करनेवाले से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। दूसरे, **चुगली** सदा दूसरों से की जाती है, पर शिकायत दूसरो से भी जाती है और स्वय उस व्यक्ति से भी, जिसके अनुचित, असगत या कठोर व्यवहार से शिकायत करनेवाले को कष्ट पहुँचता या हानि होती है। कोई लडका अपने किसी सगी-साथी की दुष्टता के सम्बन्ध मे उसके माता-पिता से उसकी **चुगली** खाता है, पर किसी कर्मचारी के सम्बन्ध में उसके प्रधान अधिकारी से **शिकायत** की जाती है। हम अपने उस मित्र से भी इस बात की **शिकायत** करते हैं कि आपने उस दिन हमारे साथ अमुक अनुचित व्यवहार किया था। यही मुख्यत **उपालभ** या उलाहना भी है। पर यह **चुगली** और **शिकायत** दोनों का कोमल और हलका रूप है और यह प्राय सद् भावना से ही प्रेरित होता है। इसमे अनु-चित बात के कारण होनेवाला कष्ट या खेद प्रकट भर किया जाता है, दड, परिमार्जन आदि का कोई भाव इसमे नही होता। यह अपेक्षया हलका और साधारण बातों के सम्बन्ध मे और प्राय मधुर शब्दो मे होती है। दुष्ट लडकों के माता-पिता को उनके सगे-सम्बन्धियो से उन लडको की दुष्टता के सम्बन्ध मे **उपालभ** मिल सकता है, और प्रेमी-प्रेमिका दोनों एक दूसरे को किसी विषय मे **उपालंभ** दे सकते हैं। (विशेष दे० 'कलक' और 'निन्दा')

———

अर्पण (Offering)

उत्कोच=घूस	**भेंट** (Present)
उपहार (Gift)	**रिश्वत=घूस**
उपायन	**विसर्ग** (Offer)
घूस (Bribe)	**समर्पण** (Dedication)

अर्पण शब्द का साधारण अर्थ तो है—किसी को कुछ देना या सौंपना, पर इसमे दो भाव मुख्य है—एक तो पूरी तरह से सदा के लिए दे देना , और दूसरे श्रद्धा तथा नम्रतापूर्वक देना । विधिक क्षेत्र मे किसी वस्तु पर से अपना स्वत्व हटाकर उसे पूरी तरह से दूसरे के अधिकार मे कर देना या सौंपना ही **अर्पण** कहलाता है । पर बहुत प्राचीन काल से यह शब्द हमारे धार्मिक क्षेत्र मे, अपेक्षया कुछ अधिक विस्तृत अर्थ मे प्रयुक्त होता आया है । भक्त अपने देवता को पुष्प, नैवेद्य आदि अर्पित करता है , आवश्यकता पडने पर सेवक अपना सर्वस्व स्वामी को अर्पित करता है , और देश-भक्त देश की सेवा करने के लिए अपना जीवन अर्पित करते है । इस प्रकार आदरपूर्वक और श्रद्धा-भाव से बडो को कुछ दे देना ही **अर्पण** है । **समर्पण** भी एक विशिष्ट सीमा तक वही है, जो **अर्पण** है, क्योंकि ऊपर **अर्पण** के जितने अर्थ बताये गये हैं, वे सब **समर्पण** के भी अर्थ हैं। पर आज-कल **समर्पण** मे एक नया अर्थ लग गया है । साधारणत लेखक लोग अपनी कृतियाँ किसी बडे विद्वान् या प्रिय व्यक्ति को समर्पित करते हैं । इस प्रकार अपनी कोई कृति या रचना भी केवल अपनी श्रद्धा सूचित करने के लिए और वह भी केवल औपचारिक रूप से और नाम मात्र के लिए देना भी **समर्पण** कहलाने लगा है । परन्तु **अर्पण** और **समर्पण** दोनों हैं देने की क्रियाएँ ही । **भेंट** वस्तुत वह पदार्थ है जो आदरपूर्वक दिया जाता है। **भेंट** बहुधा बडो को ही दी जाती है; और जब हम बराबरवालो को कोई चीज **भेंट** के रूप मे देते हैं, तब मानो हम आदर और सौजन्य के विचार से उनका बडप्पन मानते हैं । **उपहार** भी बहुत कुछ वही है, जो **भेंट** है । इसका प्रयोग प्राय बराबरवालो के लिए ही, परन्तु

आदरपूर्वक कुछ देने के सम्बन्ध मे होता है। फिर भी **भेंट** मे अधीनता या नम्रता का भाव मुख्य है और **उपहार** मे प्रसन्नता और सद्भाव का। **उपायन** मुख्यत वह चीज है जो अपनी विलक्षणता या किसी प्रकार की विशेषता के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर किसी को उपहार या भेंट के रूप मे भेजी जाती है। इस अर्थ मे यह वही है जिसे (अरबी मे) 'सौगात' कहते हैं। प्राचीन काल मे राजा लोग एक दूसरे के पास **उपायन** भेजा करते थे, और आज-कल किसी दूर-स्थान से आनेवाले मित्र वहाँ की कुछ खास चीजे लाकर **उपायन** के रूप मे हमे देते है। गौण रूप मे यह उन मिठाइयो आदि का भी सूचक है, जो शुभ अवसरो पर मित्रों और सम्बन्धियो के यहाँ भेजी जाती हैं और जिसे कुछ क्षेत्रो मे **बायन** तथा कुछ क्षेत्रो मे **बैना** कहते हैं*। **घूस** वह उपहार या भेंट है जो किसी को अनुचित तथा विधि-विरुद्ध रूप से अपना कोई काम निकालने के लिए दी जाती है। जो काम साधारण रूप से, जल्दी या नियमत न हो सकता हो, वह काम जब धन आदि का लोभ देकर किसी से करा लिया जाता है, तब इस प्रकार दिया जानेवाला धन या दूसरी चीजे **घूस** कहलाती हैं। **घूस** या तो दण्ड से बचने के लिए, या अनुचित रूप से कुछ आर्थिक लाभ करने के लिए या और किसी तरह का सुभीता पाने के लिए दी जाती है, और इसी लिए **घूस** लेना और देना दोनो नैतिक तथा विधिक दृष्टि से अपराध हैं। इसी को सस्कृत मे **उत्कोच**† और अरबी मे **रिश्वत** कहते है। **विसर्ग** का साधारण अर्थ बहुत कुछ वही है, जो 'विसर्जन' का है, अर्थात् छोड़ना, त्यागना, देना आदि। परन्तु अर्पणवाले क्षेत्र मे इसका एक विशेष अर्थ है, जो 'प्रस्ताव' के साधारण अर्थ से कुछ मिलता-जुलता है। जब कोई चीज या बात प्राय प्रस्ताव के रूप मे, इस आशय से किसी के सामने रखी

---

* बायन और बैना दोनो स० वायन से बने है, जिसका अर्थ है—ब्राह्मणो के पास भेजी जानेवाली मिठाइयाँ आदि।

† उत्कोच के मौलिक अर्थ झुकाना, खोलना आदि हैं, इसी लिए किसी को झुकाने और अपना काम निकालने के उद्देश्य से उसको दिया जानेवाला धन उत्कोच कहलाता है।

जाती है कि यदि वह उचित समझे तो उसे ग्रहण कर ले या मान ले, तब वह चीज या बात **विसर्ग** कहलाती है। इसमे मुख्य भाव यह होता है कि हम तो यहाँ तक तैयार हैं, अब आप भी इतने पर तैयार हो जायँ तो काम हो सकता है। **विसर्ग** सदा कुछ उदार होकर, झगडा निपटाने, समझौता करने आदि के उद्देश्य से उपस्थित किया जाता है। इसमे **विसर्ग** उपस्थित करनेवाले के कुछ दबने का और दूसरे पक्ष को कुछ उपकृत करने का भाव भी निहित होता है। यदि आप से हमारा कोई झगडा चल रहा हो, तो हम कोई ऐसा सुझाव आपके सामने रख सकते हैं कि हम यहाँ तक आप की बात मानने को तैयार है। ऐसा सुझाव ही **विसर्ग** होगा। अथवा आप कोई जमीन या मकान बेचना चाहते है और हम कहते हैं कि हम दस हजार रुपए मे उसे ले सकते है, तो यह हमारा दस हजार रुपए का **विसर्ग** कहलावेगा। **विसर्ग** सदा अपनी इच्छा से और अपनी ओर से (प्रस्ताव के रूप मे) उपस्थित किया जा सकता है, उसे मानना या न मानना दूसरे पक्ष की इच्छा पर आश्रित होता है।

अवस्था (Condition)

दशा (State) — **हाल=अवस्था**

परिस्थिति (Circumstance) — **हालत=दशा**

स्थिति (१. Position २ Situation)

साधारणत **अवस्था**, **दशा** और **स्थिति** मे कोई विशेष अन्तर नही दिखाई देता। हम कहते हैं—ऐसी **अवस्था** मे उनकी कोई सहायता नही की जा सकती। यदि इस वाक्य मे **अवस्था** की जगह **दशा** या **स्थिति** का प्रयोग किया जाय, तो भी प्राय काम चल जाता है। ऐसे परिवर्त्तनों से उक्त वाक्य के अर्थ या आशय मे कोई विशेष अन्तर नही आने पाता। इससे पता चलता है कि एक

सीमा तक इन तीनो शब्दों के अर्थ प्राय समान हैं, और इसी लिए ये एक दूसरे के समानक माने जा सकते हैं। फिर भी ये तीनों अलग-अलग शब्द हैं, अतः इनके अर्थों मे भी परस्पर कुछ अन्तर होना ही चाहिए, भले ही वह अन्तर बहुत थोडा या सूक्ष्म हो। और वास्तव मे अन्तर है भी, क्योंकि कुछ प्रसगो मे ये शब्द एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त हो ही नहीं सकते। और ऐसे प्रसगों का विचार करने पर ही जाना जा सकता है कि इन तीनो शब्दो के अर्थों मे क्या अन्तर है।

हमारे यहाँ मनुष्य की कहीं ४, कही ८ और कहीं १० अवस्थाएँ मानी गई हैं, जैसे-जन्म, शैशव, बाल्य, कौमार, पौगड, यौवन, जरा आदि। इन **अवस्थाओ** को **दशा** भी कहते हैं। पर ज्यौतिष मे ग्रहों का नियत भोग-काल **दशा** ही कहलाता है, **अवस्था** या **स्थिति** नहीं। फिर हम कहते हैं—यहाँ की **स्थिति** आपके सँभाले नही सँभलेगी। इस प्रसग मे **स्थिति** का काम **अवस्था** या **दशा** से नहीं चल सकता। अर्थात् कही तो **अवस्था, दशा** और **स्थिति** तीनों एक दूसरे के पर्याय होते हैं, कही केवल **अवस्था** और **दशा** एक दूसरे के पर्याय होते हैं, और कही ये तीनो शब्द अलग अर्थ रखते हैं, और इन मे से किसी एक का काम दूसरे से नही चल सकता। जिन प्रसगो मे ये तीनों शब्द एक दूसरे का काम दे जाते हैं, कुछ तो उन्ही प्रसगो के आधार पर और कुछ इन तीनों शब्दों के ठीक ठीक अर्थ-विस्तार न जानने के कारण ही इनके प्रयोगो मे प्राय गडबडी होती है। तीनो शब्दो के आर्थी क्षेत्रों का यह अन्तर उनके भोग-काल के आधार पर स्थित है। **अवस्था** की अपेक्षा **दशा** का और **दशा** की अपेक्षा **स्थिति** का भोग-काल साधारणत कुछ अधिक होता है। जो अवस्था* आज है, वह कल बदल सकती है, पर दशा के बदलने मे कुछ अधिक समय लगता है†। और इन दोनो की अपेक्षा **स्थिति** का भोग-

*** दूसरे प्रसग मे यहाँ अवस्था वय या उमर की वाचक है, और वहाँ यह क्षण क्षण बदलती और बढती रहनेवाली चीज है।**

† ज्यौतिष में ग्रहो का भोग-काल इसी लिए दशा कहलाता है कि उसकी कुछ निश्चित मर्यादा होती है, और उसके बदलने के लिए कुछ समय अपेक्षित होता है।

काल साधारणत कुछ और भी अधिक होता है*। अर्थात् तुलनात्मक दृष्टि से स्थिति की अपेक्षा दशा और दशा की अपेक्षा अवस्था कुछ जल्दी और सहज मे बदलनेवाली होती है। इन तीनों शब्दो मे दूसरा पारस्परिक अन्तर इनके मान या व्याप्ति के क्षेत्रो से सम्बन्ध रखता है। अवस्था मे जितनी बातें अन्तर्मुक्त होती हैं, उनकी अपेक्षा दशा मे कुछ अधिक बातो का अन्तर्भाव होता है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि अवस्था शब्द भी उसी 'स्था' धातु से बना है, जिससे स्थिति शब्द बना है। अवस्था का एक धात्वर्थ है—खडा होना या वर्तमान होना, और इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि अवस्था का बहुत कुछ सम्बन्ध वर्तमान से है†। स्थिति का अर्थ है—

* स्थिति का एक और अर्थ उस स्थान से सम्बद्ध है, जहाँ कोई वस्तु स्थित होती है।

† ऊपर शीर्षक खड मे हमने इसी दृष्टि से अ० हाल को स० अवस्था का समानार्थी माना है। हाल का पहला अर्थ वर्तमान है, और अवस्था भी बहुत कुछ वर्तमान से ही सम्बद्ध है। उर्दू का एक शेर है—

देखकर कासिद को मेरे उसने पूछा—खैर है ?
अब कहो क्या हाल है ? जिन्द है या जाता रहा ?

इसके द्वितीय चरण का 'अब' ही इस बात का सूचक है कि कुछ देर पहले कुछ और हाल मिल चुका था, और इस समय का हाल या अवस्था पूछी जा रही है। एक और शेर है—

उनके देखे से जो आ जाती है रौनक मुँह पर।
वह समझते है कि बीमार का हाल अच्छा है॥

यहा भी थोडे समय के लिए प्रिय के सामने आ जाने पर मुँह पर रौनक आ जाती है, पर इसी क्षणिक परिवर्तन के कारण प्रेमी की अवस्था अच्छी मान या समझ ली जाती है। इन उदाहरणो से भी अवस्था और दशा सम्बन्धी हमारे निरूपित अन्तरो का समर्थन होता है।

स्थित होने या ठहरे रहने की अवस्था। यह मुख्यत एक प्रकार के ठहराव की सूचक भाववाचा सज्ञा है। भाव सदा वर्त्तमान की अपेक्षा कही अधिक विस्तृत तथा स्थायी होता है—उसकी व्याप्ति उन भूत और भविष्य कालो तक होती है, जो वर्तमान की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत हैं। और इस दृष्टि से भी इन शब्दों के भोग-कालवाले और मान या व्याप्तिवाले अन्तरो की पुष्टि होती है। दशा की व्युत्पत्ति कुछ सन्दिग्ध रूप से 'दश' कही गई है। दश का पहला अर्थ है—दॉत से पकडना या दॉत गडाना। इस व्यापार मे भी और इसके फल मे भी काल विस्तार का कुछ भाव है ही। 'दश' का दूसरा अर्थ कपडे का छोर या सिरा भी है, और उसमे भी विस्तार का भाव निश्चित रूप से है ही।

अब कुछ प्रयोग देखिए। जो व्यापारी बहुत दिनो से लाखो रुपयो का क्रय-विक्रय और लेन-देन करता आ रहा हो और बाजार मे जिसकी अच्छी साख हो, उसके सम्बन्ध मे कहा जायगा—इसकी **स्थिति** बहुत अच्छी है। यहाँ **स्थिति** उसकी धन-सम्पत्ति, मान-मर्यादा, व्यवहार-कुशलता आदि अनेक बातो की सूचक है। यदि बीच मे कुछ घाटे या व्यापार की मन्दी आदि के कारण उसके कार्यों मे कुछ शिथिलता आने लगे तो कहा जायगा—आज-कल उसकी **दशा** ठीक नही है। अब यदि कुछ दिन बाद उसका कार-बार फिर ज्यो का त्यो चलने लगे, तो कहा जायगा—बीच मे उसकी **दशा** कुछ खराब हो गई थी, पर अब फिर ठीक हो गई है। पर आदि से अब तक उसकी **स्थिति** अच्छी ही मानी जायगी, बीच मे बदलनेवाली **दशा** से उस **स्थिति** मे कोई विशेष अन्तर न आवेगा। किसी रोगी को देखकर चिकित्सक कह सकता है—कल से आज इसकी **अवस्था** कुछ अच्छी है, और यदि यही क्रम चलता रहा तो एक सप्ताह तक इस की **दशा** बहुत कुछ सुधर जायगी। इससे सूचित होता है कि रोगी की **दशा** कुछ समय तक प्राय एक-सी चल सकती है, पर उसकी **अवस्था** मे जल्दी-जल्दी सुधार अथवा बिगाड हो सकता है। हम कोई कल (मशीन) देखने जाते हैं, और लौटकर अपने मित्रो से कहते हैं—हमने तो उसे चलती हुई **अवस्था** मे देखा था, पर हमारे मिस्त्री का कहना है कि वह ठीक **दशा** में नहीं है।

कुछ मरम्मत होने पर वह ठीक **दशा** मे आ सकती और अच्छी तरह काम दे सकती है। उक्त दोनों प्रसगो मे यदि **अवस्था** की जगह **दशा** और **दशा** की जगह **अवस्था** का प्रयोग किया जाय तो वाक्यो मे कुछ खटक-सी आ जायगी। इससे सिद्ध होता है कि **अवस्था** की काल-व्याप्ति उतनी अधिक नही होती, जितनी **दशा** की होती है।

एक दूसरी दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि **अवस्था** और **दशा** दोनों बहुत कुछ आत्मगत या व्यक्तिगत होती हैं, पर **स्थिति** बहुत कुछ बाहरी बातों पर भी आश्रित होती है। आर्थिक, शासनिक आदि दृष्टियो से किसी देश की **दशा** तो बहुत अच्छी हो सकती है, पर दूसरे देशो या राष्ट्रो की वक्र दृष्टि के कारण उसकी **स्थिति** चिन्तनीय या शोचनीय भी हो सकती है। यदि कोई सैनिक टुकडी युद्ध-क्षेत्र मे कहीं शत्रुओ से घिर जाय तो हम कहेंगे—वह टुकडी विकट **स्थिति** मे पड गई है। पर जब शान्ति-काल मे अपने ही देश मे सैनिक शरीरत दुर्बल हों, उनके पास यथेष्ट अस्त्र-शस्त्र न हो अथवा वे आदेशो, नियमो, नियत्रणो आदि का ठीक तरह से पालन न करते हों, तो कहा जायगा—उनकी **दशा** अच्छी नहीं है।

परिस्थिति शब्द स० स्थिति मे 'परि' उपसर्ग लगने से बना है, पर है यह वास्तव मे **स्थिति** का एक अग या आशिक रूप ही है। अनेक **परिस्थितियो** के योग से एक **स्थिति** बनती है। **परिस्थिति** सदा बाहरी बातो के सयोग से बनती है। हमारे आस-पास जो घटनाएँ, चीजे आदि होती हैं, उन्ही का समन्वित रूप हमारी **परिस्थिति** हैं। **स्थिति** अच्छी होने पर भी सम्भव है कि प्रतिकूल **परिस्थितियों** के कारण हम कोई अच्छा काम आरम्भ न कर सकें, या उसे आरम्भ करने पर भी उसमे सफल न हो सकें। आरम्भ मे फसल अच्छी होने पर भी, हो सकता है कि बाद मे **परिस्थितियो** (उपयुक्त वर्षा के अभाव, असामयिक वर्षा अथवा रोग आदि) के कारण खराब हो जाय या बिलकुल नष्ट हो जाय। अपराध करने पर भी कोई अपराधी केवल **परिस्थितियो** (किसी बहुत बडे अधिकारी का सम्बन्धी होने, विकट और घातक रोग से पीड़ित होने अथवा बड़े लोगो के बीच-बचाव करने आदि) के कारण दड से बच

सकता है। युद्ध आदि की **परिस्थितियों** के कारण ही किसी साधारण समाचार-पत्र का प्रचार भी बट सकता है, और आयात, उपज आदि की **परिस्थितियो** के कारण अनाज या कपडे का भाव गिर भी सकता है।

आकाश (Sky)

आसमान=आकाश — **मेघ** (Cloud)

नभ=आकाश — **वातावरण** (Atmosphere)

बादल=मेघ — **वायु-मंडल=वातावरण**

महाव्योम (Firmament) — **व्योम** (Ether)

आकाश उस सारे खाली स्थान का वाचक है जो हमे बाहर मैदान मे खडे होने पर अपने सिर के ऊपर चारो ओर वहाँ तक फैला हुआ दिखाई देता है, जहाँ तक हमारी दृष्टि जाती है। साधारणत इसका रग कुछ नीला-पन लिये सफेद होता है। रात के समय हमे जिस अवकाश मे सब ग्रह और तारे दिखाई देते हैं, वह सारा विस्तार **आकाश** ही है। इसी को **आसमान, नभ** और **व्योम** भी कहते हैं। जब इसकी हवा मे जल-कण भर जाते हैं, तब इसका रग धुँधला, मटमैला या नीलापन लिये काला-सा हो जाता है। इसके ये बदले हुए रग इसमे मिले हुए जलीय अश की मात्रा के अनुसार हलके या गहरे होते हैं। **आकाश** की यही जलपूर्ण अवस्था **बादल** या **मेघ** कहलाती है। इसमें का जल निकल जाने (वर्षा हो जाने) पर इसका रग फिर पहले की तरह साफ हो जाता है। हमारी पृथ्वी क चारो ओर वाष्प और वायु का जो घेरा या मडल है, वही **वातावरण** या **वायु-मंडल** है। यह ऐसे आवरण या लिफाफे के रूप मे है जो हमारी पृथ्वी को चारों ओर से घेरे हुए हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि आकाश मे जितने

ग्रह, नक्षत्र आदि दिखाई देते है, उन सबके चारों ओर भी इसी प्रकार का वाष्प का घेरा या मडल है। लाक्षणिक रूप मे **वातावरण** या **वायु-मडल** उन नैतिक और मानसिक परिस्थितियो का सूचक होता है जिनमे कोई व्यक्ति रहता है। इसी लिए हम कहते हैं—आज-कल अमुक देश या स्थान का **वातावरण** बहुत दूषित हो गया है, अथवा जब तक तुम इस दूषित **वातावरण** से बाहर न निकलोगे, तब तक तुम्हारी उन्नति या सुधार न होगा। अधिक विस्तृत अर्थ मे इसका प्रयोग जीव-जन्तुओं, पेड-पौधों तक के सम्बन्ध मे भी होता है। जैसे कहा जाता है—इस देश का **वातावरण** अमुक जन्तु या वृक्ष के लिए उपयुक्त नही है। **व्योम** है तो साधारण अर्थ मे आकाश ही, पर भौतिक-विज्ञान के पारिभाषिक क्षेत्र मे यह एक ऐसे विशिष्ट वर्ण-हीन, लचीले और परम सूक्ष्म रासायनिक तत्त्व का वाचक है जो सारे आकाश मे भरा हुआ है। इसमे एक प्रकार की मीठी गन्ध होती है और यह सहज मे जल सकता है। ग्रह नक्षत्रो से प्रकाश की जो किरणे या तरगे हमारी पृथ्वी पर आती है, वे इसी के द्वारा अथवा इसी के माध्यम से आती हे। **महा-व्योम** शब्द उस आकाश-वाचक व्योम का परम विस्तृत और सर्व-व्यापक रूप है जिसकी हम सहज मे कल्पना भी नही कर सकते। जिसे **व्योम** (आकाश) कहते हैं, वह वास्तव मे **महाव्योम** का एक छोटा सा अश मात्र है। **व्योम** से हमारा आशय उसी ऊपरी क्षेत्र से होता है, जो साधारणत हमे दिखाई देता है, पर वास्तव मे इस अश से और आगे तथा ऊपर भी इसका बहुत अधिक विस्तार है, जिसमे ऐसे अन-गिनत छाया-पथ, नीहारिकाएँ, सौर जगत् और नक्षत्र भरे पडे हैं, जो बहुत अधिक दूरी के कारण बडी बडी दूरबीनो से भी जल्दी दिखाई नही देते। वही सारा विस्तार, जिसका कोई अन्त नहीं है, **महा-व्योम** कहलाता है। (विशेष दे० ज्योतिष)

आनन्द (Happiness)

अत्यानन्द (Ecstasy)
आनन्दातिरेक=अत्यानन्द
आमोद (Amusement)
आह्लाद (Gladness)
उल्लास (Mirth)
परमानन्द (Bliss *)
प्रमोद (Merriment)
प्रसन्नता (Pleasure)
प्रहर्ष (Rapture)
मोद (Joy)
हर्ष (Delight)

आनन्द वस्तुत वह मूल है जिसकी शाखा-प्रशाखाएँ उक्त पर्यायो के रूप मे फैली हैं। हमारे यहाँ वेदान्त मे यह आत्मा या ब्रह्म के तीन गुणो या धर्मों मे से एक माना गया है। इसी का उच्चतम रूप वह **परमानन्द** है जो आत्मा को परमात्मा या ब्रह्म मे लीन होने पर प्राप्त होता है। साधारणत लोक-व्यवहार में आनन्द हमारे मन मे होनेवाली वह अनुकूल तथा प्रिय अनुभूति है जो सब प्रकार के अभावो, कष्टो, चिन्ताओ आदि से मुक्त या रहित तथा अभीष्ट बातो से युक्त होने की अवस्था मे होती है और जिससे हमारा मन परम सन्तुष्ट और सुखी होता है। इस व्याख्या के अनुसार **आनन्द** का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है; और ऊपर दिये हुए प्रायः सभी पर्यायों का इसमे किसी न किसी रूप मे अन्तर्भाव हो जाता है। छोटी और बडी, बाह्य और आन्तरिक सभी प्रकार की अनुकूल बातें हमे **आनन्दित** करती हैं। हमे शुभ इन्द्रिय-सुखो के भोग से भी **आनन्द** मिलता है और कर्त्तव्यो का अच्छी तरह पालस करने से भी। यहाँ तक कि दूसरों के अच्छे काम या बातें देखकर भी हमे आनन्द आता है। पर है यह मुख्यत

---

* **हमारे यहाँ आध्यात्मिक क्षेत्र मे परमानन्द का जो भाव और स्वरूप बतलाया गया है, उसके लिए अँग्रेजी समानार्थी Bliss और Beatitude हो सकते हैं, फिर भी ये अँग्रेजी शब्द हमारे परमानन्द का पूरा भाव नही प्रकट कर सकते–उसके पास तक पहुँचते हुए ही हैं।**

हमारी आत्मा का धर्म ही, और इसका वास्तविक सम्बन्ध शुद्ध तथा सद् कार्यों और भावों से ही है। इसी लिए इसकी एक परिभाषा इस प्रकार की गई है—सुख-रूप आत्मा का वह प्रतिबिम्ब जो सात्विक बुद्धि पर पडता है। दुष्टो को उपद्रव करने या हत्यारों को हत्या करने मे जो परितोष होता है, उसके सम्बन्ध मे **आनन्द** का प्रयोग ठीक नही माना जा सकता, दूसरे शब्दो का प्रयोग भले ही ठीक माना जा सके। **अत्यानन्द** भी मूलत धार्मिक क्षेत्र का ही शब्द है, और अर्थ तथा आशय के विचार से **आनन्द** के उस अतिरेक का सूचक है जो मनुष्य को आध्यात्मिक चिन्तन या ध्यान मे पूर्ण रूप से मग्न या लीन होने पर प्राप्त होता है। यह **आनन्द** और **परमानन्द** के बीच की चीज है। साधारणत लोक-व्यवहार मे इसका प्रयोग उस स्थिति का वाचक है जिसमे मनुष्य किसी काम, विशेषत शुभ और सुन्दर काम मे इतना लीन हो जाता है कि सुध बुध खो बैठता है और उसे आस पास में होनेवाली बातों की जल्दी कुछ भी खबर नही होने पाती। प्राय कलाकार या कवि कोई सुन्दर कृति प्रस्तुत करते समय उसके सुख और सौन्दर्य से मुग्ध होकर उसमे इतने रम जाते हैं कि अपने आप तक को भूल-से जाते हैं। सच्चे प्रेमियो की भी प्राय अपने प्रिय के ध्यान मे ऐसी ही अवस्था हो जाती है। यही मानसिक अवस्था **अत्यानन्द** कहलाती है। **प्रसन्नता**, **मोद** और **हर्ष** वस्तुत **आनन्द** से कुछ हल्के दरजे की अनुभूतियाँ हैं। **प्रसन्नता** मुख्यत बाह्य पदार्थों से प्राप्त होती है। हम खेल मे जीतकर भी प्रसन्न होते हैं और अपने किसी प्रिय मित्र से मिलकर भी। कोई अपने बाल-बच्चो से हँस-बोलकर प्रसन्न होता है तो कोई मद्य-मास का सेवन या आखेट करके। इस प्रकार इच्छाओं और वासनाओं की तृप्ति ही **प्रसन्नता** उत्पन्न करती है। **हर्ष** और **मोद** मन मे होनेवाले सुख के द्योतक तो हैं, पर अपेक्षया क्षणिक तथा अस्थायी होते हैं। फिर भी **हर्ष** सदा प्रगाढ और कुछ अधिक स्थायी होता है, और इस शब्द का प्रयोग बहुधा सब क्षेत्रों मे होता है। अनुभूति की मात्रा के विचार से **प्रसन्नता** से **हर्ष** कुछ हलका है और **हर्ष** से **मोद** और भी हलका है। **उल्लास** इन सब की अपेक्षा अधिक क्षणिक तथा हलका है। यह साधारण बातो से उत्पन्न होता है और प्राय तत्काल समाप्त हो जाता है। इसके सिवा **आनन्द** और **प्रसन्नता** मे हमारी मनो-

वृत्तियाँ उन्मुक्त होती हैं, **आह्लाद** और **मोद** स्वायविक उत्तेजन और स्फूर्ति के भाव से युक्त हैं, और **उल्लास** तथा **प्रहर्ष** मे हृदय उमड पडता है। **आमोद** सदा कुछ विशिष्ट और नियत कार्यों और बातों से प्राप्त होता है, और ऐसे कार्य या बातें इसी उद्देश्य से की जाती हैं कि उनसे सुख मिले। **उल्लास** और **आमोद** दोनो अच्छी बातों से भी हो सकते हैं और बुरी बातों से भी। इसी लिए इन दोनों का अन्तर्भाव **प्रसन्नता** के वर्ग मे होता है, **आनन्द** के वर्ग मे नहीं। मनुष्य किसी का विनाश देखकर भी **उल्लसित** हो सकता है और निकृष्ट इन्द्रिय-सुख भी किसी के **आमोद** का कारण हो सकता है। **आमोद** का ही कुछ बढा हुआ और अच्छा रूप **प्रमोद** कहलाता है, और इसी लिए प्राय इन दोनों शब्दों का साथ साथ प्रयोग देखने मे आता है। ऐसे प्रसगों मे कहीं-कही इन शब्दों का काम **प्रसन्नता** से भी चल जाता है। **हर्ष** का बहुत बढा-चढा रूप ही **प्रहर्ष** है। जब **हर्ष** की मात्रा इतनी बढ जाती है कि मनुष्य आपे से कुछ बाहर हो जाता है, तब उसे **प्रहर्ष** कहते हैं। ऐसे अवसर पर यदि कभी-कभी औचित्य और शिष्टता की साधारण सीमाओं का थोड़ा-बहुत उल्लघन भी हो जाय, तो वह क्षम्य माना जाता है। ठठाकर हॅसना, उछलना-कूदना, लोगो से हॅसी-मजाक करके या उन्हें छेडकर हॅसने के लिए प्रेरित करना, स्वय जोर-जोर से बाते करके हर्ष प्रगट करना आदि इसके मुख्य लक्षण हैं।

आय (Income)

अर्थागम (Proceeds) **प्रत्यागम** (Returns)
उगाही (Realisation) **प्राप्ति** (Gain)
कमाई (Earning) **लाभ** (१ Benefit २. Profit)
नफा=लाभ **वसूली=उगाही**

आय का मौलिक अर्थ है— आकर पहुॅचना, पर अब यह शब्द मुख्य रूप से उस धन (रुपए-पैसे आदि) का वाचक हो गया है, जो किसी को कोई

काम (नौकरी चाकरी, व्यापार आदि) करने या किसी काम मे कुछ धन लगाने के बदले मे सूद-ब्याज के रूप मे या उससे होनेवाले लाभ, जमीन-जायदाद की उपज या किराये आदि के रूप मे बराबर कुछ नियत समयों पर मिलता रहता है। हमारी मासिक **आय सौ** रुपए है और उन्हें व्यापार तथा सूद-ब्याज से हजार रुपए महीने की **आय** होती है। व्यक्तियो के सिवा व्यापारिक मडलो, सस्थाओ, सरकारो आदि सभी की **आय** होती है, और इसी **आय** के अनुसार व्यय भी होता है। **अर्थागम** (अर्थ + आगम) का शब्दार्थ है—किसी के पास धन आना। प्रस्तुत प्रसग मे **अर्थागम** वह आय है जो चीजों की बिक्री आदि से अथवा सस्थाओं, सरकारों आदि को कुछ मदों या विभागो के करो आदि के रूप मे प्राप्त होती है। किसी विशिष्ट काम या विभाग से मिलनेवाला धन ही उस काम या विभाग का **अर्थागम** कहलाता है। **प्रत्यागम** (स० प्रति+आगम) वह कहलाता है जो किसी काम मे लगाये हुए धन या पूँजी के बदले में प्राप्त होता है। हम कहते हैं—इस काम मे हमने लाख रुपए लगा रखे हैं, पर उनमे से अभी तक हमे दस हजार का भी **प्रत्यागम** नहीं हुआ। अर्थात् एक लाख मे से हमे अभी दस हजार रुपए भी वापस नही मिले। **कमाई** (हि० कमाना का भाववाचक रूप) वह धन है जो परिश्रम करने पर पारिश्रमिक, वेतन आदि के रूप मे (अर्थात् कमा कर) प्राप्त किया जाता है। व्यापार आदि मे लगाये हुए धन से भी **कमाई** होती है। हम कहते हैं—उन्होंने कपडे के रोजगार की सारी **कमाई** सट्टे (या दुर्व्यसनों) मे गँवा दी। प्रयत्न और परिश्रम करने पर जो कुछ मिले, वही **कमाई** है। लाक्षणिक रूप मे **कमाई** उन सब बातो का सामूहिक रूप है, जो काम करके प्राप्त की जाती है। जैसे—सारे जीवन की **कमाई** यही एक मकान उनके पास है, अथवा जन्म भर उनका पालन-पोषण करने पर **कमाई** मे यही बदनामी और सकट हाथ आया है। हमारे पास पहले से जो कुछ है, उसके सिवा और जो कुछ हमारे हाथ में नया आवे, वही **प्राप्ति** है। **प्राप्ति** का साधारण अर्थ ही है—प्राप्त होना या मिलना। इसका प्रयोग अधिकतर आर्थिक लाभ के अर्थ मे होता है। हम कहते हैं—महीनों परिश्रम करने पर भी कुछ **प्राप्ति** नहीं हुई; अथवा आज-कल तो उन्हें अच्छी **प्राप्ति** हो रही है (अर्थात् उनके हाथ मे यथेष्ट धन आ रहा है)।

लाक्षणिक रूप मे भी इसका प्रयोग इस प्रकार होता है—बाल्यावस्था के उपरान्त वृद्धावस्था की **प्राप्ति** होती है। **लाभ** स० लभ् धातु से बना है, जिसके अर्थ हैं—पकडना, पाना, मिलना, लेना आदि। आर्थिक क्षेत्र मे इसका प्रयोग उस धन के सम्बन्ध मे होता है, जो लगाई हुई पूँजी से कार्य-संचालन के व्यय, छीजन आदि निकालने के बाद बचत के रूप मे अपने पास बच रहता है। व्यापारियो को किसी वर्ष दस हजार का और किसी वर्ष बीस हजार का **लाभ** होता है। आशय यही है कि सब व्यय निकाल देने पर आय मे से इतने रुपये पास बच रहे। लाक्षणिक रूप मे, जो काम या बात हमारे लिए हितकर सिद्ध हो, वही **लाभ** है। हमें औषध के सेवन से स्वास्थ्य का, विद्वानों की सगति से ज्ञान का और विदेश-यात्रा से अनुभव तथा ज्ञान दोनों का **लाभ** होता है। **उगाही** हिं० उगाहना (स० उद्-ग्रहण) का भाव-वाचक रूप है। अनेक स्थानो से जो प्राप्त धन घूम-घूमकर इकट्ठा या प्राप्त किया जाता है, उसे उगाहना कहते है, और यह क्रिया अथवा इसका भाव **उगाही** है। **उगाही** बाकी निकलनेवाले रुपयों की भी होती है, कर, शुल्क आदि की भी और ऐसे चन्दों आदि की भी जिनके सम्बन्ध मे वचन मिल चुका होता है या जो प्राय नियमित रूप से मिलते रहते हैं। इस प्रकार जो धन इकट्ठा होता है, वह भी **उगाही** कहलाता है। महाजनो और व्यापारियो के नौकर जब बाजार से लहना-पावना वसूल करके आते हैं, तब कहते हैं—आज सौ (या पाँच सौ) रुपए की **उगाही** हुई है, अथवा अभी बाजार मे तीन सौ रुपए की **उगाही** बाकी पडी है। **वसूली** (अरबी वुसूल के बना हुआ फारसी रूप) इसी **उगाही** का समानक है जो हिन्दी मे बहुत प्रचलित है।

आर्थ

आर्थिक आर्थी

आर्थ शब्द स० अर्थ का विशेषणवाला रूप है। सस्कृत मे अर्थ शब्द के अनेक अर्थ हैं, यथा—पदार्थ या वस्तु, धन-सपत्ति, अभिप्राय या उद्देश्य, शब्द से सूचित

होनेवाला उसका आशय या मतलब (जिसे मानी या माने भी कहते हैं) आदि । अत आर्थ और **आर्थिक** दोनों का अर्थ है—अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाला या अर्थ सम्बन्धी, और इस दृष्टि से जो कुछ अर्थ शब्द से सूचित होता है, उन सबसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी चीजे या बाते आर्थ या आर्थिक हो जाती है । फिर भी प्रयोग के विचार से आर्थ और आर्थिक मे विशेष अन्तर है । **आर्थ** शब्दो के अर्थ से सम्बद्ध और उसका सूचक हो गया है, और **आर्थिक** धन-सम्पत्तिवाले अर्थ से सम्बद्ध हो गया है । **आर्थी** वस्तुत **आर्थ** का स्त्री-लिग रूप भी है और समानक भी । **आर्थ** विवेचन का अभिप्राय शब्दो के अर्थो का विवेचन होता है । इसी लिए इसका विपर्याय 'शाब्द' होता है । जिस प्रकार **आर्थ** का स्त्री-लिग रूप आर्थी होता है, उसी प्रकार उसके विपर्याय **शाब्द** का स्त्री-लिग **शाब्दी** होता है । इसी आधार पर साहित्य मे व्यजना दो प्रकार की मानी गई है—आर्थी और शाब्दी, अर्थात् एक तो अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाली और दूसरी स्वय शब्द से सम्बन्ध रखनेवाली । **आर्थिक** शब्द आज-कल मुख्य रूप से अर्थ के धन सम्पत्तिवाले अर्थ से सम्बद्ध हो गया है और उसी का सूचक माना जाता है । हम कहते हैं—(क) सरकार देश की आर्थिक उन्नति करना चाहती है, अथवा (ख) आज-कल उनकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं है । ऐसे सभी प्रसगो मे **आर्थिक** का अर्थ होता है—धन या रुपए-पैसे आदि से सम्बन्ध रखनेवाला या रखनेवाली, क्योकि **आर्थिक** विशेषण उभय-लिंगी है ।

ईर्षा, ईर्ष्या (Envy)

असूया (Jealousy) **मत्सर**

द्वेष (Malice) **विद्वेष**

ईर्षा या **ईर्ष्या** मनुष्य की वह दूषित प्रवृत्ति या मनोभाव है, जो किसी दूसरे को अच्छी दशा मे देखकर सहन नहीं कर सकता । किसी को सुखी या सम्पन्न देखकर या उसके पास कोई अच्छी चीज देखकर यदि हम यह सोचे कि यह तो बहुत बुरा हो रहा है; और साथ ही कामना करे कि वह उस अच्छी चीज या सुख से

वचित हो जाय और हम उसके स्थान पर पहुँचकर उस अच्छी चीज या सुख के अधिकारी बन जायँ तो हमारी यह मनोवृत्ति **ईर्ष्या** कहलावेगी। **ईर्ष्या** करनेवाले के मन मे एक प्रकार की जलन होती है जो उसमे यह इच्छा उत्पन्न करती है कि दूसरो का सुख नष्ट हो जाय और वह सुख हमे प्राप्त हो जाय। **ईर्ष्या** करनेवाला यह नहीं सोचता कि हम वस्तुत उस अच्छी बात या सुख के अधिकारी हैं या नहीं। **असूया** का पहला अर्थ तो किसी से अप्रसन्न या असन्तुष्ट होकर मन ही मन कुछ बडबडाना है, पर प्रस्तुत प्रसग मे यह भी कुछ अशो मे **ईर्ष्या** के ही समान है। **ईर्ष्या** से **असूया** इस दृष्टि से कुछ हलकी है कि इसमे दूसरो को उनकी सफलता, सुख या सौभाग्य से वचित करने का भाव उतना प्रबल नहीं होता, जितना उन्हें देखकर सहन न कर सकने का भाव होता है। इसमे असहन-शीलता का तत्त्व ही प्रधान है। **मत्सर** का मूल अर्थ (विशेषण रूप मे) मत्त या मस्त करनेवाला होता है, और सज्ञा रूप मे यह लोभी, स्वार्थी आदि का वाचक होता है। पर प्रस्तुत प्रसग मे यह भी **असूया** का कुछ तीव्र रूप है; और इस दृष्टि से इसे **असूया** और **ईर्ष्या** के बीच का स्थान दिया जा सकता है। **असूया** तो क्षणिक या अस्थायी भी हो सकती है, पर मत्सर अपेक्षया कुछ अधिक समय तक बना या चलता रहता है। **असूया** मे जहाँ असहनशीलता का भाव मुख्य है, वहाँ **मत्सर** मे स्वार्थ-साधन का भाव प्रधान होता है, और कभी-कभी इसमे **द्वेष** या **विद्वेष** का भी कुछ पुट मिला रहता है। द्वेष स० द्विष् से व्युत्पन्न है, और इसमे औरों को दूसरा (पराया या अपने से अलग) समझने का भाव मुख्य है। इसी के साथ इसमे कुछ विरोध, वैमनस्य या शत्रुता का भाव भी आकर सम्मिलित हो जाता है, और जिसके प्रति हमारे मन मे द्वेष होता है, उससे हम घृणा भी करने लगते हैं और उसके अहित की भी कामना तथा प्रयत्न करने लगते हैं*। हम जिससे द्वेष करते हैं, उससे सदा अलग या दूर रहना

---

* यह शब्द है तो मुख्यतः विरोध, वैर, शत्रुता आदि के वर्ग का; पर हिन्दी मे ईर्ष्या-द्वेष का युग्म पद बहुत प्रचलित है, इसी लिए इसे भी और इसके साथ विद्वेष को भी ईर्ष्या के वर्ग मे ही स्थान दिया गया है।

चाहते हैं और उसे कभी अच्छी दृष्टि से नहीं देखते—उसकी अच्छी बातें भी हमारी निगाह मे बुरी ही ठहरती हैं। इसी **द्वेष** मे वि उपसर्ग लगने से **विद्वेष** बना है, जिसका अर्थ है—उग्र या विकट रूप मे होनेवाला द्वेष, और इसी लिए यह द्वेष का विकसित रूप है। किसी से **द्वेष** होने पर सम्भव है कि हम चुपचाप या शान्त होकर भी बैठे रहें, पर जिसके प्रति हमारे मन मे **विद्वेष** होता है, उसे हम प्राय नीचा दिखाने या उसकी हानि करने का भी विशेष रूप से प्रयत्न अथवा विचार करते रहते हैं। **द्वेष** की तुलना मे **विद्वेष** मे यही विशेषता है।

उद्देश्य (१. Object २. Objective)

अभिप्राय (१. Intent २. Intention) **लक्ष** (Aim)
इष्ट (Goal) **लक्ष्य** (Target)
ध्येय (End) **हेतु** (Motive)
प्रयोजन (Purpose)

उद्देश्य वह चीज या बात है, जिसकी प्राप्ति या सिद्धि के लिए प्रयत्न किया जाता है। जिस काम या बात की ओर मन या विचार प्रवृत्त और क्रियाशील किया जाय और जिसकी सिद्धि के लिए कुछ प्रयत्न किया जाय, वही **उद्देश्य** है। जैसे—इस नई योजना का मुख्य उद्देश्य नदियो की बाढ और उनके कारण होनेवाला नाश रोकना है। पर गौण रूप से इसका प्रयोग **अभिप्राय, ध्येय, प्रयोजन** आदि के स्थान पर भी होता है। **अभिप्राय** का शब्दार्थ तो है—किसी के पास जाना या पहुँचना, पर उसका मुख्य प्रचलित अर्थ है—वह विचार जो किसी को कोई काम करने मे प्रवृत्त करता है। हम किसी **अभिप्राय** से किसी से मिलने जाते हैं या कोई लेख, पुस्तक आदि लिखते हैं, अथवा झूठ बोलने के समय हमारा **अभिप्राय** होता है—दूसरों को धोखा देना। **इष्ट, ध्येय** और लक्ष्य भी बहुत

कुछ वही हैं जो **उद्देश्य** है, फिर भी अर्थ की दृष्टि से इनमे थोडा बहुत अन्तर है। **इष्ट** वह है जो चाहा जाय और जिसकी ओर बढा जाय। अर्थात् किसी अभिलाषा से जिसके लिए प्रयत्न किया जाय, वह **इष्ट** है। इसमे मुख्यता हमारी अभिलाषा या इच्छा की है। **ध्येय** वह है जिस पर ध्यान रखकर प्राप्ति या साधन का प्रयत्न किया जाय। इसमे ध्यान या मनोनिवेश का भाव मुख्य और प्रयत्न का भाव गौण है। जिस पर दृष्टि रखकर काम किया जाय, वह **लक्ष** है। इसमे साधना से सम्बन्ध रखनेवाली दृष्टि रखने का भाव मुख्य है। जैसे—राज्य का **ध्येय** जनता पर नियन्त्रण रखना नहीं, बल्कि उसका कल्याण करना होता है। **उद्देश्य** और **ध्येय** मे तात्त्विक दृष्टि से यह अन्तर है कि **उद्देश्य** तो हमारी इच्छा या विचार मात्र से सम्बन्ध रखता है, पर **ध्येय** कुछ सिद्धान्तो या प्रयोजनों पर आश्रित होता है। यों भले ही हम धन या नाम कमाने के **उद्देश्य** से लेखक बन जायँ, पर हमारा **ध्येय** सदा पाठको का ज्ञान-वर्धन ही होना चाहिए। **लक्ष** वह बात या वस्तु है जिस पर दृष्टि रखकर कोई काम किया जाय। इसमे मुख्यता उस बात या वस्तु की होती है, जिस पर दृष्टि रखी जाती है। दृष्टि रखने या प्रयत्न करनेवाली बात इसमे गौण रहती है। **प्रयोजन** और **हेतु** भी बहुत कुछ वही है जो **अभिप्राय** है, पर इनमे कुछ विशेषता भी है। **प्रयोजन** का शब्दार्थ है—उपयोग या काम मे लाना। पर लोक-व्यवहार मे यह भी वही अर्थ देता है, जो ऊपर **अभिप्राय** का बतलाया गया है। इसमे **अभिप्राय** की अपेक्षा कुछ अधिक जोर है—अपेक्षया अधिक दृढता और कर्मण्यता का भाव निहित है। यह इस बात का भी सूचक है कि किसी वस्तु का अस्तित्व या सृष्टि किस काम के लिए हुई है, और यह स्वय उस बात या वस्तु का भी बोधक है जिसके लिए प्रयत्न किया जाता है। हम किसी **प्रयोजन** से कोई सस्था स्थापित करते हैं, और कोई चीज देखकर यह जानना चाहते हैं कि इसके बनने का **प्रयोजन** क्या है। **हेतु** वास्तव मे वह तत्त्व, भाव या विचार है जो हमे किसी काम मे प्रवृत्त करता है, और इस दृष्टि से **अभिप्राय** या **प्रयोजन** के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है। इसके मूल मे मुख्यत कोई मनोविकार (जैसे—क्रोध, प्रेम, भय, वासना आदि) होता है जो हमे किसी काम या बात के लिए प्रेरित करता है। पर गौण रूप से यह

उस काम या बात का भी सूचक माना जाता है, जिसके लिए कोई क्रिया की जाती है, और इसी लिए यह इष्ट या उद्देश्य का भी वाचक हो गया है।

उपहास (Ridicule)

कटाक्ष (Sarcasm)	**ताना** (Taunt)
खिल्ली (Derision*)	**फबती** (Raillery)
चुटकी (Twit)	**बोली** (Rally)
छींटा=**कटाक्ष**	**विद्रूपण** (Mockery)
ठट्ठा (Banter)	**व्यंग्य** (Irony)

इस वर्ग के शब्दो मे इस दृष्टि से आर्थी समानता हैं कि ये किसी को कुछ तुच्छ या मूर्ख सिद्ध करके अथवा यो ही लोगों को हॅसने-हॅसाने मे प्रवृत्त करते है। इस वर्ग के मुख्य शब्द **उपहास** का प्रयोग उस समय होता है, जब किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को ऐसे ढग से तुच्छ सिद्ध किया जाता है कि लोगो को अनायास हॅसी आ जाय†। साधारण बोल-चाल मे इसी को 'हॅसी उडाना' कहते हैं। हम कभी अपने मित्र की भद्दी भूल का **उपहास** करते या हॅसी उडाते हैं, कभी किसी की बे-तुकी कविता या बातो की। उद्देश्य यही होता है कि लोग उसकी तुच्छता

---

* अँगरेजी के डिरीजन (Derision) मे हॅसी उडाने का भाव सदा आवश्यक नही होता, हाँ तुच्छ ठहराने का भाव मुख्य है, भले ही उसके साथ हँसी भी आ जाय। पर हिन्दी मे खिल्ली में उपहास का भाव प्रधान और तुच्छ सिद्ध करने का भाव गौण है।

† जिस कृति या उसके कर्त्ता में कोई ऐसी बेढगी या भद्दी बात हो जिसे देखकर लोगो को आप ही आप हॅसी आती हो, उसे उपहासास्पद कहते है।

या भद्दापन समझकर हँस पड़ें। **खिल्ली** (हिं० खिलना=खिलखिलाकर हँसना) भी है तो एक प्रकार का **उपहास** ही, पर एक तो इसमे तुच्छता सिद्ध करने का प्रयत्न कुछ हलके दरजे का होता है, दूसरे इसमे स्वत या सगी साथियो के हँसने-हँसाने की और भी अधिकता होती है। **उपहास** तो प्राय बहुत कुछ साधार होता है—किसी घटना या बात पर आश्रित होता है, पर **खिल्ली** प्राय निराधार भी होती या हो सकती है। इसके साथ केवल 'उडाना' क्रिया का प्रयोग होता है। इसमे अपेक्षया आलोचनावाला तत्त्व भी बहुत-कुछ गौण और कभी-कभी प्राय नही के समान होता है। किसी के सम्बन्ध मे यह कहना—'इनकी नाक क्या है, बासी रोटी पर रखा हुआ करेला है।' उसकी **खिल्ली उडाना** है। ऐसे कथन किसी वास्तविकता पर आश्रित नही होते, इनका उद्देश्य केवल परिहास होता है। **ठठ्ठा** (हिं० अनुकरण-वाचक ठठाना=जी खोलकर हँसना) इन दोनों की अपेक्षा प्राय अधिक निर्दोष होता है, और इसमे केवल कुतूहलजनक या विलक्षण बातो के द्वारा हँसना-हँसाना उद्दिष्ट होता है। यदि कहीं बीच मे कोई ताना या व्यग्य आ भी जाय तो वह गौण ही रहता है। उसकी कटुता या तीव्रता की ओर जल्दी किसी का ध्यान ही नहीं जाता। इसी लिए इसके योग से हँसी-ठठ्ठा पद बन गया है जो विशुद्ध परिहास का वाचक है। **कटाक्ष, चुटकी, ताना, फबती, बोली** और **व्यग्य** अर्थ के विचार से एक ही वर्ग मे आते और एक दूसरे से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। **कटाक्ष** का शब्दार्थ है—तिरछी चितवन या नजर। पर इस प्रसग मे यह ऐसी व्यग्यपूर्ण उक्ति का सूचक है जिसका उद्देश्य किसी पर कुछ आक्षेप करना और इस प्रकार कुछ हलकी चोट करके उसे खिन्न और लजित करना होता है। जैसे—अपने भाषण में उन्होंने सभापति पर भी **कटाक्ष** किया था। साधारण बोल चाल मे इसी को **छींटा*** भी कहते हैं, और इसके साथ प्राय 'कसना' क्रिया का प्रयोग होता है। **चुटकी** वस्तुत

---

* छींटा और कटाक्ष में यदि कुछ अन्तर हो सकता है तो यही कि कटाक्ष निरन्तर एक पर एक हो सकते हैं, पर छींटा प्रायः अकेला अथवा बीच-बीच मे कहीं एकाध ही होता है।

अँगूठे या तर्जनी की वह मुद्रा है जिससे किसी के शरीर के मास का कुछ अश पकडकर इस प्रकार दबाया जाता है कि शरीर मे कुछ पीड़ा उत्पन्न हो। इसी को कहीं कहीं **चिकोटी*** भी कहते हैं। पर प्रस्तुत प्रसग मे **चुटकी** का अर्थ भी प्राय वही है जो **कटाक्ष** का है। इसके साथ केवल 'लेना' क्रिया का प्रयोग होता है। उक्त उदाहरणवाले वाक्य की योजना इस प्रकार भी हो सकती है—उन्होंने अपने भाषण मे सभापति की (या के ?) भी **चुटकी** ली थी। आशय दोनों का एक ही होगा। **ताना** अरबी तअन या तअन का हिन्दी रूप है, और इसका अर्थ है—ऐसा आक्षेपपूर्ण व्यग्य जो किसी को उसके कार्य या स्थिति से कुछ लज्जित करे। एक तो यह किसी पुरानी घटना या बात से सम्बद्ध होता है, और दूसरे इसमे आक्षेप और लज्जा के भाव प्रधान रहते है। इसके साथ दो क्रियाओ का प्रयोग होता है—देना और मारना। साधारणत **ताना देना** ही बोला जाता है, पर स्त्रियाँ प्राय ताना मारना भी कहती हैं। यदि हम आज तो किसी के साथ कोई छोटी-मोटी भलाई करे और कल को चिढकर उससे कहें—'हमने तो तुम्हारे साथ अमुक भलाई की थी।' तो यह **ताना देना** कहलावेगा। अथवा किसी से कभी हमारा कोई छोटा-मोटा अपकार हो गया हो और झगडा होने पर हम कहे—'तुमने तो हमारे साथ यह बुराई की थी।' तो यह भी उस बुराई का **ताना देना** होगा। **फबती** हिं० फबना से बना है, जिसका अर्थ है—भला लगना, शोभन जान पडना आदि। प्रस्तुत प्रसग मे यह ऐसी व्यग्यपूर्ण उक्ति या **कटाक्ष** का वाचक है जो किसी विशिष्ट अवसर पर बिलकुल उपयुक्त और ठीक बैठे—अच्छी तरह फबे। इसमे प्राय उपमावाले तत्त्व की प्रधानता होती है†, और इसके साथ कसना और कहना

*** ध्यान रहे कि कटाक्षवाला यह लाक्षणिक अर्थ केवल चुटकी का है, चिकोटी का नही। शारीरिक पीडा पहुँचानेवाले व्यापार के अर्थ में चिकोटी या चुटकी केवल काटी जाती है—इसके साथ सदा काटना क्रिया का ही प्रयोग होता है।**

† बस्ती जिले मे एक बहुत बडे जमीदार और रईस थे जो बहुत अधिक मोटे भी थे और कुरूप तथा साँवले भी। उनके दरबार मे अब्दुल नाम का

क्रियाओं का प्रयोग होता है। **बोली** (हि० बोलना से व्युत्पन्न) भी है तो एक प्रकार का चुभता हुआ **व्यग्य** ही, पर यह प्राय अन्योक्तिवाले तत्त्व से युक्त होती है; और इसके साथ सदा बोलना क्रिया का प्रयोग होता है। जब किसी को सुनाने के लिए स्वय अपने आप पर या किसी दूसरे पर आरोपित करके कोई **व्यग्य** किया जाता है, तब उसे **बोली बोलना** कहते है। मान लीजिए कि कोई देहाती आदमी शहर मे आकर बस जाता और शहराती बन जाता है। वह अपने आपको देहाती मानने मे लज्जा का अनुभव करता है। यदि उसके सामने कहा जाय—'भाई, हम (या हमारे सगी-साथी) तो देहाती ठहरे, हम (या ये) शहरा-तियो की बाते क्या समझे !' तो यह उस देहाती पर **बोली बोलना** कहलावेगा, जो शहराती बन गया है। **व्यग्य** (स० व्यज्) ऐसा व्यापक शब्द है, जिसके अन्तर्गत बहुत सी बाते आती है। शब्द की जिस व्यजना शक्ति से इसकी सृष्टि होती है, उसका हमारे साहित्य मे बहुत विस्तृत विवेचन हुआ है। जब किसी को केवल चिढाने, दुःखी करने या नीचा दिखाने के लिए कोई ऐसी बात कही जाती हैं जो स्पष्ट शब्दो मे न होने पर भी स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से किसी प्रकार का आक्षेप या कटाक्ष ध्वनित अथवा व्यक्त करती है, तब ऐसी बात **व्यग्य** कहलाती

एक मसखरा रहता था जो फबती कहने मे कमाल करता था। एक बार रईस साहब अपने दरबार मे मसनद-तकिया लगाये खूब शान से बैठे गप्पें लडा रहे थे, और जी-हुजूर दरबारियो से खूब चुहले हो रही थी। रईस साहब का बहुत बडा पेचवान मसनद के पीछे रखा था, जिसकी काली लम्बी सटक उनके हाथ में थी और जिससे वे बीच-बीच मे तम्बाकू के एक दो कश लेते चलते थे। कही उन्हे कमबख्ती ने जो आ घेरा तो वे कह बैठे—हाँ अब्दुल मियाँ, आज हम पर भी कोई फबती हो। अब्दुल मियाँ ने बहुत अदब से सिर झुकाकर कहा—हुजूर, गुस्ताखी माफ हो, हू-बहू यही मालूम होता है कि लगूर अपनी दुम चाट रहा है! दरबार मे जोरो का ठहाका लगा और उसी दिन से रईस साहब ने अपने ऊपर फबती न कसवाने की कसम सी खा ली। शहर भर में जो वे लगूर मशहूर हो गये, वह अलग।

है। यदि हम किसी साधारण योग्य, परन्तु अभिमानी, अवलेपक या स्वार्थी व्यक्ति के सम्बन्ध मे उसे नीचा दिखाने या उसकी हँसी उडाने के लिए कहें—'आप की क्या बात है ! आप बहुत बड़े स्वार्थ-त्यागी, देश-भक्त अथवा गण्य-मान्य पडित हैं।' तो यह उस व्यक्ति पर व्यग्य होगा। इसका प्रयोग मुख्यत उस समय होता है, जब किसी के सिद्धान्त और आचरण या कथनी और करनी मे बहुत अन्तर दिखाई देता है। इसका उद्देश्य किसी प्रकार की असगति अथवा अवास्तविकता सिद्ध करना होता है। किसी का रूप बहुत भद्दा बनाकर या बिगाडकर दिखाना **विद्रूपण** कहलाता है। प्रस्तुत प्रसग मे **विद्रूपण** का अर्थ है—किसी को चिढाने के लिए उसी की तरह कुछ बिगाडकर बोलना-चालना, चलना-फिरना, हाथ-पैर हिलाना आदि। किसी का मुँह चिढाना या किसी की नकल उतारना इसी के अन्तर्गत आते हैं। लाक्षणिक रूप मे इसका प्रयोग कुछ विस्तृत क्षेत्र मे भी हो सकता है। यदि कोई अपने आचरण या व्यवहार के द्वारा करता तो न्याय या सत्य की हत्या हो, पर सबसे कहता यही हो कि हम सदा न्याय या सत्य के पथ पर रहते हैं, तो हम कहेंगे—यह न्याय या सत्य नहीं बल्कि उसका **विद्रूपण** है। आशय यही होगा कि आप जिस न्याय या सत्य का ढोंग रच रहे हैं, वह न्याय या सत्य को लज्जित करनेवाला है।

कठिन (Difficult)

कष्ट-साध्य	**दुष्कर**
कठोर (Hard)	**दुस्तर**
दुरारोह (Arduous)	**दुस्साध्य**
दुर्गम	**श्रम-साध्य** (Laborious, Toilsome)
दुर्लंघ्य	**श्रान्तक** (Exhausting)
दुर्वह (Onerous)	

ये विशेषण ऐसे शारीरिक और मानसिक कार्यों, प्रयत्नों आदि के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होते हैं, जिनकी सिद्धि के लिए विशेष आयास या श्रम करना पड़ता है। इनमे से **कठिन** सबसे अधिक प्रचलित शब्द है, और इसका प्रयोग प्राय हर जगह और हर बात मे देखने मे आता है। इसका विपर्याय 'सहज' है, इसी लिए कहा जा सकता है कि जो 'सहज' न हो, वही **कठिन** है। जो काम पूरा करने मे अधिक मानसिक या शारीरिक श्रम करना पड़े, जिसमे कई तरह की अड़चने या झझटें सामने आती हों, वही **कठिन** है। जब किसी काम या बात मे हमे कोई छोटी-मोटी या असाधारण बाधा या रुकावट अथवा पेचीलापन दिखाई देता है या जिसमे कुछ परिश्रम, साहस या सूझ-बूझ की आवश्यकता होती है, तब हम उसे **कठिन** कहते हैं। हमारे लिए किसी अप्रिय स्थान पर बैठना भी **कठिन** हो सकता है, और किसी दुष्ट से बाते करना भी। लडकों के लिए उनका पाठ **कठिन** हो सकता है और नौकर के लिए मालिक की आज्ञा का पालन। **कठोर** वह है जो अपने कडेपन के कारण अपेक्षया अधिक शारीरिक श्रम की अपेक्षा रखता हो। यह **कठिन** की तुलना मे कुछ और आगे बढा हुआ शब्द है और इसमे विकटता का भाव अधिक है। **कठिन** परिश्रम तो बहुत कुछ साधारण भी हो सकता है, पर **कठोर** परिश्रम सदा अ-साधारण ही होता है। पढने-लिखने मे हमे **कठिन** परिश्रम करना पड़ता है; पर पत्थर तोड़कर उसकी गिट्टियाँ बनाने मे या सिर पर भारी बोझ रखकर पहाड पर चढने मे **कठोर** परिश्रम होता

है। **दुरारोह** का शब्दार्थ है—जिस पर आरोहण करना या चढना बहुत कठिन हो। हिमालय की ऊँची चोटियाँ तो **दुरारोह** हैं ही, पर लाक्षणिक रूप मे बहुत ऊँचे पद पर पहुँचना भी **दुरारोह** ही है। **दुर्गम** वह है जिस तक पहुँचना या जिस पर गमन करना या चलना बहुत कठिन हो। **दुर्गम** वन वह कहा जायगा जिसके अन्दर पहुँचकर चलना-फिरना बहुत कठिन हो, और पहाडी चटाई का मार्ग इसलिए **दुर्गम** कहा जायगा कि उस पर सब लोग उस प्रकार सहज मे नही चल सकते, जिस प्रकार मैदानो मे या सडको पर चलते हैं। **दुर्लंघ्य** और **दुस्तर** भी **दुरारोह** और **दुर्गम** के वर्ग के ही शब्द है। पर्वत को लाँघकर पार करना पडता है, और जो पर्वत बहुत कठिनता से लाँघकर पार किये जाते है, शब्दार्थ की दृष्टि से वही **दुर्लंघ्य** कहे जाते हैं। पर लाक्षणिक रूप मे **दुर्लंघ्य** का प्रयोग ऐसी विघ्न-बाधाओ के लिए होता है जिनमे अनेक ऊँची-नीची या ऊबड-खाबड बाते या समस्याएँ सामने आती हैं। **दुस्तर** का शब्दार्थ है—जिसे तैरकर पार करना बहुत कठिन हो। छोटी-मोटी नदियाँ और नाले तो सहज मे तैरकर पार किये जा सकते हैं, पर बहुत बड़ी या पहाडी बरसाती नदियाँ या समुद्रों की खाडियाँ, जल-डमरू-मध्य आदि सहज मे तैरकर पार नही किये जा सकते, और इसी लिए इन्हे **दुस्तर** कहते हैं। पर साधारण बोल चाल मे **दुस्तर** का प्रयोग ऐसे कार्यों या बातों के सम्बन्ध मे होता है जो बहुत दूर तक विस्तृत तल के रूप मे दिखाई देती हों और जिन्हें पूरा करने के लिए बहुत देर तक अध्यवसाय और परिश्रमपूर्वक आगे बढना पडता हो। बोल-चाल मे यह उस **दुष्कर** के पर्याय के रूप मे आता है जिसका साधारण अर्थ है—ऐसा काम जिसे सम्पन्न या सम्पादित करना बहुत कठिन हो। **दुस्साध्य** भी बहुत कुछ वही है जो **दुष्कर** है। पर **दुष्कर** मे काम करने का भाव मुख्य है। जिसे पूरा करने के लिए असाधारण परिश्रम या प्रयत्न करना पडे, वह **दुष्कर** कहा जायगा, और जिसके लिए निरन्तर कठिन साधना की आवश्यकता हो, वह **दुस्साध्य** होगा। जो आदमी रसोई बनाना न जानता हो, उसके लिए पूरी-तरकारी बनाना दुष्कर होगा, पर करोड-पती या बहुत बडे नेता अथवा विद्वान् बनना साधारण व्यक्ति के लिए **दुस्साध्य** कार्य होगा। **दुर्वह** का अर्थ है—जिसे वहन करना (ढोना) बहुत कठिन हो। इसमें उस कार्य की

गुरुता का भाव मुख्य है, जिसका निर्वाह या वहन करना पडता है। बड़े-बड़े उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य, कर्त्तव्य या भार **दुर्वह** कहे जाते हैं। **कष्ट-साध्य** और **श्रम-साध्य** दोनो बहुत-कुछ एक ही हैं और इनके आशय स्वत स्पष्ट हैं। जो काम पूरा करने मे विशेष कष्ट उठाना पडता हो, वह **कष्ट-साध्य** कहलाता है; और जिसमे अधिक श्रम या परिश्रम करना पडता हो, वह **श्रम-साध्य** कहलाता है। दोनो मे कार्य की कठिनता का भाव प्रधान है। **श्रान्तक** ऐसा काम कहलाता है जो सम्पादन करनेवाले को शारीरिक या मानसिक दृष्टि से बिलकुल श्रान्त कर दे— थका दे। आशय की दृष्टि से वही काम **श्रान्तक** कहलावेगा जिसके लिए निरन्तर परिश्रम करते करते आदमी थककर चूर हो जाय। दिन भर कूएँ से पानी निकालते रहना भी **श्रान्तक** हो सकता है और बहुत दिनों तक गहरी छान-बीन करके कोई विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखना भी।

———

कलंक (Stigma)

अवक्षेप (Blame) **धब्बा** (Stain)
दाग=१. धब्बा २. कलंक **लांछन** (Blot)
दूषण (Blemish)

यद्यपि **कलंक** शब्द की निरुक्ति बहुत कुछ सन्दिग्ध है, तो भी यह साधारणत कल + अक से बना हुआ माना जाता है। इसका अर्थ होता है—अंक या शरीर से लगी हुई या उसमे होनेवाली कोई ऐसी बुरी चीज या बात जिससे उसका सौन्दर्य कम होता हो और उस चीज मे कुछ कुरूपता या भद्दापन आता हो। चन्द्रमा मे दिखाई देनेवाला दाग या धब्बा उसका **कलंक** कहलाता है, क्योंकि उससे चन्द्रमा का सौन्दर्य कम होता और उसमे कुछ भद्दापन आता है। लाक्षणिक रूप मे **कलक** का अर्थ है—किसी वस्तु या व्यक्ति मे दिखाई देने या होनेवाली कोई ऐसी बुरी बात जिसके कारण उसकी प्रतिष्ठा या योग्यता में बट्टा

लगता हो और जिससे लोक मे उसकी निन्दा होती या हो सकती हो। अपने किसी दूषित आचरण से तो मनुष्य अपना कुल या चरित्र **कलकित** कर ही लेता है, पर कभी-कभी लोग द्वेष भाव से भी किसी पर झूठा **कलक** लगाते हैं। कभी-कभी केवल परिस्थितियो के कारण भी किसी पर **कलक** लगता है। श्रीकृष्ण पर यह **कलक** लगा था कि उन्होने प्रसेन की हत्या करके उससे स्यमन्तक मणि छीन ली थी, पर वास्तव मे प्रसेन को जगल मे सिंह खा गया था, और उसकी मणि लेकर वह जाम्बवन्त की गुफा मे चला गया था। **अवक्षेप** का अर्थ है—किसी के सम्बन्ध मे यह आक्षेप करना या कहना कि उसने अमुक अनुचित काम किया है, अथवा अमुक अपराध, त्रुटि या दोष का उत्तरदायित्व उसके सिर है। यह सच्चा भी हो सकता है और झूठा भी। स्वय हमारे किसी दोष या भूल के कारण भी हम पर **अवक्षेप** हो सकता है, और हमारे निरपराध होने की दशा मे यों ही झूठ-मूठ भी हो सकता है। पर यह **कलंक** की अपेक्षा बहुत-कुछ हलका होता है, और बहुधा किसी न किसी वास्तविक आधार पर आश्रित होता है। यह भी एक प्रकार का दोषारोपण ही है। (देखें 'अभियोजन' के अन्तर्गत दोषारोपण), पर यह इस दृष्टि से **दोषारोपण** से भिन्न और हलका है कि दोषारोपण मे तो किसी पर दोष लगाया जाता है, पर **अवक्षेप** मे प्राय त्रुटि या दोष का उत्तरदायित्व ही आरोपित होता है। इसमे दड दिलाने का कोई भाव नहीं होता, केवल लज्जित करना या नीचा दिखाना उद्दिष्ट होता है। **लाछन** शब्द का मुख्य अर्थ है—चिह्न या निशान। अर्थात् यह वह विशिष्ट दृश्य लक्षण है जिससे कोई चीज पहचानी जाती है। पर आगे चलकर यह भी दूषित भाव का सूचक हो गया है, और वर्तमान प्रसग मे इसका अर्थ होता है—व्यक्तित्व पर लगनेवाला साधारण या छोटा **कलक**। यह प्राय दूसरो के द्वारा लगाया हुआ ऐसा **कलक** होता है, जिसका आधार या तो कुछ भी न हो या बहुत ही तुच्छ और नगण्य हो। **धब्बा** (व्युत्पत्ति अनिश्चित) किसी चीज पर लगा हुआ ऐसा दाग या निशान है जिससे उसकी सुन्दरता कुछ कम होती हो। कपडे पर लगा हुआ धब्बा उसका मूल्य घटाता है, चित्र पर लगा हुआ धब्बा उसका सौन्दर्य कम करता है,

और मनुष्य के चरित्र पर लगा हुआ धब्बा लोगों की दृष्टि से उसे कुछ गिराता है। दाग अरबी का शब्द है, जिसका पहला अर्थ धब्बा है। परन्तु लाक्षणिक रूप में यह कलंक या लाछन का वाचक है। दूषण का पहला अर्थ है–बिगाड़ना अर्थात् खराब या दूषित करना; और इसी लिए बिगाडने या खराब करनेवाली चीज या बात भी दूषण कहलाती है।। यह भी है तो बहुत-कुछ वही, जो धब्बा या लाछन है, पर यह उन दोनों की अपेक्षा गुरुतर भाव का सूचक है। धब्बा या लाछन तो कुछ अवस्थाओं (जैसे—कपडे, चित्र आदि) में मूर्त्त (स्पष्ट और दृश्य) भी हो सकता है, पर दूषण सदा अमूर्त्त ही रहता है। किसी प्रकार के दोष से युक्त होने का भाव या अवस्था ही दूषण है। यों किसी पर कोई दोष या ऐब लगाने की क्रिया भी दूषण कहलाती है। (विशेष दे० 'अभियोजन')

कलह (Discord)

कहा-सुनी (Altercation)
झगड़ा (Quarrel)
द्वन्द्व (Duel)
मत भेद
मन-मुटाव=मनोमालिन्य
मनो-मालिन्य
विग्रह (Strife)
विवाद (Controversy)
वैमत्य (Dissent)
संघर्ष (Struggle)

कलह की व्युत्पत्ति स० कल + ह से कही जाती है। कल का अर्थ है—मधुर ध्वनि (कलं तु मधुर ध्वनौ) और ह स० हनन (मार डालना या न रहने देना) के सूचक प्रत्यय की तरह है ❀। कलह वह आपसी लडाई-झगडा है जो

❀ इसी व्युत्पत्ति के विचार से हमने अ० Discord को इसका समानक माना है।

परिवार या समाज के लोगों मे, राग-द्वेष आदि के कारण कुछ समय तक चलता है, और जिसमे अनुचित तथा अशिष्ट रूप से प्राय कुछ न कुछ कहा-सुनी और दोषारोषण होते रहते हैं। साथ ही एक दूसरे की निन्दा, बदनामी और अनिष्ट के छोटे-मोटे प्रयत्न भी चलते रहते हैं। इसका मूल प्राय ईर्ष्या और स्वभाव का झगडालूपन होता है। **कहा-सुनी** वह है जिसमे दो व्यक्ति या पक्ष क्रोध में आकर और जोर जोर से एक दूसरे को कटु वचन कहने और दोषी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। **झगड़ा** वह है जिसमे दो व्यक्ति या पक्ष किसी चीज पर अपना अधिकार जतलाते हुए, किसी विषय में अपना कथन या मत ठीक बतलाते हुए या किसी बात में दूसरे को दोषी ठहराते हुए अपना पक्ष ठीक और न्याय-सगत सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। यह बहुधा कड़ी **कहा सुनी** तक ही परिमित रहता है; परन्तु अधिक बढने पर मार-पीट का भी रूप धारण कर लेता है। कुछ अवस्थाओं मे यह शान्त भाव से और अन्दर-अन्दर भी चल सकता है; पर होता प्राय वैयक्तिक कारणों से ही है। **द्वन्द्व** सं० द्व + द्व के योग से बना है, और इस बात का सूचक है कि इसमे विशेष रूप से दो ही व्यक्ति आपस मे किसी बात पर लडते हैं। इसमे कोई तीसरा या बाहरी व्यक्ति किसी लड़नेवाले व्यक्ति की कोई सहायता नहीं करता; सब लोग दूर से केवल उनका लडना देखते रहते हैं। इस प्रकार यह दो व्यक्तियों शारीरिक बल और कौशल की परीक्षा का सूचक होता है। **मनोमालिन्य** वही है जिसे हिन्दी मे **मन मुटाव** कहते है। इसमे ऊपर से तो उतना वैर-विरोध नहीं दिखाई देता, पर मन मे एक दूसरे के प्रति कुछ दुर्भाव आ जाते हैं, और वे छिपे-छिपे एक दूसरे को हानि पहुँचाने का भी कुछ प्रयत्न कर सकते हैं। इसमे मुख्य बात यही है कि पहले का-सा सद्भाव और सौजन्यपूर्ण व्यवहार या सम्बन्ध नहीं रह जाता। पर यही जब उग्रतम होकर सक्रिय बनता है, तब **वैर** का रूप धारण करता है (दे० वैर)। **विग्रह** साधारणत कलह और वैर-विरोध के फल-स्वरूप होनेवाला वह सामूहिक झगडा है जो मार-पीट, हत्या आदि का रूप भी धारण कर सकता है। यह कलह और शत्रुता का उत्कट और कटु रूप है। ऐसे **विग्रह** प्रतिद्वन्द्वी परिवारों, जन-जातियों, दलों आदि मे होते और प्राय बहुत दिनों तक चलते रहते हैं। **विवाद** (मौखिक) ऐसी

बातो के सम्बन्ध मे होता है जिनका स्वरूप अनिश्चित या अस्थिर होता है, अत इसका मुख्य उद्देश्य किसी निर्णय या निष्कर्ष तक पहुँचना होता है। कभी तो यह केवल मत-भेद के कारण और कभी स्वार्थों के सघर्ष के कारण होनेवाला झगडा बन जाता है। सभ्य और शिक्षित लोगों मे केवल सैद्धान्तिक मत-भेद के कारण होनेवाला **विवाद** बहुधा शिष्टतापूर्ण होता है। पर कुछ उग्र रूप धारण करने पर इसमे दुर्भाव, द्वेष, वैमनस्य आदि भी आ जाते हैं जिससे सत्य का निर्णय होने के बदले व्यर्थ का वैर-विरोध बढने लगता है। **वैमत्य** स० विमति* का भाव-वाचक रूप है, और विमति का अर्थ है—किसी विषय मे किसी से अलग प्रकार की होनेवाली मति या राय, और इस दृष्टि से यह **मत-भेद** का पर्याय ही है। जब हम किसी विषय मे कहते हैं कि हमारी राय (या विचार) आपकी राय (या विचार) से नही मिलती, तब यही उस विषय मे हमारा **वैमत्य** कहलाता है। इसमे किसी प्रकार के राग-द्वेष या वैर-विरोव के लिए कोई अवकाश नहीं होता, और स्वतन्त्र रूप से अपने विचार प्रकट करने के अधिकार का उपयोग मात्रा होता है। शुद्ध और सद् कोटि का **विवाद** प्राय इसी विशुद्ध **वैमत्य** के कारण उत्पन्न होता है। **सघर्ष** का साधारण अर्थ है—रगड, और रगड़ सदा दो चीजो के तलों मे और एक दूसरे को दबाने के प्रयत्न में होती है। इस प्रसग मे इसके दो रूप हैं। एक रूप मे यह प्रयत्न का ऐसा प्रकार है जिसमे विरोधी प्रबल शक्तियों को दबाने अथवा अपने आपको कठिनाइयों और बाधाओं से बचाने का उद्योग या चेष्टा की जाती है। इसी दृष्टि से कहा जाता है—उनका सारा जीवन अनेक प्रकार के **सघर्षों** मे बीता है। दूसरे रूप में यह दो दलों या पक्षों में होनेवाले लडाई-झगडे, वैर-विरोध, मार-पीट आदि का वाचक है। ऐसा **संघर्ष** खुलकर भी हो सकता है और अन्दर-अन्दर गुप्त रूप से भी। आज-कल समाचार-पत्रों मे अमेरिका और रूस के ऐसे ही **सवषे** की प्रायः चर्चा रहती है, पर सभी प्रकार के **संघर्ष** बहुधा आवश्यकतावश और अपने अस्तित्व की रक्षा करने के उद्देश्य से ही होते हैं। पहले रूप मे कठिनाइयाँ और बाधाएँ सामने

---

* **विमति स० सहमति का विपर्याय है।**

होती हैं और दूसरे रूप मे विरोधी तथा शत्रु। परस्पर-विरोधी तथा बाधक व्यक्तियो या शक्तियो के नाश या दमन का प्रयत्न ही सघर्ष है।

कला (Art)

कारीगरी=शिल्प
कौशल (Skill)
दस्तकारी (Handicraft)
शिल्प (Craft)
हस्त-शिल्प=दस्तकारी

कला (व्युत्पत्ति अनिश्चित) के सस्कृत मे यों तो बहुत-से अर्थ है, पर प्रस्तुत प्रसग मे यह कोई काम अच्छी तरह, नियम और व्यवस्थापूर्वक तथा ठीक ढग से करने की चतुरता का वाचक है, और इसी लिए इसका आर्थी क्षेत्र भी बहुत विस्तृत है। चित्र या मूर्त्ति बनाने की भी कला होती है, और बात-चीत करके किसी से अपना काम निकालने की भी। यहाँ तक कि चोरी, धूर्त्तता, बेईमानी आदि करने या भीख माँगने के अच्छे ढग या सफाई के सम्बन्ध मे भी इस शब्द का प्रयोग होता है। पर मुख्यत इसका प्रयोग कौशल, दक्षता, पटुता आदि के सम्बन्ध मे और प्राय इनके पर्याय के रूप मे होता है। इसमे किसी कार्य या विषय के गहन ज्ञान, उद्भावना (नई बात पैदा करना), कर्तृत्त्व की पूर्णता और कार्य-सम्पादन की प्रशसनीय शक्ति का भी अन्तर्भाव होता है। हमारे यहाँ काम-शास्त्र और शैव तत्र मे ६४ कलाएँ कही गई हैं—गाना, नाचना, बाजे बजाना, चित्र और मूर्तियाँ बनाना, कपडे, गहने, मालाएँ आदि बनाना, शृगार या सजावट करना, इत्र, तेल और फुलेल बनाना, भेस बदलना, तरह तरह के पशु पक्षियो की बोलियाँ बोलना, अनेक प्रकार के भोजन और व्यजन बनाना आदि आदि। आज-कल उपयोगिता, मनोरजन आदि के विचार से इसके कई मुख्य भेद माने जाते हैं। **कौशल** स० कुशल का भाववाचक (सज्ञा) रूप है, और इस दृष्टि से इसे भी कला का (उसके मौलिक अर्थ मे) पर्याय मान सकते हैं। किसी

कार्य या बात के सभी अगो और उपागो का ठीक और पूरा ज्ञान प्राप्त करके दक्षता-पूर्वक उसे सहज मे और सुन्दर रूप मे सम्पन्न करना ही उस काम या बात से सम्बद्ध **कौशल** है। इसमे मुख्य भाव कोई काम ठीक ढग से करने का है। हम कहते हैं—उनके अभिनय (काव्य-रचना, नृत्य या भाषण) मे अपूर्व **कौशल** देखने मे आया। आशय यही होता है कि उन्होने अपने काम मे अपनी बहुत जानकारी और योग्यता दिखलाई। यह प्रायः अभ्यास पर आश्रित होता है। किसी काम मे ध्यानपूर्वक और खूब सोच-समझकर बराबर लगे रहने से ही मनुष्य उसमे **कौशल** प्राप्त तथा प्रदर्शित करता है। **कारीगरी** फा० कारीगर का भाववाचक रूप है। इसका प्रयोग मुख्यत कौशलपूर्वक कोई चीज बनाकर तैयार करने के ढग या रचना-कौशल के सम्बन्ध मे होता है। अच्छे बढई, लोहार और सुनार सभी अपने-अपने काम मे अच्छी **कारीगरी** दिखलाते या दिखला सकते है। जो वस्तु बहुत चतुरता और परिश्रम से और मोहक रूप मे बनाकर प्रस्तुत की जाती है, उसके सम्बन्ध मे कहा जाता है—यह बहुत **कारीगरी** का काम है। यो तो **दस्तकारी** या **हस्त-शिल्प** मे भी **कारीगरी** ही मुख्य होती है, पर इसमे प्राय ऐसे कामो का अन्तर्भाव होता है, जिनमे हाथ ही प्रधान होते हैं; बुद्धि, मस्तिष्क आदि के कार्य प्राय गौण रहते हैं। कसीदे या सूई का काम, टोकरियाँ बनाना, पच्चीकारी, बेल बूटे या फूल-पत्तियाँ अथवा इनकी आकृतियो से युक्त चीजें बनाना आदि काम **दस्तकारी** या **हस्त-शिल्प** मे आते हैं। **शिल्प** वह बहुत बडा वर्ग है, जिसमे अधिकतर ऐसे काम आते हैं जो शारीरिक शक्ति और यत्रो की सहायता से पूरे होते हैं; और जिनके द्वारा लोगो के उपयोग के लिए, व्यापारिक दृष्टि से, चीजे बनाकर तैयार की जाती हैं। ऐसे कामो मे अपने कौशल, रचना-तत्र, सुरुचि आदि प्रदर्शित करने का भी अच्छा अवसर मिलता है। कपडे बुनना और सीना, चमडे की चीजें बनाकर तैयार करना, मेज-कुरसियाँ आदि बनाना और इस प्रकार के दूसरे बहुत-से काम **शिल्प** के ही अन्तर्गत आते हैं।

कलाकार (Artist)

कारीगर (Artificer)
दस्तकार=शिल्पी
मिस्तरी
मूर्त्तिकार (Sculptor)
यांत्रिक (Mechanic)
वास्तुकार (Architect)
शिल्पी (Artisan)

इस वर्ग के सभी शब्द ऐसे लोगो के वाचक हैं जो अच्छे ढग से और सुन्दर रूप मे उपयोगी वस्तुएँ बनाने का व्यवसाय करते हैं। अच्छे ढग और विशेष कौशल से सुन्दर वस्तुएँ बनाना कला है, और कला-सम्बन्धी काम करनेवाला **कलाकार** कहलाता है। हमारे यहाँ काम-शास्त्र मे अपने विस्तृत अर्थ मे ६४ कलाएँ (दे०—'कला') मानी गई है, और आज-कल की अधिकतर कलाओ का उन्हीं मे अन्तर्भाव हो जाता है। पहले **कलाकार** के मन मे कोई भाव या रूप आता है; और तब वह उसे सौन्दर्य की कोमल तथा सूक्ष्म भावनाओ से युक्त करके कौशलपूर्वक मूर्त्त रूप मे लोगों के सामने उपस्थित करता है। कविता, चित्रकारी, मूर्त्तिकारी, शिल्प आदि से सम्बन्ध रखनेवाले जितने काम होते हैं, उन सबके कर्त्ता **कलाकार** कहलाते हैं। **कारीगर** फारसी भाषा का शब्द है। इसमे का 'कार' स० कार्य का और 'गर' स० कर का रूपान्तर मात्र है। **कारीगर** का शब्दार्थ है—काम करनेवाला, परन्तु अपने प्रचलित अर्थ में **कारीगर** वह कहलाता है जो विशेष कौशलपूर्वक रचना-सम्बन्धी कोई कार्य करता या नई तरह की चीजें बनाकर तैयार करता है। कुम्हार, बटई, राज, लोहार, सुनार आदि सभी तरह के अच्छे काम करनेवाले **कारीगर** कहलाते हैं। **मिस्तरी** शब्द अँगरेजी मास्टर से बना है, जिसका अर्थ है—उस्ताद, कुशल या दक्ष। पर आज-कल या तो बटई, राज, लोहार आदि **मिस्तरी** कहलाते हैं या वे लोग जो कल-पुरजो, यत्रो आदि की मरम्मत करते हैं। हाथ से चीजे बनाकर तैयार करने की कला ही दस्तकारी या शिल्प है, और इस प्रकार का काम करनेवाला **दस्तकार** या **शिल्पी** कहलाता है। खिलौने, जूते, टोपियाँ, मूर्त्तियाँ आदि बनानेवाले

कारीगर **शिल्पी** कहे जाते हैं। इसके लिए रचनात्मक कल्पना शक्ति के सिवा वस्तुओं मे पूर्णता लाने का कौशल आवश्यक होता है। **यान्त्रिक** वह कहलाता है जो या तो अनेक प्रकार के यन्त्र बनाता हो या उनके कल-पुरजों की मरम्मत करता हो। इस वर्ग के साधारण व्यक्ति ,जो केवल मरम्मत का काम करते है, प्राय **मिस्तरी** भी कहलाते हैं। ऐसे लोगों के काम करने का प्राय बँधा हुआ ढग और रास्ता होता है, जिससे वे इधर-उधर नहीं हो सकते। **मूर्त्तिकार** वह है जो मूर्त्तियाँ बनाने का काम करता हो, फिर वे मूर्त्तियाँ चाहे काठ की हो, चाहे धातु की, चाहे पत्थर की और चाहे मिट्टी की। ऐसा आदमी **कलाकार** भी होता है और **कारीगर** भी, क्योंकि उसमे उद्भावना भी होती है और कौशल भी। सब तरह के मकान, पुल आदि बनानेवाले या इमारती काम करनेवाले लोग **वास्तुकार** कहलाते हैं। यद्यपि इमारत बनाने के काम मे लगे रहनेवाल सभी तरह के मिस्तरी, राज आदि **वास्तुकार** के वर्ग में आते हैं, तो भी आज-कल यह शब्द एक विशिष्ट वर्ग का वाचक बन गया है। जो विशेषज्ञ बड़े-बड़े पुलो, बाँधों, भवनो आदि के नक्शे बनाकर आदि से अन्त तक उनकी तैयारी की देख-रेख और व्यवस्था करते हैं, वे **वास्तुकार** कहलाते हैं।

कविता (Poetry)

अतुकान्त = अनुप्रास-हीन
अनुप्रास-हीन (Blank verse)
काव्य (Poem)
खंड काव्य
गीत (Song)
छन्द् (Meter)
छन्दोबद्ध रचना (Metrical composition)
पद्य (Verse)
पद्यात्मक रचना=छन्दोबद्ध रचना
प्रगीत (Lyric)
प्रबन्ध
महाकाव्य (Epic)
मुक्तक
लय (Rhythm)

निर्बन्ध

कविता वह साहित्यिक रमणीय रचना है, जिसमे मनोभावो को प्रभावित तथा परिष्कृत करके मन को रसमय बनानेवाले अनोखे और सुन्दर भाव, विचार या कल्पनाएँ कलात्मक ढग से छन्दोबद्ध, लय-युक्त और सगीतमय भाषा मे गूथी जाती हैं। अपने विस्तृत अर्थ मे यह भी भाषा और सगीत की तरह *उन सभी सुन्दर बातो की सूचक होती है, जिनका हमारी कल्पना शक्ति और मनोवृत्ति पर आकर्षक तथा सुखद प्रभाव पडता है। जैसे—उपवन के फूलों की कविता, आकाश-गगा के तारों की कविता आदि। पर अपने साधारण, सीमित और रूढ अर्थ मे प्राय सभी प्रकार की कल्पनात्मक और छन्दोबद्ध रचनाएँ कविता कहलाती हैं, और उनमे व्यक्त किये हुए भाव प्राय उच्च कोटि के और बहुत सूक्ष्म होते हैं। पर जो रचनाएँ छन्दोबद्ध होने पर भी उक्त गुणों तथा विशेषताओ से रहित होती हैं, वे साधारणत पद्य या पद्यात्मक अथवा छन्दोबद्ध रचनाएँ

---

* जैसे—पशु-पक्षियों या नेत्रो की भाषा, नदी या समुद्र की लहरों का संगीत आदि।

कहलाती हैं। यों व्युत्पति की दृष्टि से भी और अपने मौलिक अर्थ मे भी **काव्य** और **कविता** दोनों एक ही हैं—दोनो कवि की पद्यात्मक रचना हैं। फिर भी **कविता** की अपेक्षा **काव्य** मे कुछ विशिष्ट अर्थ या भाव लग गया है। **कविता** तो कवि की रचना है, और **काव्य** कुछ विशिष्ट प्रकार और विषय की क्रम-बद्ध रचनाओ का ग्रन्थ के रूप मे सग्रह है। हमारे साहित्यकारो ने **काव्य के दो** भेद किये हैं—**प्रबन्ध** और **निर्बन्ध**। **प्रबन्ध** वह कहलाता है जिसमे कोई कथा क्रम-बद्ध रूप से कही जाती है। इसके मुख्य दो भेद हैं—**खंड काव्य** और **महाकाव्य***। पहले **खड काव्य** उसी को कहते थे जिसमे महा-काव्य के ढग पर ही किसी के जीवन के एक खड या अश मात्र का विस्तार से वर्णन होता था। पर आज-कल साधारणत **खड काव्य** वह कहलाता है, जिसमे किसी एक कथा, घटना या जीवन का कुछ विस्तार से क्रम-बद्ध वर्णन होता है। जैसे—हरि औध कृत वैदेही-वनवास। **महाकाव्य** मूलत वह कहलाता था जिसमे विस्तार से एक पूरे जीवन के वृत्तान्त होते थे। पर बाद मे साहित्यकारों ने इसका क्षेत्र और विस्तार बहुत बढा दिया और इसके लिए अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये। जैसे—यह शृ खला-बद्ध होने के सिवा सर्ग-बद्ध भी होना चाहिए, इसका नायक देवता, राजा या धीरोदात्त क्षत्रिय होना चाहिए, इसमे शृङ्गार, वीर या शान्त रस मे से कोई रस प्रधान होना चाहिए, बीच-बीच मे और रस भी -आने चाहिएँ, अनेक प्रकार के प्राकृत दृश्यों और शोभाओ, मानव तथा लौकिक जीवन के भिन्न-भिन्न अगों, कार्यों, घटनाओं आदि का भी विस्तार से वर्णन होना चाहिए, इत्यादि। इस दृष्टि से रामायण और महाभारत तो **महाकाव्य** हैं ही, कालिदास कृत रघुवश, माघ कृत शिशुपाल-वध, भारवि कृत किरातार्जुनीय और श्रीहर्ष कृत नैषध-चरित भी **महाकाव्य** हैं। पर आज-कल साधारणत वह बहुत बडा काव्य ही **महाकाव्य** मान लिया जाता है जो कवित्व की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि का हो और जिसमें

---

* सस्कृत के साहित्यकारो ने प्रबन्ध का एक तीसरा भेद एकार्थ भी बतलाया है। यह महाकाव्य और खड काव्य के बीच की रचना है। कामायनी, वैदेही-वनवास, साकेत आदि सैद्धान्तिक दृष्टि से इसी वर्ग मे आते है।

अनेक प्रकार के विषयों का बहुत अच्छे ढग से विस्तृत वर्णन हो। जिस रचना मे कोई विशेष कथा न हो और जिसमे स्वच्छन्द रूप से कोई तथ्य, भाव या रस व्यक्त किया गया हो, उसे **निबन्ध** या **मुक्तक** कहते हैं। कभी-कभी कोई एक ही भाव या विचार दो, तीन, चार या पाँच छन्दों मे भी पूरा होता है। सस्कृत मे ऐसी कविताओं के अलग अलग नाम हैं; पर हिन्दी मे इनका प्रचलन नहीं है। हमारे यहाँ आज-कल **मुक्तक** मुख्य रूप से ऐसी कविता कहलाती है जिस मे किसी एक विषय का कोई एक विचार एक ही छन्द या पद्य मे पूरा कर दिया जाता है। इसके किसी छन्द या पद्य मे कोई क्रमिक सम्बन्ध नहीं होता। या यों समझिए कि इसमे किसी घटना की कोई क्रम-बद्ध चर्चा नहीं होती। जैसे—बिहारी सतसई, गिरधर या दीनदयाल गिरि की कुडलियाँ आदि। **निबन्ध** के इसी वर्ग मे **गीत** और **प्रगीत** भी आ जाते हैं। जो कविता लोगो के गाने मात्र के उद्देश्य से बनाई जाती है, वह **गीत** कहलाती है। कहीं तो इसमे छन्द शास्त्र के नियमों का ठीक तरह से पालन होता है और कहीं कुछ शिथिलता से। साधारणत **गीत** का पहला चरण कुछ छोटा होता है और शेष चरण बडे और बराबर होते हैं। पर कुछ गीतों मे सभी चरण कुछ छोटे-बडे भी होते हैं। इन मे **लय** तो होती ही है, अनुप्रास या तुक का भी ध्यान रखा जाता है। **प्रगीत** शब्द स० गीत के पहले प्र उपसर्ग लगाकर बनाया गया है। इस का धात्वर्थ है—जो गाकर कहा या सुनाया गया हो। पर अब यह शब्द एक नये प्रकार के गीतो का वाचक हो गया है। रचना का यह नया प्रकार हमारे यहाँ पाश्चात्य साहित्य से आया है। यह वस्तुत **गीत** का एक विशिष्ट प्रकार या रूप ही है। **गीतो** मे तो बहुधा मनोभाव प्रधान होते हैं, परन्तु **प्रगीत** मे विशिष्ट रूप से कवि का व्यक्तित्व प्रकट होता है—वह कवि की निजी अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब होता है। हिन्दी मे श्रीमती महादेवी वर्मा के प्रगीत बहुत उच्च कोटि के और परम प्रसिद्ध हैं। **पद्य** (गद्य का विपर्याय) का अर्थ है—पद या चरण सम्बन्धी अथवा पदों या चरणो से युक्त। छन्दो की नपी-तुली पंक्तियाँ उनके **पद** या **चरण** कहलाती हैं। ऐसे पदों से युक्त (अर्थात् छन्दों के रूप मे की हुई) रचनाएँ **पद** कहलाती हैं। छन्द वस्तुत वे साँचे हैं जिनमें अनेक प्रकार के पद्य ढाले

जाते हैं। हमारे यहाँ संस्कृत से आये हुए भी और बाद मे नये बने हुए भी सैकड़ों प्रकार के छन्द हैं। जिस शास्त्र मे छन्दो की रचना के विस्तृत नियमो और लक्षणों का विवेचन होता है, उसे **छन्द शास्त्र** या **पिंगल** कहते हैं। **छन्द** दो प्रकार के कहे गये हैं—मात्रिक* और वर्णिक। जिन छन्दो मे केवल मात्राओं की गिनती का ध्यान रखना पडता है, वे **मात्रिक** कहलाते हैं। चौपाई, दोहा, रोला आदि इसी वर्ग के छन्द *हैं। **वर्णिक** छन्द या **वर्ण वृत्त** वे कहलाते हैं, जिनमें अक्षरों या वर्णों की संख्या के सिवा लघु-गुरु आदि के नियत क्रमो और नियमों का भी ध्यान रखना पडता है। जैसे—इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, मन्दाक्रान्ता, मालिनी आदि। इधर कुछ दिनो से हिन्दी मे (बँगला के अनुकरण पर) पाश्चात्य ढग की एक नये प्रकार की कविता भी होने लगी है, जो **अतुकान्त** या **अनुप्रास-हीन** कविता कहलाती है। इसमे न तो छन्द शास्त्र के नियमों का कोई ध्यान रखा जाता है, न अनुप्रास या तुक का। हाँ, लय कुछ अवश्य होती है। इसमे अलग-अलग पंक्तियों के रूप मे चरण या पद तो अवश्य होते हैं, पर न तो उनकी कोई निर्धारित संख्या होती है, न उनके विस्तार की कोई मिति या माप होता है। कोई चरण छोटा और कोई बडा, कोई बहुत छोटा और कोई बहुत बडा होता है। लय† वह तत्त्व है जिसका अस्तित्व कविता और संगीत दोनो मे होना आवश्यक क्या, अनिवार्य है। शब्दों और स्वरों का ठीक ढग से उतार-चढाव, गति या प्रवाह ही **लय** उत्पन्न करता है। यह आवश्यक नही है कि ऐसा उतार-चढाव बराबर नियमित और नपे-तुले अन्तरो पर ही होता रहे। फिर भी जब कुछ न कुछ नियमित रूप से और उचित अन्तरों पर शब्दो, पदो आदि का विन्यास होता है, तब रचना मे **लय** वाला तत्त्व आता है। इसके सौन्दर्य की अनुभूति मन को ही होती है। इसका मुख्य सम्बन्ध गति या प्रवाह के सुन्दर ढग से है। नृत्य के समय जहाँ अगो का सचालन होता है, अथवा चित्रो मे जहाँ रेखाएँ

* इन्हे मात्रा वृत्त और जाति छन्द भी कहते हैं।

† हिन्दी में अपने दूसरे अर्थों मे लय शब्द पुं० होने पर भी प्रस्तुत अर्थ और प्रसग मे स्त्री-लिंग ही माना जाता है।

चलती हैं, वहाँ भी उनमे उपयुक्त अन्तरो और अवसरो पर कुछ न कुछ नियमित रूप और खास ढग से ऐसा उतार-चढाव रखना ही पडता है कि गति या प्रवाह में सौन्दर्य बना रहे—अचानक एक मुद्रा या विन्दु से दूसरी मुद्रा या विन्दु पर होती हुई उछाल या कुदान न जान पड़े। गति या प्रवाह का यही सौन्दर्य पारिभाषिक क्षेत्रो में लय कहलाता है। यही **लय** कविता और सगीत की जान है।

काल (Time)

अनुयुग=शाक	**भोग-काल** (Duration)
अवधि (१. Period. २ Term)	**युग** (Age)
कल्प (Era)	**शाक** (Epoch)
कालावधि (Period)	**समय=काल**

काल उसी स० कल् धातु से बना है, जिसका अर्थ है—गिनना, हिसाब लगाना आदि और जिससे कलन (गणना) शब्द बना है। इसका यह नाम कदाचित् इसी लिए पडा है कि गणना के बिना इसकी कल्पना या ज्ञान हो ही नही सकती। यह शब्द अर्थ और मान दोनो के विचार से बहुत विस्तृत और व्यापक है, और अनेक अशो में **समय** का पर्याय क्या, बल्कि समानार्थी ही है। यह अनादि और अनन्त है। सारे विश्व मे जितनी घटनाएँ अब तक हुई हैं अथवा भविष्य मे होगी, उन सबका इसी मे अन्तर्भाव होता है और होगा। जो कुछ बीत चुका है, वह सब भूत काल है, और जो अभी आने को है, वह भविष्य काल। इन दोनों के बीच का विन्दु या विभाजक रेखा वर्तमान काल है। प्रत्येक क्षण जो आता है, वह बीतते ही भूत काल मे चला जाता है। इसका परिमाण स्थिर करने के लिए मनुष्य ने घड़ी, पहर, दिन, रात, ऋतु, वर्ष आदि बनाये और मान रखे हैं। ये सब **काल** की अनन्त शृखला की छोटी-मोटी कड़ियाँ

मात्र हैं। एक नियत विन्दु से दूसरे नियत विन्दु तक के बीच का सारा अवकाश **काल** कहलाता है। जैसे—जीवन-काल, भोग-काल, राज्य-काल आदि। इस प्रकार की किसी निश्चित अवधि के बीच का बहुत-कुछ अनिश्चित समय भी काल है, जैसे—प्रात काल, सायकाल आदि। इसके सिवा यह किसी एक ही निश्चित विन्दु का भी वाचक होता है, जैसे—उदय-काल, जन्म काल, प्राप्ति-काल आदि। **काल** तो मुख्यत दार्शनिक और पारिभाषिक शब्द है, पर **समय** सार्विक और लोक-प्रचलित शब्द। **काल** की अपेक्षा **समय** कुछ अधिक अनिश्चय के भाव से युक्त है, और साधारण रूप मे इसकी व्याप्ति भी अपेक्षया परिमित या अल्प ही होती है। जैसे—इस समय, उस समय, किसी समय आदि। हम कहते हैं—किसी का **समय** सदा एक-सा नही रहता। ऐसे प्रसंगो में यह दशा, स्थिति आदि का भी वाचक बन जाता है, और तब इसकी जगह **काल** का प्रयोग नही हो सकता। हाँ, जब इसमे दशा, स्थिति आदि का भाव नहीं रहता और यह अपने विशुद्ध मूल अर्थ मे प्रयुक्त होता है, तब इसके स्थान पर **काल** का भी प्रयोग हो सकता है। उदाहरण के लिए—'काल-यापन' का भी वही अर्थ है, जो 'समय बिताना' का है। **काल** का जो अन्त या मृत्युवाला अर्थ प्रसिद्ध है, वह भी इसी **समय** वाले अर्थ से लिया गया है। जब हम कहते हैं—'उसका **काल** आ गया।' तब हमारा आशय यही होता है कि उसका अन्तिम **समय** आ गया। '**काल** सबको खा जाता है।' का भी यही आशय है कि सबके अस्तित्व का कुछ नियत **समय** होता है, और वह **समय** आ जाने पर उस वस्तु या व्यक्ति का अस्तित्व नही रह जाता।

काल और **समय** के सिवा इस माला के और सभी शब्द इनके किसी न किसी अश या विभाग के सूचक हैं। इनमे **कल्प** और **युग** भारतीय काल-गणना-प्रकार के पारिभाषिक शब्द हैं, और कुछ विशिष्ट अर्थ तथा मान से युक्त हैं। पौराणिक दृष्टि से ब्रह्मा का एक दिन **कल्प** कहलाता है। यह एक हजार युगों अर्थात् ८ अरब ३२ करोड वर्षों का होता है। ऐसे तीस दिनो का ब्रह्मा का एक महीना होता है, और ऐसे १२ महीनो का एक वर्ष। कहते हैं कि ब्रह्मा के ऐसे ५० वर्ष बीत चुके हैं; और आज-कल ५१ वे वर्ष के पहले महीने का पहला दिन

चल रहा है, जिसका नाम श्वेत वाराह **कल्प** है। प्रत्येक **कल्प** के अन्त मे जगत का पूरा विनाश हो जाता है, और तब फिर से नई सृष्टि का आरम्भ होता है। इसी **कल्प** के अलग-अलग उप-विभाग **युग** कहलाते हैं। ये सख्या मे चार कहे गये हैं—सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। आज-कल कलियुग का प्रथम चरण अर्थात् पहला चौथाई भाग चल रहा है। मानव वर्षों के हिसाब से युगो के वर्षों की सख्या इस प्रकार कही गई है—

सत्ययुग या कृत युग—१७२८००० वर्ष
त्रेता—१२९६००० वर्ष
द्वापर—८६४००० वर्ष
कलियुग—४३२००० वर्ष

यह भी कहा गया है कि सत्ययुग मे सत्य और धम को पूरी प्रधानता रहती है, और इसी लिए यह सर्वोत्तम माना जाता है। त्रेता मे सत्य और धर्म तीन-चौथाई रह जाते हैं, और पाप का एक चरण या चौथाई अश आ जाता है। द्वापर मे सत्य और धर्म आधे रह जाते है, और अधर्म तथा पाप का आधा अश सामने आ जाता है। कलियुग मे सत्य और धर्म एक चौथाई रह जाते हैं, अधर्म और पाप तीन-चौथाई हो जाते हैं। यह भी कहा गया है कि कलियुग मे पाप दिन पर दिन बढता जाता है, इसी से इस युग के अन्त मे सृष्टि का पूर्ण विनाश या प्रलय होता है।

आज-कल पाश्चात्य धारणाओं के अनुसार **कल्प** तथा **युग** के कुछ और ही अर्थ लिये जाने लगे हैं। हमारे यहाँ अब तक **कल्प** का प्रयोग उसी विशुद्ध पौराणिक अर्थ मे होता था, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। परन्तु अब इसका प्रयोग पुरा-शास्त्र और भू-शास्त्र मे बडे-बडे वैज्ञानिक काल-विभागो के सम्बन्ध मे भी होने लगा है, जैसे—आदि कल्प, उत्तर कल्प, पुरा कल्प, मध्य कल्प, और नव कल्प*। ऐसे अवसरो पर **कल्प** का प्रयोग सृष्टि की कुछ अलग-अलग प्रकार की

* Archeozoic, Proterozoic, Paleozoic, Mesozoic और Cenozoic या Neozoic.

विकासात्मक स्थितियो का सूचक होता है। साधारण रूप मे **युग** का भी बहुत कुछ यही अर्थ माना जाता है। परन्तु जिस प्रकार पौराणिक दृष्टि से **कल्प** कई युगों में बँटा है, उसी प्रकार आधुनिक दृष्टि से **युग** को भी **कल्प** का अंग या विभाग ही मानते हैं। साधारणत **युग** भी ऐसे काल-विभाग का सूचक माना जाता है, जिसमे कुछ विशिष्ट प्रकार की घटनाओं, रीतियो, रूढियो, व्यवहारो अथवा व्यक्तियो की प्रधानता रही हो अथवा रहती हो। जैसे—उपनिषदो का युग, शृंगारिक कविताओ का युग, भारतेन्दु युग, गान्धी युग आदि। हम यह भी कहते हैं—आज-कल चोरी और बेईमानी का युग है, अथवा अब तो परमाणु युग आ रहा है। इस दृष्टि से कहीं तो इसके काल-मान का विस्तार अधिक होता है और कहीं कम।

अवधि के हिन्दी मे दो अर्थ हैं। पहले अर्थ मे भावी समय की किसी ऐसी सीमा का भाव मुख्य है, जो किसी काम या बात के लिए निश्चित या स्थिर की गई हो। जैसे—उन्हें मकान खाली करने के लिए एक मास की **अवधि** दी गई थी। आशय यही है कि एक महीने के अन्दर या उसकी अन्तिम तिथि तक मकान खाली हो जाना चाहिए था। दूसरा अर्थ दो निश्चित काल-बिन्दुओ के मध्यवाले समस्त भाग का वाचक है। जब हम कहते हैं कि अमुक अधिकारी या कर्मचारी की **अवधि** पूरी हो गई है, तब आशय यही होता है कि जितने समय के लिए वह नियुक्त किया गया था, अथवा नियमतः जितने समय तक उसे काम करना या उस पद पर रहना चाहिए था, उतना समय पूरा हो गया है। **कालावधि** भी बहुत-कुछ वही है जो **अवधि** है; और इसमें भी किसी काम के लिए निश्चित किये हुए समय का भाव ही मुख्य है। **भोग-काल*** भी है तो बहुत कुछ वही जो **अवधि** या **कालावधि** है, पर इसमे समय की अपेक्षा घटना, व्यक्ति आदि के चलन, अवस्थान या स्थिति का भाव

* साधारणत. अ० ड्यूरेशन (Duration) के लिए हिन्दी मे 'समय' अथवा 'दिनों में' ही चलता है। जैसे—युद्ध के समय अथवा युद्ध के दिनों में। पर कुछ अवस्थाओ मे इसके लिए एक स्वतत्र शब्द की भी आवश्यकता हो सकती है, इसी लिए भोग-काल पद स्थिर किया गया है।

प्रधान है। जितने समय तक कोई बात होती रहती है, अथवा किसी व्यक्ति का कोई काम होता रहता है, उतना समय उसका **भोग-काल** होता है। यह शब्द मुख्यत ज्यौतिष से सम्बद्ध है, पर साधारण लोक-व्यवहार मे भी इसका प्रयोग हो सकता है। राशियों मे आकाशस्थ ग्रहों का **भोग-काल** तो प्रसिद्ध ही है। जितने दिनो तक कोई ग्रह किसी राशि मे रहता है, उतने दिनो का उसका **भोग-काल** माना जाता है। पर यों भी हम कह सकते हैं—अगले सूर्य-ग्रहण का **भोग-काल** १।। घण्टे होगा, अर्थात् १।। घण्टे तक ग्रहण लगा रहेगा। अथवा यह भी कह सकते हैं—राज-सत्ताओं के **भोग काल** के आधार पर ही इतिहास मे तिथियॉ और वशावलियाँ निश्चित होती हैं, और इन्ही के अन्तर्गत अलग-अलग राजाओं का राज्य-काल (या समय) निश्चित होता है। एक ही **भोग-काल** मे कई प्रकार की बातें या घटनाऍ होती रहती हैं। **शाक** वस्तुत स० शक से बना हुआ विशेषण है, जिसका अर्थ है—शक-जाति से सम्बन्ध रखनेवाला। शक सवत् कभी कभी **शाक** सवत् भी कहलाता है, और हम स० १८६० शाके भी कहते हैं। सज्ञा रूप मे यह शब्द सवत् का भी वाचक है। परन्तु प्रस्तुत प्रसग मे **शाक** वह विशिष्ट समय कहलाता है, जब किसी नई कालावधि का आरम्भ होता है अथवा जब से कुछ विशेष महत्त्व की घटनाऍ या परिवर्त्तन होने लगते हैं। जैसे—प० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी में आलोचना का एक नया शाक प्रवर्त्तित किया (या चलाया) था। **अनुयुग** स० युग मे 'अनु' उपसर्ग लगाकर बनाया गया है, और आशय तथा प्रयोग के विचार से यह भी वही है, जो **शाक** है। पुरा-शास्त्र और भू-शास्त्र की दृष्टि से तो **अनुयुग** ठीक है, पर सार्विक प्रयोग के लिए **शाक** ही अच्छा और चल सकने योग्य शब्द है।



कुल-तंत्र (Oligarchy)

अभिजात-तंत्र (Aristocracy) धनिक तंत्र (Plutocracy)

अल्प-तंत्र*=कुल-तंत्र

इस वर्ग के शब्द ऐसी शासन-प्रणालियों के वाचक हैं जिनमे शासन की बाग-डोर थोड़े-से लोगों के हाथ मे रहती है, फिर राज्य चाहे लोक-सत्ता के अधीन हो, चाहे राज-सत्ता के अधीन। अर्थात् लोक-तन्त्री राज्य भी इन वर्गों मे हो सकते हैं, और किसी राजा द्वारा शासित होनेवाले राज्य भी। वास्तविक आशय यही होता है कि शासन के अधिकार वस्तुत जिस राजा या प्रजा (अथवा उसके प्रतिनिधियो) के हाथ मे होने चाहिएँ, उनके हाथ से निकलकर कार्यत कुछ और तरह के थोडे से लोगो के हाथ मे चले जाते हैं। कुल-तन्त्र वह कहलाता है, जिसमे राज्य के सब काम क्रियात्मक रूप से (अर्थात् वस्तुत) अथवा प्रत्यक्ष या स्पष्ट रूप से कुछ विशिष्ट लोग मिलकर ही चलाते हों। जहाँ कुछ लोगों का गुट ही शासन करता हो, वही कुल-तंत्र कहलाता है। अभिजात-तत्र वस्तुत जिस प्रकार की शासन-प्रणाली का वाचक हैं, वह बहुत दिन पहले यूनान मे प्रचलित थी, और वहीं से इसका मूल अँगरेजी शब्द इतिहास के ग्रन्थो मे आया है। इस प्रणाली के अनुसार राज्य के उच्च तथा प्रतिष्ठित वर्ग के लोग ही मिलकर शासन के सब काम करते थे। अभिजात का अर्थ है—उच्च या श्रेष्ठ कुल मे उत्पन्न व्यक्ति, और प्राचीन यूनान मे ऐसे ही लोग बड़े-बडे जमींदार और रईस

---

* अँगरेजी Oligarchy के लिए अल्प-तन्त्र शब्द इसलिए ठीक नही है कि हमारे यहाँ 'अल्प' शब्द पर अल्प मत (Minority) की गहरी रंगत चढ़ चुकी है, और इसलिए अल्प-तन्त्र का अर्थ अल्प-मतवालों का शासन (Rule of minority) हो जायगा। इसके लिए कुल-तन्त्र शब्द इस दृष्टि से अधिक उपयुक्त है कि संस्कृत में कुल शब्द का पहला अर्थ ही है—कुछ लोगो का दल, वर्ग या समूह। समष्टि की तुलना में यह थोड़े-से लोगों के गुट का ही वाचक शब्द है।

होते थे। पर आज-कल इस शब्द का इसलिए कोई वास्तविक महत्त्व नहीं रह गया है कि अब न तो कहीं सामाजिक दृष्टि से अभिजात वर्ग का ही कोई पृथक् अस्तित्व है और न इस प्रकार की शासन-प्रणाली का ही। **अभिजात-तन्त्र** को भी हम एक प्रकार से **कुल-तंत्र** कह सकते हैं, पर दोनो मे कुछ अन्तर है। **अभिजात तन्त्र** एक विशुद्ध शासन-प्रणाली मात्र का वाचक शब्द है, पर **कुल-तन्त्र** मे कुछ दूषित भाव का भी पुट है। **कुल-तंत्र** मे शासन करनेवाले लोग मुख्यत स्वार्थ की भावना से अथवा कुछ दुष्ट उद्देश्यो से सारी शक्ति अपनी मुट्ठी मे दबाये रखते हैं; और उन लोगों के हाथ मे नहीं जाने देते जो वस्तुत उस शक्ति के अधिकारी होते हैं। **धनिक तन्त्र** का बहुत कुछ आशय स्वय इस पद से ही प्रकट होता है। यह भी **कुल-तन्त्र** की तरह बहुत कुछ बदनाम शासन-प्रणाली है। जिस राज्य मे (चाहे वह राज-सत्ताक हो, चाहे लोक-सत्ताक) कुछ बडे-बडे धनिक ही अन्दर-अन्दर सारे शासन-सूत्र अपने हाथ मे रखते और अपने स्वार्थ की दृष्टि से राज्य की नीति का संचालन करते हों, उसे **धनिक तन्त्री** राज्य कहते हैं। ससार की दृष्टि मे आज भी अमेरिका और इँगलैण्ड की शासन-प्रणालियाँ, वास्तविक अर्थ मे, बहुत-कुछ **धनिक-तंत्री** ही मानी जाती हैं।

कुशल (Skilled, Skillful*)

दक्ष (Adroit, Dexterous) **पारंगत, पारग**
निपुण (Adept) **प्रवीण** (Expert)
निष्ण, निष्णात (Accomplished) **विशेषज्ञ** (Specialist)
पटु (Proficient) **सुविज्ञ**

यो तो सस्कृत मे **कुशल** के अनेक अर्थ (अच्छा, ठीक, अच्छी दशा मे आदि) हैं; पर प्रस्तुत प्रसंग मे **कुशल** वह कहलाता है जो हर काम मे मानसिक

* यद्यपि अँगरेजी में स्किल्फुल और स्किल्ड में कुछ अन्तर है, पर हिन्दी मे दोनों के लिए 'कुशल' ही चलता है।

तथा शारीरिक दोनों प्रकार की शक्तियो का अच्छा और पूरा उपयोग करना जानता हो। कार्यों से सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञान और योग्यता का भी इसमे अन्तर्भाव होता है और कार्य-सम्पादन सम्बन्धी सतर्कता का भी। **कुशल** व्यक्ति सहज में अपने वर्ग के लोगों से आगे बढा हुआ और तेज दिखाई देता है; और वह अपने कामों के सिवा दूसरे काम भी सहज मे और अच्छी तरह पूरे कर सकता है। मनुष्य अपने वाणिज्य-व्यवसाय मे भी **कुशल** हो सकता है; और लोगों से बात-चीत करके उन्हे प्रभावित करने मे भी। **दक्ष** वह कहलाता है जो शरीर, मुख्यत हाथ से किये जानेवाले काम अच्छी तरह, जल्दी और सहज मे कर सकता हो; भले ही उसे उस काम का कोई प्रशिक्षा मिली हो या न मिली हो। वह कपडे सीने मे भी **दक्ष** हो सकता है, चित्र बनाने मे भी और हथियार चलाने मे भी। **निपुण** भी है तो बहुत कुछ वही, जो **कुशल** है, फिर से **कुशल** की तुलना मे **निपुण** और भी अधिक योग्यता के भाव का सूचक है। **निपुण** होने के लिए मनुष्य मे अनुभव और अभ्यास के सिवा कुछ प्राकृतिक गुणों और विशेषताओं की भी आवश्यकता होती है, और अध्ययन, प्रयोग आदि के द्वारा वह अपने कार्य या विषय का पूरा ज्ञाता हो जाता है। **निष्ण** वह कार्य है जो अच्छी तरह पूरा या सम्पन्न किया जा चुका हो, और **निष्णात** वह व्यक्ति है जो अपने कार्य या विषय का पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त करके उसका अच्छा जानकार या पंडित बन चुका हो। यों तो **निष्णात** और **पटु** बहुत कुछ एक ही हैं, फिर भी व्यक्ति की योग्यता के विचार से **पटु** अपेक्षया हलका और प्रयोग के विचार से अधिक व्यापक शब्द है। यह साधारणत **कुशल** का समानक ही माना जाता है। जो व्यक्ति किसी कार्य की शिक्षा प्राप्त करके (अथवा यो ही) व्यावहारिक दृष्टि से औरों की तुलना मे आगे बढ जाता है, वह **पटु** कहलाता है। ऐसा व्यक्ति किसी उद्योग-धन्धे या कला के सब सिद्धान्त भी अच्छी तरह जानता है और कौशल तथा प्रयोग भी। उसमे बुद्धि की स्वाभाविक प्रखरता दिखाई देती है, और वह नये काम भी सहज में सीख और कर सकता है। कोई कारीगर अपने काम मे **कुशल** होने पर भी उसी वर्ग के दूसरे कामों से अनजान रह सकता है या उनमे बोदा हो सकता है; पर **पटु** व्यक्ति अपने काम के सिवा दूसरे कामों मे भी बहुत कुछ होशियार होता

और आवश्यकता पडने पर उनका भी सम्पादन कर सकता है। **पारंगत** या **पारग** का व्युत्पत्तिक अर्थ है—वह जो उस पार जा चुका हो। पर प्रस्तुत प्रसग मे इसका प्रयोग ऐसे व्यक्ति के लिए होता है जो किसी विषय का सारा ज्ञान प्राप्त करके उसका पूरा पडित बन चुका हो—जिसके लिए उस विषय की और कोई बात जानना या और कोई काम करना बाकी न रह गया हो। इस दृष्टि से ये शब्द **निष्णात** के समानक ही ठहरते हैं। **प्रवीण** भी है तो **दक्ष**, **निपुण** और **पटु** के ही वर्ग का शब्द, परन्तु ज्ञान, योग्यता आदि के विचार से यह इन सबसे आगे बढा हुआ और अधिक कौशल का सूचक शब्द है। जो व्यक्ति किसी काम मे असाधारण रूप से निपुणता प्राप्त कर चुका हो और उसके सभी अगों-उपागों का पूरा ज्ञाता हो, वह उस विषय मे **प्रवीण** माना जाता है। इस दृष्टि से यह शब्द **निष्णात** और **पारगत** का सम-कक्ष हो जाता है। राज्य या शासन को जब किसी विषय मे परामर्श लेना या सुझाव माँगना होता है, तब वह प्राय **प्रवीणो** की समिति सघटित करता है। अच्छी शिक्षा या प्रशिक्षण, अध्ययन, अनुभव आदि के बल से ही मनुष्य किसी विषय मे प्रवीण हो सकता है। इसके लिए कार्य-कुशलता, ज्ञान और बुद्धि सभी की आवश्यकता होती है। **विशेषज्ञ** वह कहलाता है जिसने किसी विशिष्ट ज्ञान-विज्ञान मे अथवा उसकी किसी शाखा-प्रशाखा मे अच्छा कौशल और ज्ञान प्राप्त करके अपने लिए बहुत ऊँचा और विशिष्ट स्थान बना लिया हो। ज्ञान-विज्ञान या कला-कौशल के किसी विशिष्ट अग में **पारंगत** या **प्रवीण** होना ही उस विषय का **विशेषज्ञ** बनना है। यों साधारणत सभी चिकित्सक सभी प्रकार के रोगों की चिकित्सा करते हैं। पर जो चिकित्सक विशिष्ट रूप से क्षय रोग (अथवा आँख, कान आदि के रोगो) का अध्ययन करके मुख्य रूप से उसी रोग की चिकित्सा का अनुभव और ज्ञान प्राप्त करता है, वह उस रोग का **विशेषज्ञ** माना जाता है। कलाकार किसी विशिष्ट कला या उसके अंग-विशेप का और कारीगर किसी विशिष्ट उद्योग-शाखा का **विशेषज्ञ** हो सकता है। **सुविज्ञ** (अर्थ और प्रयोग दोनो की दृष्टि मे) सार्विक भी है और बहुत प्रचलित भी। विज्ञ का अर्थ है—जानकार, और **सुविज्ञ** का अर्थ हुआ—अच्छा या पूरा जानकार। साधारणत जो व्यक्ति बहुत तरह की

और बहुत-सी बातें जानता हो, वही **सुविज्ञ** कहलाता है। पर किसी एक विषय से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों का जिसे अच्छा ज्ञान हो, उसे भी उस विषय का सुविज्ञ कहते हैं, और इस दृष्टि से यह शब्द **विशेषज्ञ** के वर्ग मे जा सकता है, फिर भी यह है अपेक्षया हलका और सार्विक शब्द ही।

कोश (Dictionary)

अभिधान=**नाम-कोश**
कोश कला (Lexicology)
कोश-रचना (Lexicography)
जीवनी-कोश (Biographical Dictionary)
नाम-कोश (Nomenclature)
नाम-माला=**नाम-कोश**
निघन्टु (Lexicon)
पदावली (Phraseology)
पर्यायकी (Synonymy)
पर्याय कोश (Synonyms Dictionary)
पुराकोश=**निघन्टु**
भौगोलिकी (Gazetteer)
विश्व-कोश(Encyclopaedia)
शब्द-कोश=**कोश**
शब्दार्थी (Glossary)
शब्दावली (Vocabulary)

यों तो **कोश** का प्राथमिक अर्थ आधार या पात्र और परवर्ती अर्थ खजाना या भंडार है, पर प्रस्तुत प्रसग में अर्थ-सहित शब्दो का सग्रह ही कोश कहलाता है। कोश का साधारण लक्षण कहा गया है—कोश शब्दस्य सग्रह । अर्थात् जिस रचना मे केवल शब्दों का सग्रह हो, वह कोश है। शब्द भी अनेक प्रकार के होते हैं, और उनके सग्रह भी कई तरह के और कई दृष्टियों से होते हैं; इस-लिए **कोश** मुख्यत एक वर्ग-वाची शब्द है। पर साधारणत कोश का अर्थ

होता है—शब्दों का ऐसा संग्रह जिसमे उनके शुद्ध रूप और उनके अर्थ या व्याख्याएँ हों। प्राय अच्छे या बडे **कोशों** मे व्याकरण की दृष्टि से शब्द-भेद, **निरुक्ति** या व्युत्पत्ति, क्रिया-प्रयोग, **मुहावरे** और उदाहरण स्वरूप प्रामाणिक ग्रन्थों से प्रयोगों के उद्धरण भी दिये जाते हैं। जैसे अँग्रेजी, बँगला या हिन्दी **कोश**। अपने इस विशिष्ट रूप मे यही **शब्द कोश** भी कहलाता है। जब पाठकों को कोई ग्रन्थ पढते समय उसमे ऐसा शब्द मिलता है जिसके सम्बन्ध की कोई बात वे ठीक तरह से नहीं जानते, तब **कोश** या **शब्द कोश** उनकी जिज्ञासा पूरी करता और शकाओ का समाधान करता है। इसी लिए सब प्रकार के कोशो की गिनती अभिदेश 'ग्रन्थो या सन्दर्भ ग्रन्थो (Reference Books) मे होती है। अपने विस्तृत अर्थ मे **कोश** अनेक प्रकार के होते है। जैसे— इतिहास, गणित, दर्शन, भूगोल या वैद्यक से सम्बन्ध रहनेवाले कोश। और अपने इन रूपो में ऐसे कोश **शब्दावली** (देखे आगे) वाले विभाग या वर्ग में चले जाते हैं। **जीवनी कोश** वह कहलाता है जिसमें विशिष्ट पुरुषो के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली मुख्य घटनाओं का उल्लेख होता है। **नाम-कोश** उसे कहते हैं जिसमे केवल नाम-वाचक शब्दो अर्थात् सज्ञाओ का संग्रह हो। ऐके कोशो मे मुख्यत यही बतलाया जाता है कि अमुक नाम-वाचक सज्ञा के और क्या क्या नाम अर्थात् पर्याय हैं। उदाहरणार्थ—चन्द्रमा, पृथ्वी या समुद्र के और कौन कौन-से नाम हैं। सस्कृत और पुरानी हिन्दी मे इस प्रकार के बहुत-से कोश हैं, जैसे-अमर कोश, नन्ददास कृत नाम माला आदि। आज-कल पाश्चात्य भाषाओ मे जो अनेक प्रकार के पर्याय-कोश (देखे आगे) हैं, वे इसी के विस्तृत और विकसित रूप हैं। **निघन्टु** ऐसे कोश को कहते हैं जिसमे प्राचीन भाषाओ के अथवा ऐसे पुराने शब्दो का अर्थ-विवेचन होता है, जिनका प्रचलन लोक से उठ गया हो अथवा बहुत कम रह गया हो। यास्काचार्य का प्रसिद्ध **निघन्टु** वैदिक शब्दो का ऐसा कोश है जो वैदिक भाषा का प्रचलन उठ जाने और सस्कृत भाषा का प्रचार आरम्भ होने के समय बना था। पाश्चात्य देशो मे **कोश-रचना** का काम इसी दृष्टि से आरम्भ हुआ था। वैदिक आदि विशिष्ट विषयो के जिन शब्दो से जन-साधारण बहुत कम परिचित होते हैं, उन शब्दो और उनके विवेचनो से

सम्बन्ध रखनेवाले कोश भी **निघन्टु** कहलाते हैं। **पदावली** किसी विशिष्ट वैज्ञानिक विषय के पारिभाषिक शब्दों तथा पदो की सूची होती है, और उसके साथ अर्थ भी हो सकते हैं। जैसे विधिक या सविधानिक **पदावली**। **पर्याय कोश** भी बहुत कुछ वही है जो **नाम कोश** है। इसमे साधारणत यह बतलाया जाता है कि अमुक शब्द के कितने और कौन-कौन से पर्याय हैं। पर आज-कल पाश्चात्य भाषाओ के पर्याय-कोशो का विवेचन-क्षेत्र अपेक्षया बहुत विस्तृत हो गया है, और इसी लिए ऐसे कोशों की उपयोगिता भी पहले से बहुत बढ गई है। अब तो इस विषय को एक शास्त्र का सा रूप प्राप्त हो गया है, जिसे **पर्यायकी** कहते हैं। (दे० पर्याय) आज-कल **पर्याय** कोशो मे मुख्यत यह बतलाया जाता है कि एक दूसरे के पर्याय माने जानेवाले शब्दो मे वस्तुत अर्थ तथा प्रयोग सम्बन्धी क्या अन्तर या भेद हैं, किस पर्याय का कहाँ प्रयोग होना चाहिए और कहाँ नही होना चाहिए, और आवश्यकतानुसार पर्यायों के विपर्याय भी बतला दिये जाते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ पर्याय-दर्शी कोश ही है और इसी नवीन वर्ग का है। **पुराकोश** नया शब्द है और **निघन्टु** का समान मात्र है। **भौगोलिकी** उसे कहते हैं जिसमे किसी विशिष्ट देश, महादेश अथवा सारी पृथ्वी के केवल भौगोलिक नामों और उनमे भी मुख्यत नगरों, नदियो, पर्वतों आदि के सम्बन्ध की मुख्य मुख्य बाते बतलाई जाती हैं। सभ्य देशों के राज्य ऐसी **भौगोलिकी** स्वय तैयार कराते हैं, जिसमे हर नगर या बस्ती का पुराना इतिहास और उसके निवासियो, उद्योग-धन्धों आदि का विवेचन या परिचय रहता है। **विश्व कोश** वह कहलाता है जिसमे ससार भर के सभी मुख्य मुख्य विषयो का विस्तृत विवेचन करनेवाले अलग अलग ऐसे बडे निबन्ध या लेख होते हैं जिनमे उन विषयो की सभी जानने योग्य बाते रहती हैं। किसी विशिष्ट देश, धर्म, कला, साहित्य आदि की समस्त ज्ञातव्य बातों से सम्बन्ध रखनेवाले स्वतत्र **विश्व कोश** भी होते हैं। **शब्द-कोश** का सकलन या सम्पादन तो एक व्यक्ति भी करता या कर सकता है, पर **विश्व कोश** के अलग अलग विषयों के लेख प्राय अलग अलग विशेषज्ञ विद्वानो के ही लिखे हुए होते हैं। **शब्दार्थी** वह कहलाती है जिसमें किसी एक विषय या ग्रन्थ से सम्बन्ध रखनेवाले कठिन शब्दो के अर्थ मात्र होते हैं। इनमे शब्दो का

वैसा विस्तृत विवेचन नहीं होता, जैसा **शब्द-कोशो** मे होता है। **शब्दावली** भी बहुत कुछ वही है जो **शब्दार्थी** है, पर **शब्दावली** के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसमे अर्थ भी हो ही। किसी विपय या किसी क्षेत्र मे प्रयुक्त होने-वाले सब अथवा विशिष्ट शब्दो का संग्रह या समूह ही **शब्दावली** कहलाता है। हम कहते हैं—बच्चों की **शब्दावली** बहुत परिमित होती है। अर्थात् बच्चो को बहुत थोडे शब्दों का ज्ञान होता हैं। किसी विशिष्ट विषय की **शब्दावली** ही **शब्द-माला** भी कहलाती है। हमारे यहाँ सस्कृत के प्राचीन कोशो मे शब्द-सग्रह के अनेक प्रकार के क्रम होते थे, पर आज-कल **कोश** और उसके वर्ग की सभी रचनाएँ पाश्चात्य कोशो के ढग पर प्राय अक्षर-क्रम से ही प्रस्तुत की जाती हैं। **शब्द-कोश** बनाने का काम **कोश रचना** कहलाता है। इसमे सभी तरह के कोश, शब्दावलियाँ आदि बनाने का काम आ जाता है। **कोश कला** वह विद्या या शास्त्र है जिसमें इस बात का विवेचन होता है कि सब प्रकार के कोश किस तरह और किन सिद्धान्तो के आधार पर बनाये जाते है, उनमे किस तरह की बातो का किस ढग से विवेचन तथा समावेश होना चाहिए, और उनके प्रकार तथा रूप आदि कैसे होने चाहिएँ।

गणन (Countıng)

आकलन (Estımatıon) **परिकलन** (Calculatıon)
अनुगणन (Reckonıng) **परिगणन** (Enumeration)
अभिकलन (Computatıon) **मत-गणन** (Tellıng)
गिनना, गिनती करना=गणन **संख्यान** (Numberıng)

गणन वह क्रिया है जिससे यह जाना जाता है कि हमारे सामने जो चीजे हैं, वे सख्या के विचार से कितनी हैं—दो है, चार हैं, दस है या सौ हैं। यह काम

१, २, ३, ४ की गिनतीवाली साधारण और सीधी क्रिया से होता है। मान या सख्या जानने के लिए गिनती करना या गिनना ही **गणन** है। घडी देखने पर घटे, मिनट आदि गिनकर ही ठीक समय जाना जाता है, और महीने की तिथियाँ या तारीखे भी **गणन** से या गिनकर ही निश्चित की जाती हैं। इसी **गणन** से हम बतलाते हैं कि आज हमारे पास चार चिट्ठियाँ आई या हमारी मेज पर दो कलमे और पाँच पुस्तकें पड़ी हैं। आगे बढने पर जब **गणन** का यह काम बहुत बडा होता या साधारण गिनती के क्षेत्र से बाहर हो जाता है, तब हमे जल्दी और सुभीते के विचार से गणित की कुछ जटिल परन्तु निश्चित क्रियाओ (जोड, बाकी, गुणा और भाग) की सहायता लेनी पडती है। ऐसी क्रियाओ की सहायता से जो **गणन** किया जाता है, वही **परिकलन** कहलाता है। यदि प्रश्न हो कि १२) मन के हिसाब से ३६० मन गेहूँ का दाम कितना होगा, १॥=) रोज के हिसाब से २२ आदमियो की १७ दिन की मजदूरी कितनी होगी या ||।) सैकडे के हिसाब से २६००) का डेढ वर्ष का ब्याज कितना होगा, तो इन प्रश्नो के उत्तर साधारण **गणन** के द्वारा सहज मे और जल्दी नहीं जाने जा सकते। इसके लिए हमे गणित की कुछ विशिष्ट क्रियाओ की सहायता लेनी पडती है। इस प्रकार जो हिसाब किया जाता अथवा मान, सख्या आदि का जो पता लगाया जाता है, वही **परिकलन** कहलाता है। बीज गणित के प्रश्न का उत्तर तो सदा **परिकलन** से ही निकाला जाता है, **गणन** से वह किसी प्रकार निकल ही नहीं सकता। ज्योतिषी **परिकलन** के द्वारा ही यह बतलाते हैं कि अगले वर्ष कब, किस ग्रह का उदय या अस्त होगा, अथवा कब और किन-किन समयों पर चन्द्र-ग्रहण अथवा सूर्य-ग्रहण होगे। भावी घटनाओ और उनके हो सकनेवाले परिणामो का बहुत-कुछ ठीक लेखा तैयार करना भी **परिकलन** ही है। व्यापारी लोग पहले से यह **परिकलन** कर लेते हैं कि अमुक वस्तु के व्यापार मे हमे इस समय कितना लाभ या घाटा हो सकता है। कुछ अवस्थाओ मे जब **परिकलन** के काम मे दूसरी या बाहरी घटनाओं अथवा पहले से निश्चित किये हुए सिद्धान्तो, जाने हुए तथ्यो और प्राप्त अनुभवों से भी सहायता ली जाती है, तब **परिकलन** का यह प्रकार **अभिकलन** कहलाता है। इतिहास और पुरातत्त्व के ज्ञाता प्राय **अभिकलन** के द्वारा ही ऐसी घटनाओ,

व्यक्तियों आदि का समय निश्चित करते हैं, जिनका ठीक समय **परिकलन** से नहीं जाना जा सकता। ज्यौतिष मे प्राय ग्रहो आदि की स्थिति का ध्यान रखकर और पहले के निश्चित किये हुए मतों और सिद्धान्तो के आधार पर यह भविष्यद् वाणी की जाती है कि अमुक समय पर आँधियाँ आवेगी या भूकम्प होगा अथवा इस वर्ष अधिक वर्षा होगी या कम। यह भी **अभिकलन** ही है। **परिकलन** और **अभिकलन** मे मुख्य अन्तर यह है कि गणित के क्षेत्र मे **परिकलन** से निकाला हुआ निष्कर्ष या फल तो सदा बिलकुल ठीक और निश्चित होता है, पर **अभि-कलन** से निकाले हुए निष्कर्ष या फल मे कुछ भूलें भी हो सकती हैं या कुछ बातें कम या अधिक भी हो सकती हैं। कारण यही है कि **परिकलन** तो गणित की पक्की क्रियाओ से होता है, पर **अभिकलन** मे उन क्रियाओ के सिवा अपने अनुभव या कल्पना और दूसरों के ऐसे मतो से भी सहायता ली जाती है, जो विवादास्पद हो सकते हैं। कुछ अवस्थाओ मे सम्भावनाओं आदि का ध्यान रखते हुए और प्राय कल्पनाओ के आधार पर किसी भावी काम या बात के सम्बन्ध मे पहले से ही जो आनुमानिक गणना करनी पडती है, उसे **आकलन** कहते हैं। यदि नया घर बनवाने से पहले हम यह जानना चाहे कि इतना लम्बा, इतना चौडा और इतना ऊँचा घर बनवाने मे कितनी ईंटे, कितने पत्थर और कितनी कडियाँ या धरनें लगेगी, कितने राज-मजदूर रखने पडेंगे, और इन सब कामों मे कितनी कितनी लागत आवेगी, या घर मे लडके या लडकी का ब्याह निश्चित होने पर यदि हम यह जानना चाहे कि हमे कितने रुपयो के कपडे और गहने बनवाने पड़ेंगे और मित्रों तथा बिरादरीवालो के भोज मे कितना व्यय करना पडेगा तो इसके लिए भी हमे **परिकलन** तो करना पड़ेगा, पर वह बहुत-कुछ अनुमान से ही होगा। इसी आनुमानिक परिकलन का पारिभाषिक नाम **आकलन** है। बहुत-से छोटे-मोटे काम ऐसे भी होते हैं जिनके सम्बन्ध मे मोटे हिसाब से हमे मन ही मन कुछ साधारण **परिकलन** करना पडता है। जैसे—धोबी को देने के लिए कपड़ो की धुलाई या ग्वाले को देने के लिए महीने भर के दूध का दाम या खरीदी हुई तरकारियो और मिठाइयों के दाम। ऐसी साधारण बातों का हिसाब जबानी या मन ही मन लगा लिया जाता है। **गणन** और **परिकलन** के ऐसे छोटे-मोटे

और मन ही मन किये जानेवाले काम **अनुगणन** कहलाते हैं। छोटे बालकों को पाठशालाओं मे मौखिक गणित के नाम से जो बातें सिखाई जाती हैं या नित्य-प्रति के लौकिक और सामाजिक व्यवहारो का जो बहुत-सा हिसाब, बिना कागज पर लिखे, यो ही जबानी लगाया जाता है, वही **अनुगणन** है। आज-कल के बढते और बदलते हुए आर्थिक तथा व्यापारिक व्यवहारो और लेन-देन की प्रणालियो के कारण **अनुगणन** के बहुत-से काम भी इतने श्रम-साध्य और जटिल हो गये हैं कि वे तुरन्त जबानी या मन ही मन नहीं लगाये जा सकते और उनमे विशेष **परिकलन** से सहायता लेनी पडती है। इसी लिए अब ग्रन्थो के रूप मे प्रस्तुत अनुगणक (Ready Reckoners) बनने लगे हैं, जिनमे जटिल अनुगणनों के फल दिये रहते हैं। जैसे—यदि हम जानना चाहे कि ।।।≈)।। सैकडे के हिसाब से १६५) का ४२ दिनो का कितना सूद होगा * या १७०) मासिक वेतन पानेवाले कर्मचारी का २३ दिनो का वेतन उन दशाओ मे अलग-अलग कितना होगा, जब कि महीना २८ दिनों का हो, २९ दिनो का हो, ३० दिनों का हो और ३१ दिनो का हो, तो **परिकलन** की सहायता से ऐसे प्रश्नों का निकाला हुआ ठीक फल हमे ऐसे अनुगणकों मे सहज मे मिल जायगा। यद्यपि ऐसे जटिल प्रश्नो के उत्तर बहुत पेचीले परिकलनों के द्वारा ही निकाले जाते हैं, तो भी चली आई हुई प्रथा के अनुसार इनकी गणना अनुगणन मे ही होती है†।

* भारतीय महाजनी प्रणाली से बही-खाते का काम करनेवाले मुनीम सूद या ब्याज के ऐसे पेचीले हिसाब अब भी जबानी लगाते हैं।

† अँग्रेजी के Counting, Calculation, Computation और Reckoning का गणित के क्षेत्र के सिवा लाक्षणिक रूप में साधारण लौकिक व्यवहारों और नित्य की बोल-चाल मे भी प्रायः प्रयोग होता है। जैसे—To count a person for nothing. To calculate on an undertaking or enterprise. To compute the amount of any mischief done. To reckon on a promised pleasure. आदि। हिन्दी में भी आकलन, अभिकलन, परि-

जितनी चीजे सामने हो, उन सब को अलग अलग और एक एक करके गिनना-गिनाना या लिखना-लिखाना **परिगणन** कहलाता है। पुस्तकालयों में पुस्तकों का **परिगणन** होता है, और देश की जन-सख्या जानने के लिए राज्य स्त्रियों, पुरुषों, बच्चो, बूढो आदि का और पशु-सख्या जानने के लिए गौओ, घोडों, बैलो आदि का **परिगणन** कराते हैं। जन-सख्या के **परिगणन** मे लोगों की उमर, जाति, भाषा, व्यवसाय आदि का भी ब्योरा रहता है। इस प्रकार का **परिगणन** करने के लिए जो लोग नियुक्त होते हैं, उन्हें परिगणक (Enumerator) कहते हैं। वस्तुओ पर उनकी क्रम-सख्या अकित करना **सख्यान** कहलाता है। अकबर के समय सेना के घोडो का ऐसा **सख्यान** हुआ था। बडे बडे विद्यालयो की मेज-कुरसियों और अलमारियों का भी **संख्यान** होता है—उन पर १,१, ३ करके क्रमात् अक लगाये जाते हैं। इससे पता चलता है कि कुल चीजे कितनी और कहाँ हैं। **मत-गणन** हमारे लोक तत्री जीवन के एक विशिष्ट क्षेत्र में व्यवहृत होनेवाला शब्द है। जब किसी विषय के पक्ष और विपक्ष मे बहुत-से लोगो के मत लिये जाते हैं, तब इस बात की गिनती करनी पडती है कि किसी विचारणीय प्रश्न के पक्ष मे कितने मत आये और विपक्ष मे कितने। मतो की यही गणना **मत-गणन** है। इस काम के लिए जो व्यक्ति नियत या नियुक्त किये जाते हैं, वे **मत-गणक** (Tellers) कहलाते हैं। वे ही **मत-गणन** का फल उपयुक्त

कलन, अनुगणन आदि का ऐसा ही प्रयोग हो सकता है। हम यह तो कहते ही है—वह किसी को कुछ नहीं गिनता (अर्थात् किसी का महत्त्व नही मानता), पर हम यह भी कह सकते है—इस दुर्घटना से होनेवाली हानि का अभिकलन नहीं हो सकता, जीवन की नश्वरता पर विश्वास रखनेवाले कभी यह परिकलन नहीं करते कि कल या महीने भर बाद क्या होगा, ना-समझ लोग ऐसे लाभो का भी अनुगणन करते लगते है, जिन का घटित होना बहुत कुछ अनिश्चित होता है, आदि। और इस प्रकार हम हिन्दी को भी अँगरेजी की भाव-व्यजन प्रणाली के बहुत कुछ पास पहुँचा सकते हैं।

अधिकारियों को बतलाते हैं; और तब उन अधिकारियों के द्वारा सम्बद्ध लोगों को **मत-गणन** के परिणाम की सूचना मिलती है।

गहन (Recondite)

अचिन्तनीय=**अचिन्त्य**
अबोध्य (Incomprehensible)
अव्याख्येय (Inexplicable)
गुह्य (१. Esoteric २. Mystical)
गूढ़=**गहन**
दीक्षणीय (Esoteric)
दुरूह (Abstruse)
दुर्बोध=**दुरूह**
रहस्यमय (Mysterious)

इन विशेषणों का प्रयोग ऐसी बातों या विषयो के सम्बन्ध मे होता है जो या तो साधारणत सब लोगों की समझ मे न आ सकती हों या सब लोगो के जानने-समझने के योग्य न हों। **गहन** या **गूढ** उसे कहते हैं जिसे साधारण मनुष्य के लिए समझ सकना बहुत कठिन हो। ऐसी बातें कुछ तो इतनी जटिल और पेचीली होती हैं कि उन्हें साधारण बुद्धि या योग्यतावाले लोग समझ ही नहीं सकते—उन्हें समझने के लिए विशेष ज्ञान और प्रयत्न की आवश्यकता होती है; और कुछ ऐसी भी होती हैं कि जन-साधारण के नित्य के प्रयोग या व्यवहार मे नहीं आती। ऐसे विषय प्राय विशिष्ट अध्ययन, अनुशीलन, शोध आदि की अपेक्षा रखते हैं। विधिक क्षेत्र की बहुत-सी बाते और वैज्ञानिक क्षेत्रों के बहुत से अनुसन्धान तथा तथ्य प्राय **गहन** या **गूढ** होते हैं। **अचिन्त्य** या **अचिन्तनीय** वह कहलाता है जिसका चिन्तन या विचार मनुष्य,किसी प्रकार कर ही न सकता हो। जैसे—आत्मा या ईश्वर का स्वरूप हमारे लिए **अचिन्त्य** है। **अबोध्य** इनकी तुलना मे कुछ हलका है। **अबोध्य** वह है जो मनुष्य के लिए बोध-गम्य न हो—उसकी समझ मे न आ सकता हो। जैसे—प्रकृति या सृष्टि के

बहुत-से नियम, सिद्धान्त आदि मनुष्य के लिए **अबोध्य** होते हैं। **दुरूह** या **दुर्बोध** उसे कहते हैं, जो समझ मे आ तो सकता हो, पर जिसे समझने के लिए बहुत प्रयत्न करना अथवा बुद्धि लगानी पडती हो। परीक्षा के प्रश्नपत्रों मे कभी कभी कुछ ऐसे प्रश्न या पाठ्य-पुस्तको मे कुछ ऐसे पाठ भी आ जाते हैं, जो साधारण विद्यार्थियों के लिए **दुरूह** या **दुर्बोध** होते हैं। **अव्याख्येय** का साधारण अर्थ तो है—जिसकी व्याख्या न हो सके, पर प्रस्तुत प्रसग मे इसका अर्थ अपेक्षया कुछ और आगे बढा हुआ है। जब हमारा कोई मित्र कुछ ऐसा आचरण या व्यवहार कर बैठता है, जो हमारे लिए आश्चर्यजनक और विलक्षण होने के सिवा कुछ ऐसा बेढगा भी होता है कि उसका उद्देश्य, कारण या सिर-पैर कुछ भी हमारी समझ मे नही आता, तब हम कहते हैं—उसका यह आचरण या व्यवहार हमारे लिए बिलकुल **अव्याख्येय** हो रहा है। आशय यही होता है कि हमारी समझ मे ही नहीं आता कि उसने ऐसा बेढब या विकट काम क्यों अथवा कैसे कर डाला। **गुह्य** और **रहस्यमय** प्राय एक वर्ग के शब्द हैं। **गुह्य** भी अपने पहले या मौलिक अर्थ मे बहुत कुछ वही है जो **गुप्त** (दे०—गुप्त) है, तो भी अपने दूसरे तथा व्यावहारिक अर्थ मे यह **गुप्त** से बहुत आगे बढा हुआ है। यह मुख्यत आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्र का शब्द है, और इसका प्रयोग प्राय ऐसी बातो के सम्बन्ध मे होता है जो साधारण व्यक्तियों की समझ से परे की होती या मानी जाती हैं। जिन बातो के लिए विशिष्ट आध्यात्मिक योग्यता, धार्मिक ज्ञान, पात्रता आदि की आवश्यकता होती है, वही **गुह्य** कहलाती या मानी जाती हैं। धार्मिक क्षेत्रो के गहन रहस्य, तन्त्र-मन्त्र के प्रयोग, विशिष्ट प्रकार की दीक्षाएँ आदि **गुह्य** होती हैं। इसमे जान-बूझकर किसी उद्देश्य से कोई-कोई गम्भीर और रहस्यमय चीज, तत्त्व या बात दूसरों से छिपाकर रखने का भाव मुख्य है। इसी का वह अश **दीक्षणीय** कहलाता है जो या तो धार्मिक दृष्टि से या साम्प्रदायिक नियमो तथा बन्धनो के विचार से लोगो को उसी दशा मे **दीक्षा** के रूप में बतलाया जाता है, जब वे उसके लिए उपयुक्त पात्र समझे जाते अथवा सम्प्रदाय मे अन्तर्मुक्त किये जाते हैं। गायत्री का मन्त्र **दीक्षणीय** ही होता है—नियमत उसका उपदेश गुरु ही शिष्य को (और वह भी किसी विशिष्ट अवसर पर तथा

नियत विधानो के साथ) करता या कर सकता है। पाश्चात्य देशो मे फ्री मैसन्स सम्प्रदाय की और हमारे यहाँ राधा-स्वामी तथा वाम-मार्गी सम्प्रदायों की बहुत-सी बाते दीक्षणीय होती हैं, क्योकि वे उन्ही लोगो को बतलाई जाती हैं जो दीक्षा ग्रहण करके इन सम्प्रदायों मे अन्तर्भुक्त होते हैं। रहस्य का साधारण अर्थ है—ऐसा गूढ तत्त्व या गुप्त भेद जो कुछ विशिष्ट लोग ही जानते या जान सकते हो—सब लोगो की जिन तक पहुँच न हो सकती हो। इस विशिष्टता से युक्त बात ही **रहस्यमय** कहलाती है। साधारणत लोक-व्यवहार मे इसका प्रयोग ऐसी बातो के सम्बन्ध मे होता है जिन्हे लोग बहुत प्रयत्न करने पर भी सोच-समझ न सकते हो अथवा जो उनकी कल्पना और बुद्धि के क्षेत्र से बाहर हों। ऐसी बाते प्राय आश्चर्य-जनक और विलक्षण होती है, और इनका वास्तविक रूप जानने के लिए लोगो के मन में कुतूहल होता है। प्राकृतिक नियम, विधि के विधान आदि तो **रहस्यमय** होते ही हैं, आज-काल के ठग, धूर्त्त और हत्यारे भी अपने बहुत-से काम ऐसे **रहस्यमय** ढग से करते हैं कि किसी को यह पता ही नहीं लगने पाता कि यह काम किसने, कब और कैसे किया। इसमे गुप्तता, दुरूहता और विलक्षणता का अद्भुत सम्मिश्रण होता है। (दे०—गुप्त)

गुप्त (Secret)

अंतर्गत (Included)	**निहित** (Latent)
अंतर्निष्ठ (Inherent)	**विवक्षित** (Implied)
अंतर्भुक्त = अंतर्गत	**सुप्त** (Dormant)

गुप्त वह है जो या तो स्वय किसी प्रकार छिपा हो या जान-बूझकर औरो से छिपाया गया हो। यह अच्छे उद्देश्य से भी और बुरे उद्देश्य से भी छिपा या छिपाया हुआ हो सकता है। प्रयोग की दृष्टि से यह बहुत व्यापक शब्द है।

गुप्त परामर्श भी हो सकता है, मार्ग भी और सन्धि भी। अपराध प्राय **गुप्त** रूप से ही किये जाते हैं, और जब तक हम अपने गुण या विचार दूसरों पर प्रकट न करें, तब तक वे **गुप्त** ही रहते है। इसमे मुख्य भाव यही है कि लोग जान या समझ न सकें, उससे परिचित न हों या ने होने पावे। **अन्तर्गत** या **अन्तर्भुक्त** वह है जो किसी दूसरे के पेटे मे आ चुका हो अथवा नियमित रूप से उसमे रहता हो। **अन्तर्गत** या **अन्तर्भुक्त** वही होता है जो किसी के साथ उसके अग के रूप मे या अधीनस्थ भाव से मिला हुआ हो या मिला रहता हो। यह प्राय व्यक्त अथवा स्पष्ट रूप से रहता है, इसमे गोपन या दुराव का कोई भाव नही होता। छिपकली सरीसृप वर्ग के **अन्तर्गत** है, और यात्रा-व्यय के **अन्तर्गत** रेल आदि सवारिया का भाडा, कुली की मजदूरी, जल-पान और भोजन का खर्च सभी आ जाते है। यहाँ तक तो **अन्तर्गत** और **अन्तर्भुक्त** एक ही हैं, पर इससे आगे कुछ प्रसगों मे इनमे एक सूक्ष्म अन्तर भी हो जाता है। **अन्तर्गत** तो साधारणत नियमित या स्वाभाविक रूप से किसी के पेटे मे रहता है, पर **अन्तर्भुक्त** इसके सिवा किसी विशिष्ट क्रिया के द्वारा भी कर लिया जाता है—यह किसी करण (कर्त्ता) के प्रयत्न का फल भी हो सकता है। जैसे—सिक्खों का अन्त करके अँगरेजो ने पजाब को भी ब्रिटिश भारत में **अन्तर्भुक्त** कर लिया। यदि उक्त उदाहरण मे करण (कर्त्ता) का प्रसग न रहे, तो हम कहेगे—पजाब भी ब्रिटिश भारत के **अन्तर्गत** हो गया। **अन्तर्निष्ठ** वह कहलाता है जो सदा नियमित या स्वाभाविक रूप से किसी के अन्तर्गत रहने पर भी प्राय गुप्त ही रहता हो, और केवल कुछ विशिष्ट अवसरो पर या प्रसगों मे ही प्रकट होता या सामने आता हो। यह किसी वस्तु मे इतनी गहराई मे और इतनी दृढता से स्थित रहता है कि प्राय उसका गुण, तत्त्व या स्वभाव बन जाता है। मानव मन मे दया, प्रेम, सहानुभूति आदि गुण सदा **अन्तर्निष्ठ** रहते हैं, भले ही वे सब अवसरों पर प्रकट न होते हो या अपना काम न करते हो। राज्य या शासन मे प्राय सभी प्रकार के अधिकार **अन्तर्निष्ठ** होते हैं, भले ही विधिक या वैधानिक नियन्त्रणों के कारण हर समय उनका उपयोग न हो सकता हो। **निहित** का साधारण अर्थ है—छिपा हुआ। पर इसका प्रयोग ऐसे तत्त्वों या बातों के सम्बन्ध मे होता है जो किसी दूसरी चीज या तत्त्व मे रहती

तो हैं, पर स्वत अपने आपको प्रकट या व्यक्त नही करती। जब तक कोई चीज किसी दूसरी चीज के अन्दर रहने पर भी ऊपर या सामने नही आती, तब तक वह **निहित** कहलाती है। हॉ, उपयुक्त परिस्थितियों मे वह आपसे आप सामने आ भी जाती है। 'धर्मस्य तत्त्व निहित गुहाया' का आशय यही है कि धर्म का तत्त्व स्वय तो छिपा रहता है, हाँ उसके पास पहुँचकर हम उसे जान सकते और यदि चाहें तो दूसरो पर उसे प्रकट भी कर सकते हैं। क्षय रोग के कीटाणु किसी शरीर में प्रविष्ट होने पर भी तब तक **निहित** ही रहते हैं, जब तक वे रोग के रूप मे अपना अस्तित्त्व प्रकट नही करते। **सुप्त** का साधारण अर्थ है—निद्रित या सोया हुआ, पर प्रस्तुत प्रसग मे इसका कुछ विशिष्ट अर्थ है। कुछ तत्त्व या बातें ऐसी होती हैं जो कभी तो सक्रिय रहती हैं और कभी अक्रिय रहती या हो जाती हैं। जब तक वे अ-क्रिय रहती हैं (अपना कार्य नही करती), तब तक वे वैज्ञानिक क्षेत्रों मे **सुप्त** मानी जाती हैं। इसके विपरीत जब वे (उठ या उभडकर) अपनी क्रिया करने लगती हैं, तब उन्हें **जाग्रत** कहते हैं। ऊपर **निहित** के प्रसग मे क्षय रोग के कीटाणुओ का जो उदाहरण दिया गया है, उसे फिर से ध्यान मे लाने पर **निहित** और **सुप्त** का अन्तर सहज मे जाना जा सकता है। वे कीटाणु शरीर मे प्रविष्ट होने पर कभी तो कुछ समय तक अक्रिय रहते हैं और कभी तत्काल या कुछ दिनो बाद सक्रिय होकर अपना नाशक कार्य आरम्भ कर देते हैं। जब तक वे चुप-चाप और अक्रिय पड़े रहते हैं, तब तक वे **सुप्त** कहलाते हैं, और सक्रिय होने पर **जाग्रत** कहे जाते हैं। पर दोनों दशाओं मे वे शरीर मे **निहित** रहते हैं। जब शरीर उनके कारण रोग-ग्रस्त हो जाता है, तब उन्हें इस दृष्टि से **निहित** नही कहा जा सकता कि उनका नाशक प्रभाव स्पष्ट लक्षणों के रूप मे सामने आ जाता है। **विवक्षित** का साधारण अर्थ है—ऐसी बात जो कही जाने को हो या जिसे कहकर प्रकट करने का मन मे विचार हो। पर प्रस्तुत प्रसग मे **विवक्षित** का प्रयोग सदा किसी कथन के ऐसे अर्थ, आशय या भाव के सम्बन्ध मे होता है जो उस कथन से तो प्रकट नहीं होता, फिर भ` जो ध्वनि या सकेत के रूप मे उससे निकलता या निकल सकता है। **विवक्षित** अर्थ या आशय ऐसा भी हो सकता है जिससे स्वय लेखक या वक्ता अनभिज्ञ हो, और ऐसा भी हो सकता है जो

पाठकों या श्रोताओ के ध्यान मे न आया हो* । पर ऐसा अर्थ या आशय उस कथन या लेख के शब्दों मे निहित अवश्य रहता है ।

———

ग्रामीण

ग्रामी — **देहाती**
ग्राम्य (Rural) — **पालतू** (Domesticated)
जंगली=वन्य — **वन्य** (Wild)

ग्रामी, ग्रामीण और ग्राम्य (विपर्याय—नागर) तीनो शब्द स० ग्राम (= गाँव) से बने हुए या उसके विकारी रूप है । सस्कृत मे ये तीनो शब्द विशेषण रूप मे भी प्रचलित हैं और सज्ञा रूप मे भी । विशेपण रूप मे इनका अर्थ होता है—ग्राम या गाँव से सम्बन्ध रखने या उसमे होनेवाला, और सज्ञा रूप मे अर्थ होता है—ग्राम या गाँव मे रहने या निवास करनेवाला व्यक्ति । इनमे से **ग्रामी** हिन्दी मे प्रचलित नहीं है, पर **ग्रामीण** और **गाम्य** दोनो प्रचलित हैं । सस्कृत में ये दोनों शब्द विशेपण रूप मे भी चलते हैं और सज्ञा रूप में भी । पर हिन्दी मे प्राय **ग्रामीण** का प्रयोग सज्ञा रूप मे और **ग्राम्य** का प्रयोग विशेषण रूप मे ही देखने मे आता है, और प्रशस्तता तथा स्पष्टता क विचार से ऐसा ही होना भी चाहिए । **ग्रामीण** का अर्थ 'गाव मे रहनेवाला व्यक्ति' होना

---

* जब पाठक या श्रोता वह विवक्षित अर्थ या आशय जान या समझ लेते हैं, और उसके आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालते है, तब इस प्रकार निकाला हुआ निष्कर्ष या स्थिर किया हुआ मत पारिभाषिक क्षेत्र में अध्याहरण (Inference) कहलाता है । पर यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा अध्याहरण सदा ठीक ही हो ।

चाहिए, और **ग्राम्य** का अर्थ 'गाँव से सम्बन्ध रखनेवाला या उसमे होनेवाला' ही रहना चाहिए। सस्कृत मे भी **ग्राम्य** शब्द अधिकतर विशेषण रूप मे ही प्रचलित है। वहाँ यह शब्द **वन्य** का विपर्याय भी माना जाता है*। यह **वन्य** वही है, जो हिन्दी का **जगली** है और जिसका हिन्दी विपर्याय **पालतू** है। जिस तरह हिन्दी मे जानवरों के **जगली** और **पालतू** दो भेद होते हैं, उसी तरह सस्कृत मे भी पशुओं के **वन्य** और **ग्राम्य** दो भेद होते हैं, जैसे वन्य शूकर और ग्राम्य शूकर। पेड-पौधो मे से भी जो जगल मे आपसे आप पैदा होते हैं, सस्कृत मे **वन्य** (हि० जगली) कहलाते हैं, और जो जोत-बोकर तैयार किये जाते हैं, वे **ग्राम्य** कहलाते हैं। इसके सिवा **ग्राम्य** का एक अर्थ अशिष्ट या अश्लील भी होता है, जैसे **ग्राम्य** भाषा या शब्दों का प्रयोग। **ग्रामीण** का प्रयोग प्राय इन अर्थों मे नहीं होता, और इस आधार पर भी **ग्रामीण** का प्रयोग सज्ञा रूप मे और **ग्राम्य** का प्रयोग विशेषण रूप मे ही करना समीचीन जान पड़ता है। इससे भाषा मे वह गडबडी नही होने पावेगी, जो दोनो शब्दों का सज्ञा और विशेषण दोनों रूपो मे प्रयोग करने से होती या हो सकती है। हिं० का **देहाती** शब्द सज्ञा और विशेषण दोनों रूपों मे चलता है। गाँव या देहात† मे रहनेवाला आदमी भी **देहाती** (हिं० ग्रामीण) कहलाता है, और देहात से सम्बन्ध रखनेवाली या उसमे होनेवाली चीजे या बाते भी **देहाती** कहलाती हैं, जैसे—देहाती बोल चाल, देहाती पहनावा या रग ढग आदि।

---

* प्राचीन भारत में सारी बस्ती प्राय गाँवों में ही होती थी, इसलिए 'ग्राम्य' का विपर्याय 'वन्य' ही था। पर जब बड़े-बडे गाँव बढकर नगरो के रूप में आने लगे, तब 'ग्राम्य' का दूसरा विपर्याय 'नागर' और 'ग्रामीण' का दूसरा विपर्याय 'नागरिक' भी बन गया।

† देहात वस्तुत फारसी देह = गाँव का बहुवचन रूप है।

चन्दा (Subscription)

अंश-दान=सहांश **बेहरी=चन्दा (परिमित अर्थ में)**
दत्त (Donation) **सहांश** (Contribution)

चन्दा शब्द हिन्दी मे फारसी से आया है, जहाँ उसका शुद्ध रूप चन्द है। यह चन्द (हि० चन्दा) उस फारसी चन्द से बना है, जिसका अर्थ है—कतिपय, कुछ या थोडे-से। मूलत किसी उपयोगी सार्वजनिक काम के लिए कुछ लोगों से जो थोडा थोड़ा धन माँगकर लिया जाता था, वही चन्द या चन्दा कहलाता था। आशय होता था—कुछ लोगो से दान के रूप मे लिया हुआ धन। इसके लिए हमारे यहाँ का पुराना शब्द **बेहरी** है जो अब तक पूर्वी क्षेत्रो मे इसी अर्थ मे बोला जाता है। होली आदि के अवसरों पर अथवा महल्ले मे किसी गरीब के यहाँ विवाह, मृत्यु आदि व्यय-साध्य काम आ पडने पर आस-पास के लोगों से जो थोडा थोडा धन माँगा जाता है, उसे आज तक **बेहरी** कहते हैं, और इसके साथ उतारना और माँगना क्रियाओ का प्रयोग होता है। पर अब यह शब्द मरता हुआ जान पडता है और इसका स्थान अधिक व्यापक अर्थवाला चन्दा शब्द ले रहा है। आज-कल **चन्दा** प्राय दो तरह का होता है। एक तो वह जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है और जो सदा एक-कालिक या अनावर्त्तक होता है, और दूसरा वह जो नियत-कालिक या आवर्त्तक होता है। बडे और बहुत दिनो तक चलनेवाले उपयोगी सार्वजनिक कार्यों के लिए प्राय लोग कुछ मासिक या वार्षिक **चन्दा** भी बाँध देते हैं। यही चन्दे का नियत-कालिक या आवर्त्तक रूप है। सभा सस्थाएँ प्राय अपने सदस्यों से इसी प्रकार का **चन्दा** लेती है। इसी से आगे बढकर इसमे उस मूल्य का भी समावेश कर लिया गया है जो सामयिक पत्र-पत्रिकाएँ अपने स्थायी ग्राहकों से प्राय प्रति वर्ष लिया करती है। **दत्त** यो तो विशेषण ही है जिसका अर्थ है—दान किया हुआ अथवा दिया हुआ। सज्ञा रूप मे यह दिये हुए धन के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होता है। साधारणत दत्त भी वही है जो चन्दा है, पर चन्दे की अपेक्षा इसमे कुछ विशिष्टताएँ हैं। चन्दे मे एक तो सार्वजनिक भाव मुख्य है, दूसरे उससे धन-राशि की अल्पता भी सूचित होता है। इसके विपरीत **दत्त** का

स्वरूप बहुत-कुछ वैयक्तिक होता है और उसमे धन-राशि भी अपेक्षया अधिक होती है। इन्हीं दृष्टियो से इसका उल्लेख भी विशिष्ट रूप से होता है। किसी काम मे बहुत-से लोग दो-दो, चार-चार रुपये करके जो आर्थिक सहायता देते हैं, उसकी गिनती तो चन्दे मे होती है, पर यदि उसी काम के लिए कोई बडा आदमी हजार दो हजार रुपए दे तो उसका यह चन्दा दान या दत्त कहा जायगा। सस्थाओं को जो चन्दे या दत्त मिलते हैं, उनमे इन शब्दो के पक्ष मे स्वय उस सस्था की दृष्टि या विचार प्रधान होता है, पर सहाश (स० सह + अश) का प्रयोग चन्दे और दत्त दोनो के सम्बन्ध मे दाता की दृष्टि या विचार से होता है। प्रत्येक व्यक्ति जो चन्दा या दत्त देता है, वह उसका अंश-दान या सहाश कहलाता है। कुछ अवसरो पर इस शब्द का कुछ और विस्तृत अर्थ मे भी प्रयोग होता है। यदि किसी पत्रिका या पुस्तक मे आपका कोई महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित या सम्मिलित कर लिया जाय तो वह आप का सहाश कहा जायगा, और यदि आप किसी शुभ कार्य मे सम्मिलित और सहायक होकर कुछ परिश्रमपूर्ण और महत्त्व का कार्य या सेवा करे तो उसकी गिनती भी आपके अश-दान या सहाश मे ही होगी।



चरित्र (Character)

आचरित=जीवक

जीवक (Career)

प्रकृति (Nature)

व्यक्तित्व (१. Individuality,
२ Personality)

शील (Modesty)

स्वभाव (१ Temper,
२. Temperament)

चरित्र हमारे जीवन मे होनेवाले सभी प्रकार के कार्यों और आचार-व्यवहारों का सामूहिक रूप है, और हमारे सभी गुण-दोषो का सूचक है। यह हमारी प्रकृति,

शील, स्वभाव, आचार-विचार, रहन-सहन आदि से बनता तथा हमारा व्यक्तित्व बनाता है। प्रत्येक मनुष्य का **चरित्र** यह बतलाता है कि वह सभी दृष्टियों से वास्तव मे कैसा है। यह उसका सच्चा चित्र होता है। इसमे प्राकृतिक या स्वाभाविक गुणो और विशेषताओं का भी और अर्जित योग्यताओ तथा क्रिया-कलापो का भी अन्तर्भाव होता है। पर लोगो का वास्तविक या सच्चा रूप सदा सबके सामने नही आता, इसलिए प्राय ऐसा भी होता है कि जिसे हम अच्छे **चरित्र**वाला समझते हों, वह वास्तव मे हीन **चरित्र**वाला भी हो सकता है, और इसके प्रतिक्रमात् भी। **आचरित** का पहला अर्थ है—जिसका आचरण किया गया हो अथवा जो आचरण के रूप मे आ या हो चुका हो। इसका एक पुराना अर्थ आचरण या व्यवहार भी है। **जीवक** (विशेषण) का पुराना अर्थ है—जो जीवित हो या जी रहा हो। सज्ञा रूप मे इसका एक और पुराना अर्थ है—जीवन-निर्वाह का उपाय। इसी अर्थ मे इसका स्त्री-लिंग रूप जीविका हिन्दी मे बहुत प्रचलित है। पर अब **जीवक** शब्द मे एक नया विशिष्ट अर्थ लगाया जा रहा है। अपने जीवन-काल मे मनुष्य निरन्तर जो अच्छे और विशिष्ट कार्य करता रहता है, उन सबका सम्मिलित रूप उसका **जीवक** होता है। इसमें अब तक के किये हुए कामो का भी अन्तर्भाव होता है, और उस भविष्य का भी, जिसमे आगे चलकर उसके इसी तरह काम करते रहने की सम्भावना होती है*। हम कहते हैं—उनका अब तक का **जीवक** सब प्रकार से प्रशसनीय रहा है। आशय यही होता है कि अब तक के उनके सभी आचरण और व्यवहार अच्छे रहे हैं। पर जब हम कहते हैं—(क) 'उन्होने एक छोटी-सी भूल करके अपना सारा **जीवक** बिगाड लिया।' अथवा (ख) 'इस नवयुवक को साधारण अपराध के

---

* इसी भविष्य के विचार से हमने अँगरेजी के केरियर (Career) के लिए जीवक शब्द स्थिर किया है। एक सुयोग्य मित्र का सुझाया हुआ आचरित शब्द हम इसलिए ठीक नही समझते कि वह मुख्यत आचरण का भूत-कृदन्त रूप है, इसी लिए उसकी आर्थी सीमा में भविष्य का अन्त-र्भाव करना ठीक न होगा।

लिए कठोर दंड देना इसका सारा जीवक बिगाडना है।' तब हमारी दृष्टि मे उसका वह भावी जीवन भी रहता है जिसमे वह आगे चलकर कुछ अच्छे काम कर सकता है या अच्छी तरह रहकर जीवन बिता सकता है। व्यक्तित्व वास्तव मे व्यक्ति का भाव-वाचक रूप है, और मनुष्य के उन सभी प्राकृतिक तथा अर्जित गुणो, विशेषताओ आदि का सूचक है जिनके सामूहिक रूप मे उसकी स्पष्ट और स्वतंत्र सत्ता सबके सामने रहती है। हम कहते हैं—बहुत-से छोटे-मोटे काम तो वे अपने व्यक्तित्व के बल पर ही बहुत सहज मे (या बात की बात मे) कर डालते थे। इसका आशय यही होता है कि उनमें जो गुण या विशेषताएँ थीं, उनके प्रभाव से ही छोटे-मोटे काम अनायास पूरे हो जाते थे, और उन्हे अपने गुणों या विशेषताओ का पूरा उपयोग करने की आवश्यकता ही नही होती थी। प्रकृति उन सब गुणो और विशेषताओ का सामूहिक रूप है जो मनुष्य मे मूलत जन्म से ही उसके साथ आती और प्राय एक-सी बनी रहती हैं। शील और स्वभाव साधारणत एक दूसरे के पर्याय और वाचक माने जाते हैं, फिर भी दोनो मे कुछ विशेष अन्तर है। शील वस्तुत मनुष्य की प्रकृति और व्यक्तित्व से सम्बद्ध है और बहुधा उसकी कुलीनता का भी परिचायक होता है। अच्छे शील मे अच्छे स्वभाव के सिवा और भी अच्छी बातो का अन्तर्भाव होता है,इसी लिए यह मनुष्य की सभी प्रकार की सद्वृत्तियो का सूचक और सद्कार्यो तथा सद् भावनाओं का प्रवर्त्तक होता है। अच्छा शील मनुष्य को सदा सब तरह की अच्छी बातो की ओर प्रवृत्त करता है, और इसी लिए उसका सब जगह यथेष्ट आदर भी होता है। यह स्थायी भी होता है और सु-निश्चित तथा स्थिर भी। स्वभाव का शब्दार्थ है—अपना भाव। कुछ अवस्थाओ मे यह प्रकृति का भी वाचक होता है और कुछ अवस्थाओ में शील का भी। शास्त्रों मे इसका प्रकृत रूप स्वभाव और देह-गत या चारित्रिक रूप देह स्वभाव कहलाता है। (दे० 'शिष्टता' के अन्तर्गत 'शील') साधारणत लोक-व्यवहार मे स्वभाव बहुत-कुछ संकुचित या सीमित अर्थ मे प्रयुक्त होता है। यह समय-समय पर थोडा-बहुत बदल भी सकता और प्राय बदलता भी रहता है। हम कहते हैं—कष्ट (रोग, वृद्धावस्था आदि) के कारण उनका स्वभाव कुछ चिडचिडा हो गया है। अच्छे शीलवाला मनुष्य तो सदा

समाज के लिए परम उपयोगी सिद्ध होता है, पर अच्छे **स्वभाववाले** मनुष्य के लिए ऐसा होना अनिवार्य नही है। फिर भी अच्छे **स्वभाववाला** मनुष्य इसलिए सब जगह मान्य हो सकता है कि वह किसी से लडाई-झगडा करना पसन्द नही करता। **स्वभाव** बहुत कुछ अर्जित भी होता है और प्राय परिस्थितियो से प्रभावित भी। सामने आये हुए कार्य मनुष्य साधारणत अपने **स्वभाव** के अनुसार ही अच्छे या बुरे ढग से करता है। इसके सिवा अच्छे **शीलवाला** मनुष्य कुछ उग्र या कठोर **स्वभाववाला** भी हो सकता हैं, और दु शील व्यक्ति अच्छे या कोमल **स्वभाववाल** भी हो सकता है। यही आकर **शाल** तथा **स्वभाव** का अन्तर स्पष्ट होता है।

———

चिन्तनीय

विचारणीय

चिन्तनीय स० चिन्तन से बना हुआ विशेषण है,* जिसका अर्थ है—जो चिन्तन का विषय हो, अर्थात् जिसके सम्बन्ध मे चिन्तन करना पड़े। चिन्तन का अर्थ है—किसी चीज या बात के विषय मे बार-बार सोचना और मननपूर्वक उसके तथ्य या वास्तविक रूप तक पहुँचना। यदि हमारे सामने कोई ऐसी जटिल समस्या आ जाय, जिसका हम सहज मे निराकरण न कर सके तो वह हमारे लिए **चिन्तनीय** होगी। यदि कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न हो कि हमे यह सोचना पडे कि इसके सम्बन्ध मे हमे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, अर्थात् हमे सोच-विचार कर कुछ स्थिर करना पडे, तो वह भी **चिन्तनीय** कहलावेगी।

---

* कुछ लोग भूल से इसे 'चिन्ता' से बना हुआ विशेषण समझते है, और 'चिन्ताजनक' के स्थान पर इसका प्रयोग करते है। पर ऐसा करना ठीक नही है। हिन्दी मे चिन्ता और चीज है, चिन्तन और चीज।

इसमे ऐसे सोच-विचार का भाव मुख्य है जो हमे उचित या ठीक निर्णय तक पहुँचने से पहले करना पडता है। यदि हमारे सामने कोई ऐसा मत या सिद्धान्त उपस्थित किया जाय, जिसके ठीक होने मे हमे सन्देह हो अथवा जिससे हम तत्काल सहमत न हो सकते हो, तो हम कहेगे—यह बात चिन्तनीय है, अर्थात् इसके सम्बन्ध मे हमे अपना मत सोच-समझकर स्थिर करना पडेगा। गम्भीरता और मनन के विचार से **विचारणीय** इसकी अपेक्षा कुछ हलका शब्द है। हमारे सामने कोई ऐसा विषय या बात आती है, जिसमे हमे साधारण रूप से थोडा विचार करने की आवश्यकता होती है। पर ऐसा विचार इतना गहन या गम्भीर नहीं होता कि उसके लिए हमे विशेष आयास करना पडे। यह विचार-कार्य कुछ ऐसा होता है, जिसके हम प्राय अभ्यस्त होते हैं। न्यायालयो मे न्यायाधीशो के सामने अथवा सभा-समितियो मे प्रस्तावो आदि के रूप मे सदस्यों के सामने प्राय ऐसे **विचारणीय** विषय आते रहते हैं, जिन पर उन्हे तत्काल विचार करके अपना मत स्थिर करना पडता है, और वे प्राय सहज मे अपना मत स्थिर कर भी लेते हैं। पर इन्हीं विषयो मे से कोई ऐसा जटिल विषय भी हो सकता है, जिसके सम्बन्ध मे बहुत अधिक विचार का मनन करने की आवश्यकता हो। ऐसा विषय **विचारणीय** के क्षेत्र से निकलकर **चिन्तनीय** वाले क्षेत्र मे चला जायगा।

चुनाव (१ Election २ Selection)

अनुकल्प (Alternative) **वरण** (Choice)
चयन (Pick) **वरीयता** (Preference)
निर्वाचन (Election) **विकल्प** (Option)

चुनाव हिन्दी चुनना* से बना है, और चुनना स० चयन से व्युत्पन्न है। चुनने की क्रिया या भाव ही **चुनाव** है। पर कभी-कभी यह उस वस्तु का भी वाचक हो जाता है, जो पसन्द करके चुनी जाती है। जैसे—यह पुस्तक भी तो आपका ही चुनाव है, अर्थात् इसे आपने ही चुनकर पसन्द किया है। जब हमारे सामने बहुत-सी चीजें या बाते होती हैं, तब उनकी उपयोगिता, विशेषता आदि के विचार से अपने मन के अनुकूल कुछ चीजे पसन्द करके अलग करना या लेना ही **चुनाव** है। अपने विस्तृत अर्थ मे यह प्राय उस **निर्वाचन** का भी वाचक होता है जो लोक-तन्त्री नियमो और सिद्धान्तो के अनुसार किसी कार्य या पद के लिए प्रतिनिधि चुनने के समय किया जाता है। **चुनाव** सब तरह की चीजो का और सब तरह के कामो के लिए हो सकता है। अपने लिए कपडो का, पुस्तकालय के लिए पुस्तको का और कार्यालय मे काम करने के लिए कर्म्मचारियो का **चुनाव** होता है। पर नगरपालिका, विधान सभा आदि के लिए प्रतिनिधि नियत करने के उद्देश्य से उसके सदस्यों का जो चुनाव है, वह विशिष्ट रूप से **निर्वाचन** कहलाता है। **चुनाव** अपनी इच्छा या रुचि के अनुसार होता है, और **निर्वाचन** चुने जानेवाले व्यक्ति की योग्यता, कार्य-कुशलता आदि के विचार से। **चुनाव** के लिए प्राय सख्या, सीमा आदि की बाधा नही होती। हम स्वतन्त्रतापूर्वक बहुतो मे से एक या अनेक का चुनाव कर सकते है, पर **निर्वाचन** मे अनेक प्रकार के बन्धन होते है, और उसके लिए हमारे सिवा और भी बहुत-से लोगों के मत की

*** अंग्रेजी मे चुनना के लिए दो शब्द है—Choose और Select, और इन दोनो के अर्थों में कुछ सूक्ष्म अन्तर भी माने गये है। पर हिन्दी मे इन दोनो के लिए एक 'चुनना' शब्द ही प्रचलित है।**

अपेक्षा होती या हो सकती है। **चयन** भी है तो बहुत कुछ वही, जो चुनाव है, फिर भी दोनों मे एक सूक्ष्म अन्तर है। **चयन** सदा वस्तुओ का ही होता है, कार्यों, व्यक्तियों आदि का नही। बाग मे पहुँचकर हम सुन्दर फूलो का **चयन** करते हैं, और पत्र-सम्पादक अपने पत्र मे देने के लिए दूसरे पत्रो मे के सुन्दर लेखो, टिप्पणियों आदि का। व्यक्तियो के सम्बन्ध म प्राय **चयन** का प्रयोग नहीं होता। **वरण** स० के उस वर से बना है, जिसका अर्थ है—श्रेष्ठ, और **वरण** का अर्थ होता है—श्रेष्ठ को चुनना। अर्थात् **वरण** वह है जिसमे बहुत-सी चीजों, बातों या व्यक्तियो मे से अपने काम के लिए कोई एक चीज, बात या व्यक्ति (और सब चीजो, बातों या व्यक्तियो से परम श्रेष्ठ समझकर) ग्रहण या निश्चित किया जाय। स्वयवर मे कन्या अपने लिए बहुतो मे से किसी एक को पति के रूप मे **वरण** करती है, और युद्ध-क्षेत्र मे वीर योद्धा पीठ दिखाने या आत्म-समर्पण करने के बदले हँसते हुए मृत्यु का **वरण** करते है। अर्थात् **वरण** सदा बहुतों मे से किसी एक का और उसे परम उपयुक्त या सर्व-श्रेष्ठ मानकर किया जाता है। **वरीयता** मे भी बहुत कुछ **वरण** का सिद्धान्त ही काम करता है। फिर भी तात्त्विक दृष्टि से **चुनाव** या **वरण** से **वरीयता** कई बातो मे बहुत कुछ भिन्न है। **चुनाव** या **वरण** तो अपनी इच्छा या रुचि के अनुसार भी हो सकता है, पर **वरीयता** मे कई प्रकार की बातो का विचार होता है। हम अपने लिए पहले दो अच्छे कपडो या पुस्तकों का **चुनाव** करते हैं। पर जब हम देखते है कि हम उनमे से एक ही कपडा या पुस्तक ले या पा सकते है, तब हमे उन दोनो मे से किसी एक को **वरीयता** देनी पडती है। **वरीयता** मे हमे वस्तुओ के गुण-दोषों का आपेक्षिक विचार करना पडता है—यह देखना पडता है कि दोनों या बहुतों मे से कौन-सी हमारे लिए अच्छी और काम की है। इसमे भी हमारी रुचि या प्रवृत्ति तो काम करती ही है, पर कुछ गौण रूप से। इसके सिवा **चुनाव** प्राय अपने अनुभव, ज्ञान आदि के आधार पर किया जाता है, पर **वरण** और **वरीयता** दोनो मुख्यत हमारी अनुभूतियों और मनोभावों पर आश्रित होते हैं और इनमे अनुकूलता, सुभीते आदि का भी विचार होता है। अपने बालक की शिक्षा के लिए पहले हम दो-चार विद्यालय चुन सकते हैं, पर पटाई, आने-जाने के सुभीते आदि के विचार से हमे उनमे से

किसी एक को वरीयता देनी पडती है। अच्छा प्रधान मन्त्री बहुत सोच-समझकर और कार्य-कुशलता, योग्यता आदि के विचार से तथा निष्पक्ष होकर अपने सहायक मन्त्रियों का चुनाव करता है। पर निकम्मा या बे-ईमान प्रधान मन्त्री पक्षपातपूर्वक अपने सगी-साथियों या सगे-सम्बन्धियों को वरीयता देता है। वाक्य-रचना और प्रयोग के विचार से हम यह भी कह सकते हैं कि वरण या तो स्वय किया जाता है या अपने लिए किया जाता है, पर वरीयता किसी वस्तु या व्यक्ति को दी जाती है। चुनाव सदा बहुतो मे से अच्छे का ही होता है, पर वरीयता बहुत ही परिमित क्षेत्र मे से किसी बुरे को भी मिल सकती है। अनुकल्प और विकल्प* हैं तो बहुत कुछ एक ही प्रकार के शब्द, फिर भी उनमे एक सूक्ष्म अन्तर है। अनुकल्प सदा दो में से कोई एक या किसी एक का होता है। जब हमारे सामने दो बाते होती हैं और उनमे से कोई एक बात हमारे लिए आवश्यक रूप से ग्राह्य होती है या हमे चुननी पडती है, तब दोनो बातें एक दूसरी की अनुकल्प कहलाती हैं। अथवा एक के अभाव मे उसके स्थान पर काम दे सकनेवाला दूसरा भी अनुकल्प होता है†। अनुकल्प एक प्रकार की विवशता का सूचक है। पर

---

* अब तक के हिन्दी कोशो मे Alternative और Option दोनों के लिए एक विकल्प शब्द ही आता रहा है। पर यह लेख लिखने के समय जब मुझे इनके लिए दो अलग-अलग शब्दो की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब ढूँढने पर मुझे सस्कृत कोशों में Alternative के लिए अपने यहाँ का पुराना शब्द अनुकल्प मिला, और इसके उदाहरण भी इन रूपों मे मिले— यदि कुश न हो तो दूर्वा (मॉनियर विलियम्स) और तडुल न हो तो यव (आप्टे) से काम चल सकता है, अर्थात् इनमें से दूसरे पदार्थ पहले पदार्थ के अनुकल्प हैं।

† यद्यपि अँगरेजी में भी Alternative का ठीक वही आशय लिया जाता है, जो यहाँ अनुकल्प का बतलाया गया है, पर जान पड़ता है कि Option से उसका इस प्रकार का पार्थक्य इधर हाल में निश्चित हुआ है। फर्नाल्ड ने English Synonyms and Antonyms (पृष्ठ ६०) में

विकल्प एक तो बहुत-सी चीजों के सम्बन्ध मे होता है, और दूसरे उसमे हमारे अधिकार, अनुकूलता, रुचि आदि का भाव मुख्य होता है। यदि उसमें कभी या कही कुछ विवशता होती भी है, तो वह गौण ही रहती है। आज-काल विद्यार्थियों के सामने किसी परीक्षा के लिए बहुत-से विषय रहते हैं, और वे **विकल्प** से उनमें से कुछ विषय अपनी पढाई के लिए चुन लेते हैं। हाँ **अनुकल्प** और **विकल्प** दोनो मे चुनाव के लिए क्षेत्र थोडा-बहुत परिमित ही रहता है, चुनाव या **वरीयता** की तरह विस्तृत नही होता।

———

चेतावनी (Warning)
पूर्व-सावित्य (Precaution) सावित्य (Caution)
पूर्व-सूचन (Fore-warning)

ये शब्द इस भाव के सूचक हैं कि आनेवाली जोखिम, सकट, हानि आदि के सम्बन्ध मे सावधानी बरतनी चाहिए। इनमें से **चेतावनी** विशेष व्यापक अर्थवाला शब्द है, और हिन्दी चेताना से बना है, जिसका अर्थ है—याद दिलाकर सचेत या सजग करना। यदि आगे चलकर कोई प्रतिकूल या विकट परिस्थिति उत्पन्न होने को हो तो उसके सम्बन्ध मे पहले से सावधान करने की क्रिया **चेतावनी** कहलाती है। यदि रास्ते मे ऐसा जगल पडता हो जिसमे शेर या चीते रहते हो या चोर, डाकू, लुटेरे आदि छिपे रहते हो तो उधर से जानेवाले यात्रियो को

बतलाया है कि मिल और ग्लैडस्टन ने Alternative का प्रयोग Option वाले अर्थ में किया है, अर्थात् उसमें दो की सख्यावाला बन्धन नही माना है। पर आक्सफर्ड डिक्शनरी से पता चलता है कि अँग्रेजी में सन् १६५० से ही Alternatiue में दो में से कोई एक ग्रहण करने का भाव चला आ रहा है। हिन्दी में Alternative का जो दूसरा अर्थ एकान्तर है, वह भी इसी 'दो मे से एक वाले' भाव से युक्त है।

पहले **चेतावनी** देकर सचेत कर दिया जाता है। पर इनके सिवा इस शब्द मे एक और भाव भी है। यदि किसी अवसर पर किसी से कोई भूल हो जाय, जिसके लिए उसे कुछ दड मिल सकता हो अथवा किसी प्रकार की उसकी कुछ हानि हो सकती हो, तो उसे भी **चेतावनी** दी जाती है। प्राय कार्यालय के कर्मचारियो को कोई भूल करने पर, भविष्य मे सावधान रहने के लिए **चेतावनी** दी जाती है। आशय यही होता है कि इस बार तो इस भूल के लिए तुम्हे कोई दड नही दिया जाता, परन्तु भविष्य मे फिर ऐसी भूल होने पर दड दिया जायगा। न्यायालय मे भी कभी-कभी छोटे-मोटे अपराधों के अपराधी इसी प्रकार **चेतावनी** देकर छोड दिये जाते हैं। **पूर्व-सूचना** अपेक्षया बहुत पहले से मिलनेवाली चेतावनी (केवल पहले अर्थ मे) है। जहाँ आगे चलकर किसी प्रकार के सकट की सम्भावना हो सकती हो, वहाँ इसका प्रयोग होता है। रोगी से यह कहना कि 'यदि अगली बरसात मे तुम अमुक औषध का सेवन न करोगे अथवा अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान न रखोगे, तो फिर बीमार पड जाओगे।' **पूर्व-सूचन** ही है। **चेतावनी** और **पूर्व-सूचन** तो सदा दूसरो की ओर से प्राप्त होते हैं, पर **साचित्य** दूसरों की ओर से भी प्राप्त हो सकता है और स्वय भी रखा जा सकता है। पहले से ही ऐसा ध्यान या व्यवस्था रखना जिसमे कोई सकट आने या हानि होने न पावे, साचित्य है। यह सचेत का भाव-वाचक रूप है, और इसका अर्थ है—सचेत रखने, रहने या होने की अवस्था, क्रिया या भाव। सडको पर प्राय **साचित्य** के जो पट्ट लगे रहते हैं, वे इस बात के सूचक होते है कि आगे के रास्ते मे दुर्घटना की सम्भावना है, अत सचेत होकर चलना चाहिए। हमे अपने पुराने अनुभव से भी **साचित्य** प्राप्त होता है। जब दो-चार बार हम देख लेते हैं कि अमुक प्रकार के कुपथ्य से हमे खाँसी या ज्वर हो आता है, तब हमारे लिए उस विषय मे सचेत रहना या **साचित्य** रखना आवश्यक होता है। बहुत पहले से सोच-समझकर रखा जानेवाला साचित्य ही **पूर्व-साचित्य** है। घर मे चोरो से बचने के लिए सदा **साचित्य** की आवश्यकता होती है, पर पहले से खिडकियाँ और दरवाजे बन्द कर रखना या बहुमूल्य वस्तुएँ मजबूत पेटियों या अच्छे बक की रक्षा मे रखना **पूर्व-साचित्य** है।

———

चौकन्ना (Alert)

चौकस (Wakeful) **सजग** (Wakeful)
जागरूक (Vigilant) **सतर्क** (Cautious)
जाग्रत (Awake) **सावधान** (Careful)

इस वर्ग के शब्द व्यक्तियो की ऐसी अवस्थाओ के सूचक हैं, जिनमें वे संकट आदि से बचने के प्रयत्न अथवा उपयुक्त अवसर से लाभ उठाने की ताक मे रहते हैं। इन सभी शब्दों मे मुख्य भाव यही है कि उपयुक्त समय आते ही मनुष्य उचित काम करने के लिए तैयार रहे। **चौकन्ना** चौ=चारो + कान से बना है, जिसका अर्थ होता है—चारो ओर कान रखना, अर्थात् हर तरफ की आहट लेते रहना। गौएँ, बैल, हिरन आदि पशु जगली अवस्था मे सदा शेर-चीतो और शिकारियो के भय से **चौकन्ने** रहते हैं—वे चारो ओर के शब्द कान लगाकर सुनते रहते हैं, और आहट पाते ही जान बचाने के लिए भाग खडे होते हैं। वही से यह शब्द मनुष्यो की इस प्रकार की स्थितियों के लिए लिया गया है। हम लोग किसी प्रकार के भय या सकट से बचने के लिए भी **चौकन्ने** रहते हैं और उपयुक्त समय आने पर उससे कुछ लाभ उठाने के लिए भी। **चौकस** मे भी बहुत कुछ वही भाव है, जो **चौकन्ना** में है, फिर भी यह उससेकुछ हलका और अधिक व्यापक शब्द है। दूर-दर्शी और समझदार लोग प्राय प्राकृतिक रूप से सदा चौकन्ने रहते हैं, और साधारण लोगो को विकट प्रसग आने पर चौकन्ने रहना पडता है। पर **चौकस** का प्रयोग सभी प्रकार की परिस्थितियो मे होता है—चाहे सकट की तत्काल कोई सम्भावना न हो। साधरणतः सभी लोग रात को सोने के समय **चौकसी** के विचार से घर की खिडकियाँ और दरवाजे बन्द करके सोते हैं; पर जिन दिनो महल्ले या शहर मे उपद्रवों या चोरियों की अधिकता होती है, उन दिनो सबको **चौकन्ने** रहना पड़ता है। इस दृष्टि से **चौकस** और **सतर्क** बहुत कुछ समानक हैं। दोनों मे मुख्य भाव यही है कि आनेवाले सकट का पहले से ध्यान रहे और उससे बचने की तैयारी रहे। **सावधान** भी बहुत कुछ इसी तरह का शब्द है। यह स० स + अवधान से बना है, और इसका शब्दार्थ है—जो ध्यान

से युक्त हो या रहे। अर्थात् सब बातों का ठीक और पूरा ध्यान रखना ही **सावधान** रहना या होना है। जिन कामों, चीजों या बातों का हमसे सम्बन्ध हो, उनके सम्बन्ध मे किसी प्रकार की उपेक्षा या त्रुटि न होने देना ही इसका मुख्य लक्षण है। हम सडको पर इसलिए **सावधान** होकर चलते हैं कि गाडियों की चपेट मे आकर गिर न पडे, माताएँ अपने बच्चों की देख-रेख मे और कर्म्मचारी अपने कर्त्तव्यो का पालन करन मे **सावधान** रहते हैं। **जागरूक, जाग्रत** और **सजग** अर्थ की दृष्टि से भी और व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी बहुत कुछ एक ही हैं। इनमे लाक्षणिक रूप से मनुष्य के उसी प्रकार चैतन्य या सचेत रहने का भाव मुख्य है, जिस प्रकार वह जागते रहने की दशा मे साधारणत रहता है। अर्थात् ऐसा नही होना चाहिए कि मानो वह सो रहा हो—कुछ देख, समझ या सुन न रहा हो। इन शब्दो मे **जागरूक** सबसे अधिक दमदार शब्द है। इसमे चौकन्ने या चौकस रहने की तुलना मे अधिक सक्रिय या सचेष्ट रहने और अधिक सूझ-बूझ रखने का भाव प्रधान है। मनुष्य कुछ सोच-समझकर और किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए **जागरूक** रहता है, और यह ध्यान रखता है कि हमारा कोई अनिष्ट या हानि न होने पावे। **सजग** मे भी है तो बहुत कुछ यही भाव, पर **जागरूक** की तुलना मे **सजग** कुछ हलका शब्द है। यह हिं० जागना (या जगना) मे के जग के साथ स उपसर्ग लगाकर बनाया हुआ ठेठ हिन्दी का शब्द है। स० **जाग्रत** का साधारण अर्थ तो है—जागता हुआ, पर प्रस्तुत प्रसग मे लाक्षणिक रूप से यह भी **सजग** का समानक ही है।

जलाना (१ Burn, २ Cremate)

आग लगाना (Set fire to) **पलीता लगाना** (Ignite)
उत्तापन (Ignition) **फूकना** (१.Char, २ Incinerate)
झुलसना (१. Scortch,२ Singe) **सुलगाना** (Kindle)
दागना (१. Brand, २. Sear)

इस वर्ग का मुख्य शब्द जलाना अर्थ की दृष्टि से बहुत व्यापक है। यह जलना का सकर्मक रूप है, जो स० ज्वलन से व्युत्पन्न है। इसका मुख्य अर्थ है—आग या बहुत अधिक ताप की क्रिया से भुक्त या प्रभाव से युक्त करना। जैसे—चूल्हे मे लकडी जलाना, दीये मे तेल जलाना आदि। इसमे इस बात का विचार नहीं होता कि जलाई जानेवाली चीज थोडी जलती है या बहुत, वह कुछ बच भी रहती है या बिलकुल नष्ट हो जाती है। जैसे—तवे पर रोटी जलाना, कुरते का कोना जलाना, तपी हुई रेत पर बिना जूते पहने चलने से पैर जलाना आदि आशिक परिणाम के सूचक हैं। पर जब हम कहते हैं—कमरे मे रखे हुए सभी कपड़े और कागज जला दिये गये, या गोदाम की सारी रूई जल गई या रात भर मे आठ मोम-बत्तियाँ जला डाली गई, तो ऐसे प्रयोग सर्वांशिक परिणाम के सूचक होते हैं। चिता पर मृत शरीर रखकर भस्म करना भी मुरदा जलाना कहलाता है। इसके लिए अधिक मर्यादा सूचक और शिष्ट प्रयोग हैं—दाह कर्म करना, अन्त्येष्टि करना, शव-दाह करना आदि। जब ज्वर मे शरीर का ताप बहुत बढ जाता है, तब भी कहा जाता है—सारा शरीर जल रहा है, और जब बहुत गरमी के कारण वनस्पतियाँ निर्जीव-सी हो जाती हैं, तब भी कहा जाता है—इस बार की तपन मे सब पेड़-पौधे जल गये। लाक्षणिक रूप मे यह भी कहा जाता है—इस लडके की बदमाशियो और बेईमानियों ने हमे जला डाला। आशय यही होता है कि इसने हमे बहुत ही दु खी और सन्तप्त कर रखा है। ईर्ष्या या क्रोध से जलना का अर्थ होगा—मन ही मन विकट सन्ताप का अनुभव करना। यदि कहा जाय—'उसने अपने पापों से अपनी आत्मा को जला डाला है।'

तो इसका आशय होगा—उसने बहुत अधिक दुष्कर्म करके अपना विवेक नष्ट कर दिया है। किसी चीज मे **आग लगाना** का साधारण अर्थ तो उसे जलाना है ही, फिर भी इसका प्रयोग कुछ विशिष्ट अर्थों और प्रसगो मे ही होता है। जैसे शत्रु-सेना ने सारा गाँव या नगर लूटकर उसमे **आग लगा दी**। अर्थात् जान-बूझकर पूरी तरह से नष्ट करने के उद्देश्य से जलाना ही उसे (या उसमे) **आग लगाना** कहलाता हैं। लाक्षणिक रूप मे इसका अर्थ होता है—द्वेष-वश या तमाशा देखने के लिए दूसरो मे लडाई-झगडा या वैर-विरोध कराना। जैसे—तुमने जरा-सी बात कहकर (या ना-समझी का काम करके) भाई भाई (या पडोसियो) मे **आग लगा दी***। **फूकना** अनुकरण-वाचक शब्द है। आग सुलगाने के लिए प्राय फू फू करके जो मुँह से हवा निकाली जाती है, उसी से यह शब्द बना है। यह भी एक अश मे वही है जो जलाना या **आग लगाना** है। किसी का घर **फूकना** और किसी के घर मे **आग लगाना** एक ही है। पर **फूकना** का प्रयोग कुछ विशिष्ट क्षेत्रो मे कई स्वतत्र अर्थों से भी युक्त है। जगलो मे लकडी का कोयला बनाने के लिए कई प्रकार के वृक्षो के तने और डालियाँ **फूकी** जाती हैं, और चूना बनाने के लिए कई प्रकार के ककड-पत्थर **फूके** जाते हैं। ऐसे प्रसगो मे फूकी जानेवाली चीज पूरी तरह से जलाकर नष्ट या भस्म नहीं कर दी जाती, बल्कि उसका उपयोगी अश बचा लिया जाता है, अथवा उसका उपयोगी रूपान्तर किया जाता है। वैद्य लोग रासायनिक क्रियाओं से धातुओं आदि की जो भस्म बनाते हैं, उसे भी **फूकना** कहते है। जैसे—राँगा, लोहा या सोना **फूकना**। इसी को पारिभाषिक क्षेत्र मे **भस्म करना** कहते हैं। लाक्षणिक रूप मे **फूकना** का अर्थ होता है—बुरी तरह से और विशेषत दुर्व्यसनों आदि मे धन-सम्पति नष्ट करना। जैसे—आज-कल वह हजारो रुपए हर महीने **फूक** रहा है, अथवा यह तो घर **फूककर** (अर्थात् अपनी बहुत बडी हानि करके) तमाशा देखना है। **झुलसना** और **दागना** प्राय एक वर्ग के शब्द हैं। **झुलसना** भी स० ज्वल् से ही बना है। जब कोई चीज इस प्रकार आशिक रूप मे और केवल

---

* **आग पानी में लगाते हैं लगानेवाले।—कोई शायर।**

ऊपर ऊपर से जलती या जलाई जाती है कि उसका बाहरी तल ही नष्ट, विकृत या विवर्ण होकर रह जाय, तो उसे **झुलसना** कहते हैं। यह क्रिया इसी रूप में अकर्मक भी रहती है और सकर्मक भी। जैसे—लू से शरीर **झुलसना** (अकर्मक), और लुआठी (जलती हुई लकड़ी) से किसी का मुँह **झुलसना** (सकर्मक)। **दागना** यो तों फा० दाग से बना हुआ माना जाता है, पर है यह मूलत संस्कृत से व्युत्पन्न ही। कारण यह है कि फा० दाग भी मूलत स० दह् धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है—जलाना या भस्म करना। स० दग्ध से जिस प्रकार प्रा० मे दाघ हुआ है, उसी प्रकार फारसी मे दाग हो गया है। दोनों ही दृष्टियों से **दागना** का पहला अर्थ होता है—दग्ध करना। यह कुछ विशेष उद्देश्यो से अथवा कुछ विशेष कार्यों के लिए आशिक रूप से कोई चीज जलाने की एक विशिष्ट क्रिया है। लोहा बहुत गरम करके शरीर पर लगाने से उतना अश जलकर प्राय स्थायी रूप से काला हो जाता है। इसी क्रिया से पहचान के लिए घोडे, साँड आदि पशु दागे जाते हैं, और कुछ दिन पहले तक भक्त साधु आदि अपने अग शख, चक्र, गदा, पद्म, त्रिशूल आदि के चिह्नो से इसलिए **दगवाते** थे कि इस लोक मे उनके सम्प्रदाय की पहचान तो हो ही, परलोक मे भी यम-दूत उन्हें पहचानकर उनके इष्ट देव के लोक मे ले जायँ। साँप शरीर में जहाँ काटता है, वहाँ पहले प्राय इसलिए गरम लोहे से **दाग देते** हैं कि सारा विष वही जल जाय, शेष शरीर मे फैलने न पावे। आज-कल कई तरह के घाव, फोडे आदि भी तेजाबों या दूसरे दाहक औषधो से **दाग** कर अच्छे किये जाते हैं। **पलीता लगाना** और **प्रज्वालन** एक ही वर्ग मे आते हैं। पलीता फा० फलीत का हिन्दी रूप है। टोने टोटके के लिए कागज पर कोई मन्त्र या यन्त्र लिखकर जलाने के लिए उस कागज की जो बत्ती बनाई जाती थी, वही फलीत कहलाती थी। इसी से आगे चलकर वह रस्सी भी पलीता कहलाने लगी जो पुरानी चाल की तोडेदार बन्दूको मे इसलिए लगाई जाती थी कि इधर रस्सी जला देने पर उसके द्वारा आग आगे बढकर उस बारूद तक पहुँच जाय जिसके भभकने से गोली छूटती थी। आज-कल **पलीता** ऐसी डोरी या तार को भी कहते हैं, जिसके द्वारा ताप या विद्युत् की धारा चलकर दूसरे सिरे पर लगी हुई ऐसी चीज तक पहुँचती

है, जो जल या भभक सकती हो। सीधे किसी वस्तु तक ताप या बिजली न पहुँचाकर इस प्रकार तार आदि के द्वारा पहुँचाना ही **पलीता लगाना** कहलाता है। लाक्षणिक रूप मे **पलीता लगाना** का अर्थ होता है—कोई ऐसी बात कहना या युक्ति लगाना जिसका दुष्परिणाम अन्दर ही अन्दर बहुत दूर तक पहुँचकर अन्त मे घातक या नाशक रूप मे प्रकट हो*। **उत्तापन** का अर्थ है—उत्तप्त या खूब गरम करना, और उत्तप्त या खूब गरम होने का फल होता है जलना। अत **उत्तापन** का अर्थ हुआ—खूब गरम करके जलाना। विस्तृत अर्थ की दृष्टि से यह भी वही है जो **पलीता लगाना** है, पर यह पारिभाषिक और वैज्ञानिक क्षेत्र का शब्द है, और इस विशिष्ट क्रिया का प्रयोग अनेक क्षेत्रों मे होता है। **सुलगाना** (स० सुलग्न ?) का अर्थ है—ऐसी चीज को जलाने का आरम्भिक प्रयत्न करना जो जल्दी या सहज मे न जलती हो। भोजन बनाने के समय चूल्हे मे कोयला या लकडी रखकर और उस पर मिट्टी का तेल आदि डालकर जलाने का जो प्रयत्न किया जाता है, अथवा कोयलो पर आग की चिनगारी रखकर पखे आदि से हवा करके सब कोयले अच्छी तरह जलाने का जो प्रयत्न किया जाता है, वही आग **सुलगाना** है। लाक्षणिक रूप मे अन्दर ही अन्दर राग, द्वेष, असन्तोष आदि दूषित बाते बढाने का प्रयत्न करना भी **सुलगाना** कहलाता है। जैसे—कुछ लोग बहुत दिनो से देश मे विद्रोह की आग **सुलगाने** का प्रयत्न कर रहे थे। हम यह भी कहते हैं—उनके मन मे बहुत दिनो से चिन्ता (दु ख, द्वेष आदि) की आग **सुलग** रही है। आशय यही होता है कि अन्दर ही अन्दर कोई ऐसी कष्टदायक बात हो रही है जो आगे चलकर उग्र रूप से अपना दुष्परिणाम प्रकट कर सकती है।

---

* आशय की दृष्टि से यह भी बहुत कुछ वही है, जो (लाक्षणिक रूप में) आग लगाना है।

जाँच (Test)

अंकेक्षण (Audit)
अनुसन्धान (Investigation)
अन्वेषण (Exploration)
गवेषणा (Research)
छान-बीन=अनुसन्धान
निरीक्षण (Inspection)
पड़ताल (Check)
परख=जांच (आंशिक रूप में)
परीक्षण, परीक्षा (Examination)
पूछ-ताछ (Enquiry)
शोध=गवेषणा
सत्यापन (Verification)
समीक्षा (Scrutiny)

जाँच हिं० जाँचना * क्रिया का भाव-वाचक रूप है। जब हमारे सामने कोई चीज आती है, तब हम अनुभव, तुलना, प्रयोग, व्यवहार आदि के द्वारा यह जानना चाहते हैं कि (क) यह चीज कैसी है अथवा (ख) ऊपर से देखने मे यह जैसी जान पडती है, वास्तव मे वैसी ही है या नहीं। यह मानो एक प्रकार का परीक्षण है, जिसे हिन्दी मे **परखना** कहते हैं और जिसका भाववाचक रूप **परख** † है। जाँच मे यही देखा जाता है कि जो कुछ सामने है, वह अच्छा, उपयुक्त, ठीक या पूरा है अथवा उसमे कोई कमी, दोष या भूल है। किसी को नौकर रखने या कोई चीज खरीदने से पहले प्राय उसकी जाँच कर ली जाती

* जाँचना सं० याचना से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है—किसी से प्रार्थना पूर्वक कुछ माँगना। पुरानी हिन्दी में जाँचना का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। प्रस्तुत प्रसग में इसका जो अर्थ है, वह इसी मूल अर्थ का विकसित रूप है। आशय यह है कि देख, पूछ या माँगकर यह परीक्षा करना कि यह खरा है या खोटा।

† एक दूसरे प्रसग से परख का अर्थ होता है-अभ्यास आदि के द्वारा प्राप्त की हुई वह योग्यता या शक्ति जिससे सहज मे यह जान लिया जाता है कि सामने आई हुई चीज अच्छी है या बुरी।

है, और किसी व्यक्ति के सम्बन्ध मे कुछ सन्देह होने पर उसके चरित्र, व्यवहार आदि के सम्बन्ध मे भी जाँच होती है। **अनुसन्धान** और **छान-बीन** इसी के कुछ अधिक गम्भीर तथा वर्धित रूप हैं। **अनुसन्धान** तो संस्कृत का शब्द है ही, जिसका मूल अर्थ है—किसी के पीछे लगकर उसका सन्धान या पता लगाना, पर **छान-बीन** हि० छानना+बीनना (चुनना) से बना हुआ उसका भाव-वाचक रूप है। अनाज काम मे लाने से पहले छाना और बीना (या चुना) जाता है—उसमे का कूडा-कचरा निकालकर अलग किया जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में ये दोनो शब्द ऐसी **जॉच** के वाचक हैं जिनमे अपेक्षया अधिक प्रयास या परिश्रम किया जाता है। **जॉच** और **छान-बीन** तो बहुधा ऐसी बातो के सम्बन्ध मे होती है जिनका बहुत-कुछ अश हमारे सामने आ चुका होता है, पर **अनुसन्धान** ऐसी बातों का भी हो सकता है, जिनका बहुत बडा अश अभी अन्धकार मे हो, जिनके सम्बन्ध मे बहुत-से तथ्यों का पता लगाना हो। किसी विषय के ब्योरे की और सूक्ष्म बातो की जाँच ही **अनुसन्धान** है। किसी बहुत बड़े अपराध या दुर्घटना के सम्बन्ध मे पुलिस को बहुत **छान बीन** करनी पडती है, पर किसी पदार्थ या वस्तु के गूढ तत्त्वो का पता लगाने के लिए वैज्ञानिकों को और किसी बहुत पुराने राजा का काल, वश आदि जानने के लिए पुरातत्त्व के ज्ञाताओं को बहुत-कुछ **अनुसन्धान** करना पडता है। **पूछ ताछ** भी इसी वर्ग का शब्द है। **पूछ-ताछ** हिं० पूछना + अनु० ताछना का भाववाचक रूप है। जब किसी तथ्य का पता लगाने के लिए हम इधर-उधर के लोगो से कुछ बाते पूछते हैं, तो इसे **पूछ-ताछ** कहते हैं। यह भी **जॉच** या **अनुसन्धान** का एक प्रकार ही है। कही कोई अपराध या दुर्घटना हो जाने पर पुलिस वहाँ **पूछ-ताछ** करने पहुँचती है, और किसी सन्दिग्ध व्यक्ति के पकडे जाने पर भी उसके सम्बन्ध मे उससे **पूछ-ताछ** करनी पडती है। बड़े बडे कार्यालयो मे, जहाँ बहुत-से विभाग या काम होते हैं, नये आदमियो को पहुँचकर पहले किसी नियत स्थान पर (जिसे पूछ-ताछ घर या इन्क्वायरी आफिस कहते हैं) पहुँचकर **पूछ ताछ** करनी पडती है कि अमुक कार्य कहाँ या कैसे होगा अथवा अमुक विभाग के अधिकारी कब, कहाँ या कैसे मिलेगे। हिन्दी मे

अनुसन्धान और **अन्वेषण** प्राय समानक माने जाते हैं, पर दोनो मे जो व्युत्पत्तिक अन्तर है, वही उनके अर्थों मे सूक्ष्म पार्थक्य करता है। **अनुसन्धान** मे किसी बात या व्यक्ति का सन्धान या पता लगाना पडता है, और **अन्वेषण** में एषण या (किसी बात या वस्तु की) खोज की इच्छा प्रधान होती है। आज-कल **अन्वेषण** (मूल अर्थ—खोजना या ढूँढना) बहुत दूर की और प्राय ऐसी अज्ञात वस्तुओं, स्थानो आदि का पता लगाना कहलाता है जो अब तक सामने न आई हो या जिनके सम्बन्ध मे बहुत थोडे तथ्य ज्ञात हों। प्राय साहसी अन्वेषक बड़े-बड़े बीहड जगलो, पहाडो और प्रदेशो मे पहुँचकर वहाँ की नई नई बातों का **अन्वेषण** करते हैं। उत्तरी ध्रुव या हिमालय पर्वत की उपत्यकाओ और ऊँची चोटियों के चक्कर इसी प्रकार के **अन्वेषणो** के लिए लगाये जाते हैं, और युद्ध काल मे हवाई जहाज आस-पास की सैनिक स्थितियो अथवा सैनिक महत्व के स्थानों का **अन्वेषण** करने निकलते हैं। अपने विस्तृत और सार्विक अर्थ मे किसी प्रसग मे नये तथ्यो या बातो का पता लगाने या कुछ ढूँढ निकालने का प्रयत्न ही **अन्वेषण** है। **गवेषणा** (स० गव=गौ+एषणा) का मूल अर्थ है—गौ या गौओ को पाने की इच्छा या कामना करना, अथवा (भूली-भटकी, चोरी गई हुई या छिन जाने के कारण हाथ से निकल गई हुई) गौ या गौओ को ढूँढने निकलना। यह हमारी सभ्यता के उस आरम्भिक समय का शब्द है, जब गौएँ ही मुख्य सम्पत्ति होती थी। पर अब यह ऐसे **अनुसन्धान** या **छान बीन** का वाचक हो गया है जो किसी वैज्ञानिक या शास्त्रीय विषय के सम्बन्ध में नई बातो का पता लगाने के लिए की जाती है। आज-कल इतिहास, पुरा-तत्त्व, प्रकृति, भौतिक विज्ञान आदि के अच्छे ज्ञाता और पडित अपने प्रिय विषय के सम्बन्ध मे नये नये तथ्यो का पता लगाने के लिए जो छान-बीन करते हैं, वही **अन्वेषण** है। इसमे निरन्तर बहुत परिश्रमपूर्वक अनेक प्रकार के अध्ययन, अनुशीलन और विचार करने पडते हैं, और प्राय ऐसे नये तथ्यों और सिद्धान्तों का प्रस्थापन करना पडता है जिनसे या तो पुराने तथ्यों और सिद्धान्तों का खडन होता है या उनमे सशोधन और सुधार होता है। किसी बात या विषय की मूल स्थिति अथवा गूढ रहस्य जानने के लिए कुछ अधिक समय तक चलती रहनेवाली विचारपूर्ण जाँच

या छान-बीन ही **गवेषणा** है। वास्तविक तथ्य या शुद्ध रूप का पता लगाना ही इसका उद्देश्य होता है। हम कहते हैं—आज-कल प्राय सभी उन्नत और सभ्य देश (या राष्ट्र) अपने यहाँ परमाणु सम्बन्धी अनेक प्रकार की **गवेषणा**एँ कर रहे हैं। **शोध** का मूल अर्थ है—शुद्ध या स्वच्छ करने की क्रिया या भाव। पर मराठी मे यह शब्द प्राय उसी अर्थ मे चलता है जो यहाँ **गवेषणा** का बतलाया गया है, और वही मे आकर यह हिन्दी मे भी थोडा-बहुत चल गया है। **निरीक्षण** किसी काम, चीज या बात को ऐसी पैनी दृष्टि से देखना है जिसमे उसकी त्रुटियों, दोषो आदि का पता लग जाय और उन्हे दूर किया जा सके। इसका एक गौण हेतु यह भी होता है कि भविष्य मे उस प्रकार की त्रुटियाँ या दोष न होने पावे। आज-कल इस शब्द का प्रयोग प्राय बडे अधिकारियो के प्रसग मे ऐसे साधारण दृष्टि-पात के अर्थ मे भी होने लगा है, जिसका उद्देश्य त्रुटियाँ या दोप निकालना नही, बल्कि केवल ज्ञान या परिचय प्राप्त करना अथवा यों ही देखना भर होता है। हम कहते हैं—राष्ट्रपति महोदय ने इस बार की यात्रा मे दामोदर बाँध (अथवा चित्तरजन नगर के इजन बनानेवाले कारखाने) का भी **निरीक्षण** किया था। ऐसी अवस्थाओ मे यह साधारण देखना का आदरार्थक रूप ही रहता है। **परीक्षा** और **समीक्षा** प्राय एक ही वर्ग के शब्द है। **समीक्षा** का साधारण अर्थ है—किसी बात या वस्तु के सभी अग और उपाग अथवा ब्योरे की सभी बाते बहुत अच्छी तरह और ध्यान से देखना और उसके गुण-दोपो का पता लगाना। ग्रन्थो, लेखो आदि की **समीक्षा** इसी उद्देश्य और दृष्टि से होती है। **परीक्षण** या **परीक्षा** भी है तो बहुत-कुछ यही, पर इसका उद्देश्य अपेक्षया कुछ अधिक व्यापक होता है। किसी वस्तु से सम्बन्ध रखनेवाली विशिष्टता, सत्यता आदि या किसी कार्य-प्रणाली और उसके फल-स्वरूप होनेवाली सिद्धि से परिचित होने के लिए और भी अधिक सूक्ष्म दृष्टि से जो जाँच या **समीक्षा** की जाती है, वही **परीक्षा** कहलाती है। कुछ अवस्थाओ मे यह प्रश्नो के द्वारा और कुछ अवस्थाओं मे प्रयोगों के द्वारा होती है। चिकित्सक लोग जब तक किसी नई दवा की **परीक्षा** नहीं कर लेते, तब तक उसे पारित नही करते। विद्यार्थियों को अपना अध्ययन पूरा करने के उपरान्त (प्रश्नो के उत्तर देते हुए) इस बात की **परीक्षा**

देनी पडती है कि उन्होंने अपने विषय (या विषयो) का ठीक और पूरा अध्ययन किया है या नही। जौहरी लोग गहनों और रत्नो का **परीक्षण** करके उनका अर्घ निश्चित करते हैं। **अकेक्षण** भी है तो एक प्रकार की **परीक्षा** या **समीक्षा** ही, पर (जैसा कि इसके पहले पद 'अक' से स्पष्ट है) यह एक विशिष्ट क्षेत्र का शब्द है। वही-खाते, लेखे-जोखे या हिसाब-किताब की **परीक्षा** या **समीक्षा** ही **अकेक्षण** है। जब आय व्यय या लेन-देन का कोई बडा लेखा या हिसाब बनकर तैयार होता है, तब इस बात की **जाँच** होती है कि वह लेखा या हिसाब सब तरह से बिलकुल ठीक है या नहीं। यही **अकेक्षण** है। **पडताल*** हमारे यहाँ का पुराना महाजनी शब्द है। इसमे उस पूरे अर्थ का अन्तर्भाव तो होता ही है जो यहाँ **अंकेक्षण** का बतलाया गया है, उसके सिवा इसके अर्थ मे एक और तत्त्व भी है। इसमे सभी तरह के कागज-पत्रो तथा लेखों की वह छान-बीन या **जाँच** भी आ जाती है जो उसकी शुद्धता, सत्यता आदि के सम्बन्ध मे की जाती है। पुराना हिसाब ढूँढ निकालने के लिए वही-खातो की और साल भर की लेखियाँ जाँचने के लिए पटवारियो की पजियो की **पडताल** होती है। कुछ अवसरों पर इसका प्रयोग **जाँच** के साथ यौगिक पद **जाँच-पडताल** के रूप मे भी होता है, और ऐसी अवस्था मे इसमे दोनों शब्दों का आशय या भाव आ जाता है। **सत्यापन** का साधारण अर्थ है—किसी बात की सत्यता की **जाँच** करना। किसी लेखे या विवरण की सत्यता के सम्बन्ध मे जो **जाँच** या **पड़ताल** होती है, वही प्रस्तुत प्रसग मे **सत्यापन** है। इसमे प्राय प्रत्येक पद या बात के ठीक होने की जाँच होती है। किसी मूल लेख या लेख्य की प्रतिलिपि के अक्षरश

---

* हिन्दी शब्द-सागर मे इसे परितोलन (अच्छी तरह तौलना) से व्युत्पन्न बतलाया गया है, पर यह व्युत्पत्ति कल्पित है और सन्दिग्ध जान पडती है। सम्भव है, इस शब्द का सम्बन्ध उस पड़ता शब्द से हो जिसका एक अर्थ माध्य (देखे माध्य) और दूसरा अर्थ लागत, व्यय आदि का लगाया जानेवाला वह हिसाब है, जिसके आधार पर किसी वस्तु का मूल्य स्थिर किया जाता है।

ठीक होने के सम्बन्ध मे मिलान करने पर जो जाँच होती है, वह भी और उसकी सत्यता प्रमाणित करने की जो लेखन क्रिया होता है,वह भी **सत्यापन** कहलाती है।

———

ज्ञान (Knowledge)

अनुभव (Experience) **बोध** Comprehension)
अन्तर्ज्ञान (Instinct) **सहज बुद्धि** (Intuition)
अन्तर्बोध=अन्तर्ज्ञान **सूचना** (Information)
जानकारी (Knowledge
आंशिक रूप में)

ज्ञान का पहला और साधारण अर्थ है—जानना। अनेक प्रकार के उपायों और साधनो से हम जितनी बाते जान और समझ लेते हैं, उन सबका सामूहिक नाम **ज्ञान** है। हम नित्य बहुत-सी बाते देखते-सुनते और समझते-सीखते रहते हैं, और अनुभव, छान-बीन, निरीक्षण आदि के द्वारा कारणों, नियमो, सिद्धान्ता तथा इसी प्रकार की और बहुत-सी बातों से परिचित होते रहते हैं। इस प्रकार की सभी बातें हमारे **ज्ञान** का अग होती और उसे बढाती रहती हैं। किसी बात की ठीक, पूरी और वास्तविक **जानकारी** या परिचय ही उसका **ज्ञान** कहलाता है। धार्मिक क्षेत्रो मे आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध तथा स्वरूप का ठीक-ठीक परिचय या बोध ही **ज्ञान** माना जाता है। **ज्ञान** का वास्तविक और सत्य होना आवश्यक है। यदि वह पूरा, वास्तविक और सत्य न हो, तो वह **जानकारी, परिचय** आदि के वर्ग मे ही रह जायगा, उसकी गिनती विशुद्ध **ज्ञान** मे नहीं होगी। **जानकारी** भी है तो **ज्ञान** के ही अन्तर्गत, क्योकि जानना वस्तुत **ज्ञान** से ही व्युत्पन्न है, पर वह अधूरी या अ-वास्तविक भी हो सकती है और पूरी या वास्तविक भी। यह **ज्ञान** का साधारण और हलका रूप है। आरम्भ मे हमे किसी कला, विद्या या

विषय की साधारण जानकारी होती है, पर कुछ दिन बाद अध्ययन, अनुभव, अभ्यास, कर्त्तृत्व, शिक्षा आदि के योग से हमे उसका अच्छा ज्ञान होने लगता है। इसी दृष्टि से कहा जाता है—उन्हे दर्शन शास्त्र (या विज्ञान, साहित्य आदि) का अच्छा ज्ञान है। इस प्रकार का ज्ञान सदा इन्द्रियों के द्वारा बाहर से प्राप्त होता है, और हम उसे अर्जित करके अपने मन मे सचित करते चलते है। पर इसके सिवा एक और प्रकार का ज्ञान होता है, जो हमे प्रकृति की ओर से (स्वाभाविक रूप से) प्राप्त होता है। यही प्राकृतिक ज्ञान अन्तर्ज्ञान या अन्तर्बोध कहलाता है। अन्तर्ज्ञान मनुष्यों को ही नही, जीव मात्र को होता है, और जीवन भर बना रहता है। यह अन्तर्ज्ञान हमे कही बाहर से अर्जित करना या सीखना नही पडता, और न इसके लिए किसी तर्क या विचार की अपेक्षा होती है। यही अन्तर्ज्ञान जीव मात्र को अपने क्षेम-कल्याण, जीवन-निर्वाह, वश-वृद्धि आदि मे प्रवृत्त करता और समर्थ रखता है। जीव-जन्तुओ के क्षेत्र मे बोध और समझ (अपने मूल अर्थ मे) इसी अन्तर्ज्ञान के समानक हैं, और वहाँ इनके वर्धन, विकास आदि के लिए विशेष अवकाश नहीं होता—इनका स्वरूप सदा बहुत-कुछ एक-सा बना रहता है। पर मानव वर्ग मे इसका परिवर्द्धन, विकास और सस्कार भी हो सकता और बहुधा होता भी है। इसी से कर्त्तृत्व का क्षेत्र तथा ज्ञान का भडार बढता रहता है। मानव वर्ग मे जो अन्तर्ज्ञान होता है, वही दर्शन शास्त्र, मनोविज्ञान आदि मे सहज-बुद्धि कहलाता है। यह वही शक्ति है जिसके द्वारा मनुष्य कुछ विशिष्ट अवसरो पर बिना कुछ तर्क-वितर्क किये अथवा बिना कुछ सोचे-समझे या कर्मेन्द्रियो की सहायता लिये आपसे आप किसी बात की तह तक पहुँच जाता अथवा स्थिति का बोध प्राप्त कर लेता है। इससे मनुष्य को अनेक अतीन्द्रिय तथा लोकोत्तर बातों या विषयो का तत्काल ज्ञान हो जाता है। हम जानें या न जानें, चाहे या न चाहे, पर अन्तर्ज्ञान आवश्यकता पडने पर हमसे अपेक्षित और कर्त्तव्य कर्म करा ही लेता है। बोध हमारी बुद्धि का धर्म भी है और फल भी। यो यह ज्ञान और समझ दोनों का पर्याय माना जाता है, पर यह मुख्यत बुद्धि को वह शक्ति है जो हमे विचारों और विषयों से परिचित होने अथवा उन्हे ग्रहण करने मे समर्थ करती है। हम कहते हैं—थोडे ही दिनो मे इस लडके को सस्कृत

का अच्छा बोध हो गया है। यहाँ हमारा अभिप्राय सस्कृत भाषा और व्याकरण से ही होता है, और यहीं तक इस वर्ग की और बातें बोध का विषय होती हैं। **सूचना** हमारे **ज्ञान** का वह साधारण और हलका रूप है, जो हमे यों ही, दूसरों से कुछ सुनने या पुस्तकें, पत्र आदि पढने से प्राप्त होता है। इसमे **ज्ञान** का-सी गम्भीरता नहीं होती, ऐसी ऊपरी जानकारी भर होती है जो कभी आवश्यकता पडने पर हमारे काम आ सकती है। फिर भी बहुत-सी **सूचनाओ** का भडार हम सुविज्ञ बना सकता है। बहुत-सी **सूचनाएँ** हमारे लिए निरर्थक या रद्दी भी हो सकती हैं। अपने व्यक्तिगत ज्ञान के आधार पर बहुत-से काम करते रहने और देखते, समझते या सुनते रहने की दशा में हम जो बातें जानते हैं, उन्ही सबका पुज या राशि हमारा **अनुभव** है। हमे अपने जीवन के दैनिक व्यवहारों, परिस्थितियो अथवा दु ख-सुख आदि की स्थितियों से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह भी इसी **अनुभव** के अन्तर्गत आता है। **अनुभव** व्यक्तियों का तो होता ही है, जातियों, देशो, वर्गों, समाजो आदि का भी होता है। इसका मुख्य उपयोग हमारे भावी जीवन के आचरण और व्यवहार के क्षेत्र मे होता है। इसी लिए हम कहते हैं—अनुभवी आदमी जल्दी कहीं धोखा नही खाता, अथवा तुम्हे अपने **अनुभव** के आधार पर तो सँभलकर चलना चाहिए था।

ज्योतिष

गणित ज्योतिष (Astronomy) फलित ज्योतिष (Astrology) तेजस् ज्योतिष (Radio Astronomy)

आकाश या व्योम मे हमे जो असख्य ग्रह, नक्षत्र आदि पिंड दिखाई देते हैं, वे बिलकुल नियत रूप मे और नियत गति से एक नियत गोलाकार

या अडाकार मार्ग मे चक्कर लगाते रहते हैं। इन सबकी गति-विधि आदि बतलानेवाला शास्त्र ज्यौतिष कहलाता है। इसके दो मुख्य भेद हैं—**गणित ज्यौतिष** और **फलित ज्यौतिष**। **गणित ज्यौतिष** मे इस बात का विचार होता है कि कौन-सा ग्रह या नक्षत्र किस गति और किस मार्ग से और कितने समय मे अपनी परिक्रमावाली यात्रा पूरी करता है। इसी की सहायता से यह पता चलता है कि कब कौन-सा ग्रह या नक्षत्र कहाँ पर था; अथवा वह इस समय कहाँ है और भविष्य मे कब कहाँ पहुँचेगा। अब कुछ ऐसी युक्तियाँ भी निकल आई हैं जिनसे यह जाना जाता है कि अमुक नक्षत्र या पिंड किन-किन तत्त्वो से बना है, वह अपनी जीवन-यात्रा को किस स्थिति मे है, और हमारी पृथ्वी से कितनी दूरी पर है, आदि-आदि। भिन्न-भिन्न ग्रहों और आकाशस्थ पिडो के भूत और भावी ग्रहण-कालों आदि का पता इसी शास्त्र से लगाया जाता है। इधर हाल मे जब से रेडियो का आविष्कार हुआ है, तब से इसकी एक नई शाखा निकली है जिसे **तेजस् ज्यौतिष** कहते हैं। **गणित ज्यौतिष** का कार्य क्षेत्र तो हमारे विश्व तक ही परिमित है, पर **तेजस् ज्यौतिष** से इस विश्व के बाहर और ब्रह्माड के दूसरे अनेक दूरस्थ भागो के सम्बन्ध की भी बहुत-सी बातो का पता लगने लगा है, जिनसे हम लोग अभी तक अनभिज्ञ ही थे। (विशेष दे० 'आकाश' और 'ब्रह्माड') ज्यौतिष का वह अग **फलित ज्यौतिष** कहलाता है, जिसमे इस बात का विचार होता है कि ग्रहों, नक्षत्रों आदि का हमारी पृथ्वी, उसके भिन्न भिन्न विभागो या देशो और उनके निवासियों आदि पर कब, क्या और कैसा प्रभाव पडता है। व्यक्तियो के जन्म-काल के विचार से उनके सारी भावी जीवन की बातें और भविष्य मे होनेवाली घटनाओ के रूप और काल तक इसके द्वारा जाने और बतलाये जाते हैं। वर्षा, शीत, ताप, भूकम्प आदि के सम्बन्ध मे भी इसके द्वारा भविष्यद्वाणियाँ की जाती हैं। बहुत-से लोगों का ज्यौतिष के इस अग पर विश्वास नही है और वे इसे कपोल-कल्पना मात्र समझते हैं, पर बहुत-से लोग ऐसे भी हैं जो इस पर पूरा-पूरा विश्वास रखते हैं। इस शास्त्र के द्वारा जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं, वे कभी तो ठीक घटते हैं और कभी नहीं भी घटते। पर **गणित ज्यौतिष** का आधार गणित शास्त्र और उसकी अनेक प्रकार की गणनाएँ हैं, इसलिए उसके

निष्कर्ष सदा ठीक होते हैं। उनमे कभी भूल हो ही नही सकती, क्योंकि वे निश्चित नियमों और सिद्धान्तो पर आश्रित होते हैं।

टक्कर (Collision)

झटका (Jerk) **विघात** (Concussion)
ठोकर (Kick, trip) **संक्षोभ** (Shock)
धक्का (१. Push, २ Shock) **संघात** (Impact)
भिड़न्त (Clash) **समाघात** (Percussion)
मुठ-भेड़ (Encountor) **हिचकोला** (Jolt)

टक्कर हिं० टकराना से बनी भाववाचक सज्ञा है। टकराना (अकर्मक) का अर्थ है—दो चीजो का एक दूसरी से कुछ इस प्रकार जोर से आकर भिडना कि दोनो को या एक को आघात लगे और हानि पहुँचे। इसके लिए दोनो का या एक का गति मे होना और टकराने के फल-स्वरूप उस गति मे बाधा पडना आवश्यक है। **टक्कर** अचानक होती है और इसकी तत्क्षण समाप्ति भी हो जाती है, इसका परिणाम चाहे जो हो और चाहे जितनी देर तक रहे। अँधेरे मे चलते समय हमारे सिर मे खम्भे या दीवार की **टक्कर** लग सकती है, सडक पर बैल-गाडी और मोटर की तथा रेल की पटरियो पर इ जनो की भी **टक्कर** होती है। इस शब्द का प्रयोग लाक्षणिक रूप मे भी होता है। किसी समय आर्य-समाजियो और सनातन-धर्मियों मे खूब **टक्करे** होती थीं, और पाकिस्तानी आन्दोलन के समय हिन्दू-मुसलमानो मे जमकर **टक्करे** होती थी। ऐसे प्रसगों मे आशय यही होता है कि बराबरी के दोनो पक्ष आपस में खूब लडते-भिडते, कहा-सुनी करते और एक दूसरे की हानि करने या उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। दो परस्पर विरोधी विचार-धाराओ मे भी **टक्कर** होती है। परन्तु ऐसे अवसरों पर **टक्कर** प्राय ऐसे

विरोध की सूचक होती है जो जल्दी दूर नहीं हो सकता। इसी आधार पर मुहावरे का एक पद भी बन गया है—'टक्कर का' जिसका अर्थ होता है—जोड, बराबरी या मुकाबले का। जैसे—इसकी **टक्कर** की और कोई किताब है ही नहीं। एक और मुहावरा है—किसी से टक्कर लेना=किसी की बराबरी तक पहुँचना। जैसे—उनकी कोठी अच्छे-अच्छे महलों से **टक्कर** लेती है। यहाँ **टक्कर** मे विरोध का नही, बल्कि बराबरी का भाव है। **झटका** शब्द अनुकरण-वाचक क्रिया 'झटकना' से बना है। झटकना का अर्थ है—अकस्मात् जोर से दूर हटाना या फेकना। **झटका** इसी क्रिया का परिणाम है। कोई चीज तेजी से बटती हुई सहसा किसी और चीज से टकराकर इस प्रकार रुक जाती है कि आगे पडनेवाली चीज उसके धक्के से कुछ दूर जा पडती है। जब रेल-गाडी मे इंजन आकर लगता है, तब उसके **झटके** से सब डब्बे सहसा हिलकर कुछ आगे बट या पीछे हट जाते हैं। कुछ लोग साँप की दुम पकडकर उसे ऐसा **झटका** देते हैं कि उसकी सब हड्डियाँ टूट जाती है। **झटका** उस भौतिक या शारीरिक परिणाम का भी सूचक है जो साधारण आघात या धक्का लगने पर होता है। जैसे—गिरने से किसी नस का **झटका** खाना, बीमारी का **झटका** लगना, व्यापार मे छोटे-मोटे घाटे का **झटका** लगना आदि। बार बार और ठहर-ठहरकर लगनेवाले छोटे और हलके झटको को **हिचकोला** कहते हैं। यह अनुकरण-वाचक शब्द है, और इसकी गति आगे-पीछे भी होती है और ऊपर-नीचे भी। एक्के, ताँगे आदि की सवारियाँ **हिचकोले** खाती हुई चलती हैं। **धक्का** स० धक्क से बना है, जिसका अर्थ है—नष्ट करना, मार डालना आदि। पर इसका साधारण अर्थ इस व्युत्पत्तिवाले अर्थ से अलग है। **झटका** और **धक्का** मे मुख्य अन्तर यही है कि **झटके** से **धक्का** सदा कुछ उग्र या विकट होता है। **झटका** मुख्यत उस गति का परिणाम है जो बहुत वेग मे होने पर भी सहसा रुक जाती है, पर **धक्का** उस प्रयत्न या व्यापार का सूचक है जो आघात करता और गिरा देता या गिराने का प्रयत्न करता है। जैसे-गाडी के **धक्के** से लडका गिर गया। **धक्का** का एक लाक्षणिक अर्थ भी होता है। कभी-कभी कोई ऐसा आघात या व्याघात होता है जिसका स्थिति, मन आदि पर अनिष्ट या विपरीत प्रभाव पडता है। बाजार-भाव गिरने से प्राय व्यापार को, कोई अनुचित

बात हो जाने पर प्रतिष्ठा को और किसी की मृत्यु से मन को ऐसा **धक्का** लगता है जिससे आदमी का सँभलना कठिन हो जाता है। इसी लाक्षणिक अर्थ में यह **सदाभ** का समानक है।

ठोकर हिं० ठोकना से बनी भाववाचक संज्ञा है, पर इसका अर्थ ठोकना के अर्थ से बिलकुल अलग है। चलते समय पैर में कड़ी या भारी चीज की जो टक्कर लगती है, मुख्यत वही **ठोकर** है। **टक्कर** और **ठोकर** में कई अन्तर हैं। एक तो **टक्कर** सिर या सामनेवाले अथवा ऊपरी भाग से होती है, और दूसरे इसमें टकरानेवाली चीजों की कुछ समानता का भाव होता है। पर **ठोकर** प्राय पैर की ओर के या निचले भाग में लगती है*, और इसमें उस चीज के भारीपन का भाव मुख्य है, जिससे कोई चीज टकराती या **ठोकर** खाती है। इसमें चलते समय बीच में सहसा ऐसी टक्कर या धक्का लगता है, जिससे ठोकर खानेवाली चीज अपने स्थान से हिल और उछलकर कुछ पीछे या दूर हट जाती है और उसका सन्तुलन बिगड़ जाता है। **ठोकर** खाकर चलता हुआ घोड़ा गिर सकता है और मोटर उलट सकती है। किसी को जान-बूझकर पैर के अगले भाग या पंजे से **ठोकर** लगाई भी जाती है। **ठोकर** का पहला लाक्षणिक अर्थ होता है—ऐसा आघात जो किसी को अपमानित करके दूर हटाने के लिए किया जाय। दूसरा अर्थ होता है—बीच में उपस्थित होनेवाली ऐसी बाधा या विरोध जो भविष्य के लिए सचेत कर सके। जैसे—**ठोकरें** खाकर ही आदमी सीखता है, अथवा पहली ही **ठोकर** में उन्हें सँभल जाना चाहिए था। **भिड़न्त** और **मुठभेड़** एक वर्ग के शब्द हैं। **भिड़न्त** हिं० भिड़ना का भाववाचक रूप है। भिड़ना का अर्थ है—अचानक दो वस्तुओं या व्यक्तियों का आमने-सामने आकर इस प्रकार टकराना कि दोनों के तल एक दूसरे से सट जायँ और एक से दूसरे को कुछ आघात पहुँचे। **भिड़न्त** छोटी-मोटी लड़ाई या मार-पीट के रूप में भी हो सकती है और जबानी कहा-सुनी या विवाद के रूप में भी। यह हलकी टक्कर के रूप में,

---

*** प्रायः लोग भूल से कह जाते हैं—अँधेरे में सिर में ठोकर लगी। होना चाहिए—टक्कर लगी। हाँ, पैर में ठोकर ही लगती है, टक्कर नहीं।**

आघात के भाव से रहित और निर्दोष भी हो सकती है। ऐसी दशा मे इसका अर्थ होता है—मुकाबला या सामना होना। **मुठ-भेड़ में** का मुठ शब्द हिं० मुट्ठी का वाचक है, और भेड भी उसी प्रकार भिडना का सक्षिप्त भाववाचक रूप है, जिस प्रकार **भिडन्त** है। इसमें का मुठ शब्द मुठ्ठी का वाचक होने के कारण दो बातो का सूचक हो सकता है, एक तो बँधो हुई मुठ्ठी (या मुक्के) का, और दूसरे, उस मुठ्ठी का जिसमे तलवार की मूठ पकडी हुई हो। मूलत या तो यह मुक्को से होनेवाली लडाई का सूचक रहा होगा, या हाथ मे तलवार की मूठ पकडकर किये जानेवाले द्वन्द्व युद्ध का। अधिक सम्भावना इसी अन्तिम बात की जान पड़ती है। इसका प्रयोग प्राय सैनिक सघर्षों के प्रसग मे होता है। जगल मे डाकुओं के दल से पुलिस की टुकडी की मुठ-भेड होती है। गुडे-बदमाशों के दलों मे भी प्राय **मुठ-भेड** होती रहती है। **भिड़न्त** की तरह इसका प्रयोग भी साधारण वाद-विवाद के सम्बन्ध मे हो सकता है। लाक्षणिक अर्थवाली **टक्कर** मे तो थोडे-बहुत नाश या हानि का भाव होता है, पर **मुठ-भेड** मे लडाई-झगडे, वैर-विरोध आदि का भाव है। **टक्कर** तो बडे और छोटे मे भी हो सकती है, पर **मुठ-भेड** और **भिड़न्त** मे दोनों पक्ष प्राय बराबर के होते हैं। **सघात** भी **टक्कर** के ही वर्ग का शब्द है; पर इसमे कुछ अतिरिक्त भाव भी है। जब किसी ओर से वेगपूर्वक आनेवाली वस्तु का तल दूसरी वस्तु के तल से टकराता है और उस वस्तु पर आकर टकरानेवाली वस्तु की किसी प्रकार की छाप या प्रभाव पडता है, तब उसे **सघात** कहते हैं। इसमे उन तलों का भाव प्रधान है जो आपस मे टकराते हैं। तोप के गोलों के **सघात** से किले की दीवारे ढह जाती हैं, और चाँद-मारी के लिए ऐसे तख्ते बनाये जाते हैं, जो गोलियों का **सघात** सह सकें। लाक्षणिक रूप मे इसका प्रयोग अ-भौतिक या अ-मूर्त्त पदार्थों के सम्बन्ध मे भी होता है। जैसे—नई पीढी के लोग मन मे नये नये विचारो के **सघात** का अनुभव करते हैं। फिर भी यह स्थानिक ही होता है, और इसकी व्याप्ति उसी तल तक या उसके आस-पास परिमित रहती है, जिसपर या जिससे **संघात** होता है। **सक्षोभ** उस परिणाम या प्रभाव का सूचक है जो **सघातवाले** तल के सिवा शेष सारे शरीर पर पडता है। **सघात** से जो उत्तेजना, क्षोभ या स्तब्धता होती है, वही **सक्षोभ** है। बोल-

चाल मे यही **धक्का** कहलाता है। यह मानसिक भी हो सकता है, शारीरिक भी और मनोभाविक भी, पर सभी अवस्थाओं मे यह समय पाकर बहुत-कुछ घट जाता और प्राय नष्ट हो जाता है। इसमे प्रबल आघात के दुष्परिणाम का भाव मुख्य है। किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु या बहुत बडी हानि से तो सक्षोभ होता ही है; आज-कल उन्माद के रोगियो की चिकित्सा उनके मस्तिष्क पर विद्युत् का **सक्षोभ** पहुँचाकर भी की जाती है। **विगात** का प्रयोग प्राय पारिभाषिक और वैज्ञानिक क्षेत्रो मे होता है। यह **सघात** और **सक्षोभ** से उत्पन्न एक विशिष्ट प्रकार की भीतरी शारीरिक विकृति का सूचक है। बाहर से कोई भारी **सघात** होने पर कभी कभी भीतरी अग भी आपस मे कुछ रगड खाकर खराब हो जाते है और ठीक तरह से काम करने के योग्य नही रह जाते। यही उन अगों का **विघात** है। यदि लाठी की चोट या जमीन पर गिरने से सिर की हड्डी टूट जाय, तो यह लाठी या जमीन के **सघात** का परिणाम होगा। अब यदि उस चोट से आदमी बेहोश हो जाय, तो यह उस **सघात** से उत्पन्न **सक्षोभ** का फल होगा। अथवा यदि इनमे से कोई बात न होने पर (या होने पर) भी मस्तिष्क के भीतरी भागों मे आपस की रगड के कारण कोई विकार उत्पन्न हो और मस्तिष्क ठीक तरह से काम करने के योग्य न रह जाय, तो भी कहा जायगा कि मस्तिष्क मे **विघात** हुआ है। जो आघात या सघात जान-बूझकर और किसी विशेष उद्देश्य से किया जाता है, वैज्ञानिक क्षेत्र मे वही **समाघात** कहलाता है। शब्द-लहरियाँ, विस्फोट, स्पन्दन आदि **समाघात** से ही उत्पन्न होते हैं। ढोल, मँजीरा, घडियाल आदि बजाने के लिए जो आघात किया जाता है, वह भी **समाघात** ही है।

———

तत्त्व (Element)

अणु (Molecule) **परम तत्त्व** (Matter)

कण (Particle) **परमाणु** (Atom)

कनी=कण **भूत** (Matter)

द्रव्य=भूत **महाभूत=भूत**

पदार्थ=भूत

भूत का मूल अर्थ है—होना, और इससे विशेषण भौतिक बनता है। पर बाद मे यह शब्द उन सब वस्तुओ का वाचक हो गया, जिनका वास्तविक अस्तित्व होता है। जब हमारे यहाँ के दार्शनिक लोग सृष्टि की रचना और उसके मूल तत्त्वो तथा सिद्धान्तो का विचार करने लगे, तब उन्हें सबके मूल मे कई तरह के पदार्थ या भूत दिखाई दिये, और भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने इनके भिन्न-भिन्न रूप, लक्षण और सख्याएँ स्थिर कीं—पर सावयव सृष्टि मुख्य रूप से इन पाँच चीजों की बनी हुई मानी जाती थी। पृथ्वी (या घन तत्त्व), जल (या तरल तत्त्व), वायु (या वाष्पीय तत्त्व) अग्नि (या तेजस् तत्त्व) और आकाश (जिसे अँगरेजी मे ईथर कहते हैं)। ये पाँचों भूत या महाभूत कहलाते हैं, और इसी लिए सृष्टि की सब चीजो को भौतिक जगत कहते हैं। इन्हीं को कही कहीं तत्त्व, द्रव्य या पदार्थ भी कहते थे। इन भूतो और इनके कुछ दूसरे रूपों के आधार पर वैशेषिक ने ९ द्रव्य और साख्य ने २५ तत्त्व माने थे। पर आगे चलकर मुख्यत ५ तत्त्व या भूत ही प्रधान रह गये, और द्रव्य तथा पदार्थ केवल वस्तु या चीज के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगे। (दे०—वस्तु) हमारे यहाँ के दार्शनिक युग के उपरान्त जब पाश्चात्य देशो मे वैज्ञानिक युग आया और इस क्षेत्र मे अधिक छान-बीन और प्रयोग होने लगे, तब पुरानी धारणाएँ बदलने लगीं, और नये नये तत्त्वों का पता लगने लगा। तब तक भारत मे भूत शब्द भी पुराना पडने के सिवा प्रेतात्मा का वाचक बन गया था, और इस क्षेत्र मे भारत मे केवल तत्त्व और अँगरेजी मे केवल एलिमेण्ट

(Element) शब्द प्रधान हो चुका था। सिद्धान्त यह स्थिर किया गया कि वास्तविक तत्त्व वही है जो एक ही प्रकार के सयोजक परमाणुओ से बना हो, अर्थात् जिसका विश्लेषण करने पर एक प्रकार के परमाणुओं के सिवा और कुछ मिलता ही न हो, और इसी लिए जिसका और अधिक विश्लेषण व्यर्थ सिद्ध हो। अब इसी से सम्बन्ध रखनेवाले नये नये अन्वेषण होते हैं।

पाश्चात्य वैज्ञानिको ने नये नये प्रयोगों से सिद्ध किया कि जल वास्तव मे मूल भूत नही है, उसमे दो-तिहाई आक्सिजन और एक-तिहाई हाइड्रोजन है। एक जल के स्थान पर ये दो मूल तत्त्व आ गये। इसी प्रकार वायु मे भी आक्सिजन, नाइट्रोजन, कारबोनिक अम्ल वात तथा कुछ दूसरे तत्त्व मिले, और इसलिए वायु का भी तत्त्व के क्षेत्र से बहिष्कार हो गया। अग्नि इसलिए तत्त्व नहीं रह गई कि वह शक्ति मात्र थी—कोई द्रव्य, पदार्थ या भूत नही थी। आधुनिक वैज्ञानिको को अब तक ऐसे ९८ मूल तत्त्व* मिल चुके है, जिनका सघटन किसी एक ही प्रकार के परमाणुओ से हुआ है और जिनमे उस प्रकार के परमाणुओ के सिवा और किसी प्रकार के परमाणु होते ही नहीं। इनमे अधिकतर तत्त्व घन रूप मे, थोडे-से द्रव रूप मे और कुछ बाष्पीय या वायविक रूप मे हैं। इसी आधार पर लौकिक और व्यावहारिक क्षेत्रो मे तत्त्व उस सारयुक्त गुण या विशेषता का वाचक बन गया है जो किसी मूर्त्त या अमूर्त्त वस्तु अथवा विषय का मूल आधार हो और जिसके बिना या तो उस मूर्त्त वस्तु का अस्तित्व ही न हो सकता हो या उस अमूर्त्त वस्तु या विषय की कोई उपयोगिता ही न रह जाती हो।

---

* आज-कल का नया वैज्ञानिक सिद्धान्त यह है कि इन ९८ तत्त्वो के मूल में भी मुख्य रूप से एक ही तत्त्व काम करता है जो सभी तत्त्वो के परमाणुओं मे समान रूप से व्याप्त है। वस्तुत. यही मूल द्रव्य या परम तत्त्व है जो भिन्न-भिन्न रूपों मे सारी सृष्टि और उसके सब अगो तथा पदार्थों में स्थित रहकर उनका अस्तित्त्व बनाये रखता है। तत्त्व, पदार्थ, भूत आदि सब का मूल यही है। इसी के साथ ऊर्जा (Energy) का सयोग होने पर सृष्टि की उत्पत्ति तथा विकास होता और उसके सब काम चलते है।

कड़ी और ठोस चीज का बहुत ही छोटा टुकड़ा **कण** कहलाता है। हिन्दी मे इसी को **कनी** कहते हैं। बालू या रेत की प्रत्येक इकाई उसका **कण** है। धूल के भी **कण** होते हैं और अनाज के टूटे-फूटे दानों के भी। सोने-चाँदी आदि धातुओं के भी और हीरे-पन्ने आदि रत्नो के भी छोटे-छोटे टुकडे **कण** ही कहलाते हैं। पर ऐसे सभी **कण** स्वय जिन बहुत छोटे-छोटे टुकडो के योग और सयोजन से बने होते हैं, उन्हे **परमाणु** कहते हैं। विज्ञान मे किसी **तत्त्व** का वह सबसे छोटा टुकडा **परमाणु** कहलाता है, जिसके और अधिक टुकडे हो ही नही सकते। **अर्थात् परमाणु** वह है जो किसी प्रकार काटा, तोडा या विभक्त न किया जा सकता हो, अथवा जिसके और अधिक छोटे टुकडों की कल्पना ही न हो सकती हो। इसका दूसरा वैज्ञानिक लक्षण यह है कि यह एक ही **तत्त्व** का बना हुआ होता है, और इसमे एक तत्त्व के अणुओं के सिवा दूसरे तत्त्व का कोई अश होता ही नही। कई **परमाणुओ** के योग से उसका जो कुछ बडा रूप बनता है, वही **अणु** कहलाता है। **कण** और **अणु** में दो मुख्य अन्तर हैं। एक तो यह कि **कण** से **अणु** बहुत छोटा होता है—एक कण मे लाखो, करोडों **अणु** होते है। दूसरे यह कि कण तो तोड फोड़ कर छोटा भी किया जा सकता है, पर **अणु** तोडा नही जा सकता—केवल विशिष्ट रासायनिक क्रियाओं से ही उसके **परमाणु** अलग किये जा सकते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से **अणु** किसी चीज का वह छोटे से छोटा टुकडा है जिसमे उस चीज का विशिष्ट रूप या गुण किसी न किसी अश मे वर्त्तमान हो। **अणु** का विभाग या विश्लेषण होने पर उसमे मूल वस्तु की विशेषता या रूप नहीं रह जाता, बल्कि वह किसी मूल **तत्त्व** के **परमाणुओ** मे बदल जाता है। उदाहरणार्थ—यदि जल के **अणु** का रासायनिक विश्लेषण किया जाय, तो पता चलेगा कि वह ऑक्सिजन के एक **कण** और हाइड्रोजन के दो **कणो** के योग से बना है।

———

त्वचा (Skin)

खाल (Pelt) | **छाल** (Bark)
खोपड़ी (Shell) | **छिलका** (Peel)
चमडा (Hide) | **पपड़ी** (Crust)
झिल्ली | **भूसी** (Husk)

ये सब शब्द उस ऊपरी आवरण के सूचक है जो किसी कोमल वस्तु या शरीर के बाहरी या भीतरी कोमल अगो या तन्तुओ की रक्षा के लिए उनके ऊपरी या बाहरी भाग के साथ चिपका या सटा रहता है और खींच या छीलकर हटाया जा सकता है। त्वचा पशुओं और मनुष्यों के शरीर का वह ऊपरी आवरण है, जिस पर प्राय बाल या रोएँ उगे हुए होते हैं। मनुष्यो की त्वचा कोमल, चिकनी और पतली होती है, पर गैंडे या हाथी की कडी, खुरदुरी और मोटी होती है। सभी प्रकार की त्वचाएँ खींच या छीलकर शरीर से अलग की जा सकती हैं। बहुत छोटे-छोटे जीवों मे यह प्राय बहुत ही पतली होती है, और यही पतली त्वचा झिल्ली कहलाती है। जीव-जन्तुओं और मनुष्यों के अक्षि-गोलक पर सामने की ओर जो बहुत पतला आवरण होता है, उसे भी झिल्ली ही कहते हैं। स्वय त्वचा के ऊपर भी इसी प्रकार की झिल्ली होती है, जो साधारण दुर्घटना आदि के कारण छिलकर अलग हो जाती है। कभी-कभी कुछ गाढे तरल पदार्थों के ऊपर भी जो पतला आवरण-सा जम जाता या निकल आता है, उसे पपडी ही कहते हैं। चमडा (स० चर्म) भी है तो वही, जो त्वचा है, पर इसका प्रयोग मुख्यत उस त्वचा के लिए होता है जो मृत जीव-जन्तुओं के शरीर से खींचकर औद्योगिक व्यवहारो के लिए अलग कर ली जाती है। सारे शरीर पर से खींचकर निकाला हुआ ऐसा पूरा आवरण अपनी प्रकृत अवस्था मे खाल कहलाता है। चीते, शेर आदि की खाले प्राय साधु लोग ओढते-बिछाते हैं। इसी खाल पर से जब रोएँ आदि खुरचकर साफ कर लिये जाते हैं और इसे सिझाकर कई तरह की चीजे बनाने के योग्य कर लेते है, तब इसे चमडा कहते हैं। इस चमड़े के जूते, तस्मे, पेटियाँ आदि दैनिक व्यवहार की बहुत-सी चीजे

बनती हैं। वृक्षों आदि के तनो पर इस प्रकार का जो कड़ा, खुरदुरा और मोटा आवरण होता है, वह **छाल** कहलाता है। छालों का प्रयोग प्राय वैद्यक में अनेक प्रकार के औषध बनाने और कई तरह के रग आदि तैयार करने में होता है। अन्नो, फलों आदि के ऊपर इस प्रकार का जो आवरण होता है, वही **छिलका** कहलाता है। यह बहुत पतला और मुलायम भी होता है (जैसे—चने की दाल, अमरूत या सेब का **छिलका**), कुछ मोटा भी हो सकता है (जैसे—केले का **छिलका**), और कड़ा, खुरदुरा तथा यथेष्ट मोटा भी हो सकता है (जैसे कटहल का **छिलका**)। जब यह **छिलका** बहुत अधिक मोटा और इतना कड़ा होता है कि बिना भारी आघात के नही टूट सकता, तब इसे **खोपड़ी** * कहते हैं। हमारे यहाँ नारियल की खोपडी तो प्रसिद्ध ही है, अखरोट, बादाम आदि के ऊपरी कडे और मोटे छिलके को भी हम **खोपडी** कह सकते हैं। अनाजो के दानों आदि के ऊपर का बहुत पतला और हलका छिलका **भूसी** कहलाता है। **भूसी** इतनी छोटी, पतली और हलकी होती है कि साधारणत छीलकर नही निकाली जा सकती। यह प्राय दानों के सूख जाने पर उन्हें कूटकर ही निकाली जाती है। जैसे—चने, जौ या इसब (यशव) गोल की भूसी।

दयनीय (Pitiful)

दयापात्र (Pitiable) शोचनीय (Deplorable)

दयनीय शब्द स० दया से बना हुआ विशेषण है, इसका शब्दार्थ है—जिस पर दया आती हो अथवा जो दया किये जाने का पात्र हो। पर इसका मुख्य आशय या भाव इस शब्दार्थ की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तृत (और **दयापात्र**) से भिन्न है। यह विशेषण ऐसे व्यक्ति (अथवा अवस्था, दशा, स्थिति आदि) के लिए

---

* इसे बँगला मे खोला और मराठी में कवची कहते हैं। खोपड़ी के अर्थ में कवची का हिन्दी में भी प्रयोग हो सकता है। बँगला में 'खोला' का प्रयोग प्राय. सभी तरह के छिलकों के लिए होता है।

प्रयुक्त होता है, जो बहुत ही दीन-हीन हो गया हो और जिसकी दीनता आपसे आप हमारे मन मे दया उत्पन्न करती हो और हम मे यह विचार उत्पन्न करती हो कि हो सके तो इसकी कुछ सहायता भी की जाय। पर इसमे सहायता की प्रेरणा-वाला भाव गौण ही है, और मुख्य तत्त्व देखनेवाले के मन मे दया का भाव जाग्रत होना ही है। **दयनीय** बहुधा वही होता है, जो अच्छी दशा या स्थिति से गिरकर बुरी दशा या स्थिति मे पहुँच गया हो अथवा जिसे साधारणत अपेक्षया अच्छी दशा या स्थिति मे होना चाहिए था। यदि कोई अच्छा आदमी अपने दोषो अथवा विकट परिस्थितियों के कारण दुर्दशा-ग्रस्त हो गया हो तो वह **दयनीय** माना जायगा। दशा भी तभी **दयनीय** होगी जब वह बिगड़कर हीन हो गई हो। इसी लिए कहा जाता है—आज-कल उनकी दशा बहुत ही **दयनीय** हो गई है। **दयापात्र** वह व्यक्ति है जो अपनी प्राकृतिक या स्वाभाविक दुर्बलता, त्रुटि, स्थिति आदि के कारण सदा सबकी दया का विषय बना रहने के योग्य हो, जिस पर दया करना मनुष्य का साधारण और स्वाभाविक धर्म हो। शिशु, बालक, भिखमगे, रोगी आदि साधारणत सबकी दया के पात्र होते हैं। स्त्रियाँ और वृद्ध भी सदा **दयापात्र** समझे जाते है, उनके साथ उग्र या कठोर व्यवहार करना नैतिक दृष्टि से अनुचित माना जाता है। **शोचनीय** वह दशा है जिसे देखकर मन मे शोच उत्पन्न होता हो। शोच हमारे मन का वह भाव है जो किसी दुर्दशा या दुरवस्था के प्रति कष्ट, चिन्ता, दया, सहानुभूति आदि से युक्त होता है। जिस अवस्था को देखकर हमारा मन कष्ट से भरकर द्रवित होने लगे, वह **शोचनीय** है। अशिक्षित और दरिद्र देहातियो की हीन दशा अथवा युद्ध-क्षेत्र मे भूखे-प्यासे और तडपाते हुए घायलो की दशा **शोचनीय** होती है। यदि कोई मरणासन्न व्यक्ति कई दिनों से पडा हुआ घोर शारीरिक कष्ट भोग रहा हो, तो उसकी यह दशा भी **शोचनीय** कही जायगी। **दयनीय** व्यक्ति भी होता है और अवस्था या दशा भी, पर **दयापात्र** केवल व्यक्ति होता है, और **शोचनीय** सदा अवस्था या दशा ही होती है।

———

दया (Mercy)

अनुकम्पा (Pity)
मार्दव (Leniency)
अनुग्रह (Favour)
राज दया (Clemency)
करुणा (Compassion)
रिआयत=मार्दव
कृपा (Kindness)
संवेदना
क्षमा (Excuse, Forgive, Pardon)
सहानुभूति (Sympathy)
क्षमाशीलता (Forgiveness)
सान्त्वना (Consolation)
प्रसाद (Grace)

ये सब शब्द ऐसे उदारतापूर्ण तथा कोमल मनोभावो के सूचक है जो दूसरो के कष्ट, दोप आदि देखने पर सज्जन अथवा समर्थ सहृदयों मे उत्पन्न होते हैं। यदि कोई अपराध या दोप करे और हाथ मे शक्ति रहने पर भी हम उसे दण्ड न देकर या यो ही थोडा दण्ड देकर छोड दे अथवा यह सोचकर जाने दे कि हमारे दण्ड से उसे कष्ट होगा, तो यह उस अपराधी या दोपी पर दया करना कहलावेगा। यदि किसी को यों ही बहुत कष्ट मे देखकर हम उसका कष्ट कम करने का प्रयत्न करे, तो यह भी **दया** ही होगी। जिस पर **दया** की जाती है, उसके मगल की कामना भी साथ मे अवश्य होती है। जो किसी तरह हमारे वश मे हो या हमारे हाथ मे दबा हो, उसके साथ उग्र या कठोर व्यवहार न करना भी **दया** है। हम जंगल मे डाकुओं से घिरने पर इसलिए उनकी **दया** चाहते हैं कि वे हमारी हत्या न करे। साधारणत **दया** की जगह **कृपा** का भी प्रयोग देखने मे आता है। पर दोनो मे कुछ अन्तर है। **दया** तो केवल अधीनस्थ या छोटों पर भी होती है, पर **कृपा** का व्यवहार छोटो के सिवा बराबरवालो के साथ भी होता है। **कृपा** का भाव सज्जन पुरुषों मे बहुत-कुछ स्वाभाविक होता है; और सद्गुणो का एक अग-सा है। कुछ अवसर ऐसे भी होते हैं, जहाँ **कृपा** की जगह

दया का प्रयोग खटकता है। यदि हम अपने किसी मित्र से कहे—'हमारे भाई साहब की **कृपा** से आपका काम हो गया।' तो वह सम्भवत प्रसन्न होकर कृतज्ञता ही प्रकट करेगा। पर यदि हम उक्त वाक्य मे **कृपा** की जगह **दया** कह जायँ, तो वह बहुधा अपनी हेठी ही समझेगा। **राज-दया** राजा या प्रधान शासक की ओर से होनेवाली वह **दया** है जो विशिष्ट अवसरों पर बडे-बड़े दण्डनीय या दण्डित अपराधियो के प्रति होती है और जिसके फल-स्वरूप वे दण्ड-भोग से बच जाते हैं। किसी को कष्ट या सकट मे देखकर हमारे मन जो कष्टप्रद अनुभूति उत्पन्न होकर हममे उसका वह कष्ट या सकट दूर करने का भाव उत्पन्न करती है, वही **अनुकम्पा** है। इसमे किसी की विपत्ति से दु खी होकर उसपर दया करने का भाव मुख्य है। यह सदा छोटो और दुर्बलों के प्रति होती है। **करुणा** भी है तो बहुत कुछ **अनुकम्पा** की ही तरह की चीज, पर यह छोटो और दुर्बलो के सिवा बराबरवालो और बडो के प्रति भी हो सकती है। यदि कोई राज-परिवार बहुत बडे सकट मे पड जाय तो उसकी दशा देख-सुनकर किसी भिखारी के मन मे भी **करुणा** उत्पन्न हो सकती है। इसमे सहानुभूतिवाले गौरवपूर्ण तत्त्व के सिवा सहृदयतावाला आदरणीय तत्त्व भी रहता है। **सहानुभूति** स० सह + अनुभूति के योग से बना हुआ शब्द है, और इसका शब्दार्थ है—वैसी ही अनुभूति होना, जैसी किसी दूसरे को हो रही हो। ऐसी अनुभूति दूसरो के दु ख के सम्बन्ध मे भी हो सकती है और सुख के सम्बन्ध मे भी। इसका उद्गम गुण, प्रवृत्ति, स्वभाव आदि की समानता और सहृदयता मे होता है। आपको उदास देखकर हम भी उदास हो जाते हैं, और आपकी प्रसन्नता से हमे भी प्रसन्नता होती है। वस्तुत यही **सहानुभूति** है। पर आज-कल प्रयोग के विचार से इसका यह मौलिक अर्थ कुछ सकुचित हो गया है, और इसका प्रचलन केवल कष्ट, विपत्ति, शोक आदि के प्रसगो मे रह गया है। किसी मित्र के यहाँ कोई दुर्घटना होने पर उसके पास **सहानुभूति** सूचक पत्र भेजा जाता है, अथवा स्वयं पहुँचकर **सहानुभूति** प्रकट की जाती है। कुछ विस्तृत अर्थ मे भी इसका प्रयोग होता है, पर कम। जैसे दूसरों के मतों और सम्मतियों पर हमे **सहानुभूति** पूर्वक विचार करना चाहिए। आशय यही होता है कि केवल विरोधी भाव से विचार नही

करना चाहिए, बल्कि उसका दृष्टि-कोण भी समझने का प्रयत्न करना चाहिए*। आर्थी दृष्टि से **सवेदना** भी बहुत-कुछ वही है, जो **सहानुभूति** है, क्योकि इसका अर्थ है—वैसा ही वेदन (अनुभूति या ज्ञान) होना, जैसा कष्ट, सकट आदि के अवसर पर दूसरों को होता है। इसका प्रयोग भी केवल विपत्ति, शोक आदि के प्रसगों मे होता है। **सान्त्वना** भी इसी वर्ग का शब्द है, पर इसमे मुख्य तत्व धैर्य धारण करने का परामर्श देते हुए किसी का कष्ट या दु ख कम करने का प्रयत्न करना है। इसका उद्देश्य किसी के मन पर पडा हुआ भार हलका करना होता है। इस दृष्टि से इसका कार्य-क्षेत्र कोरी **सहानुभूति** और **सवेदना**-वाले क्षेत्रों से कुछ आगे बढा हुआ होता है। यदि हम किसी के पुत्र-शोक के समय कहे—'हमे इससे बहुत दु ख हुआ। बहुत ही योग्य लडका था। बुढापे मे उससे आपको सुख मिलना चाहिए था, उलटे यह दु ख मिला।' आदि, तो यह कथन **सहानुभूति** या **सवेदना** तक ही परिमित रहेगा। पर यदि हम कहें—

* अँगरेजी में सिम्पेथी से बने हुए विशेषण सिम्पेथेटिक (Sympathetic) का प्रयोग और भी अधिक विस्तृत अर्थ तथा क्षेत्र मे होता है। चोट, फोडे-फुन्सी, विष-पान आदि के कारण शरीर मे जो ज्वर होता है, उसे सिम्पेथेटिक फीवर कहते है। हमारे यहाँ इसे आगन्तुज ज्वर कहते है। आस-पास की वनस्पतियो के रगों से मिलते-जुलते कीडो-मकोड़ों के जो रग होते है, वे भी सिम्पेथेटिक कलर कहलाते है। इसके लिए हमारे यहाँ का शब्द सवादी रग है। कभी-कभी किसी धातु-खड पर आघात करने से कुछ झनकार निकलती है, और उस झनकार की प्रतिक्रिया से पास रखे हुए दूसरे धातु-खड में से भी कुछ वैसी ही झनकार निकलने लगती है, जिसे अँगरेजी में सिम्पेथेटिक वायब्रेशन कहते हैं। इसे भी हम सवादी स्पन्दन तो कह सकते है, पर यह सवादी विशेषण ज्वर के साथ ठीक नही बैठता। यदि इस सिम्पेथेटिक के लिए हम 'अनुषगी' शब्द रख ले तो सभी क्षेत्रो में समान रूप से इसका प्रयोग हो सकेगा। यो सहानुभूति से भी काम चल सकता है, पर उसमे पारिभाषिकतावाले तत्त्व का अभाव ही रहेगा।

'आपके बाकी दोनो लडके सकुशल रहे। ये उसके स्थान की पूर्त्ति करेंगे।' अथवा 'हम (या हमारे भाई, लडके आदि) सदा आपकी सेवा और सहायता के लिए तैयार हैं। जब कोई आवश्यकता हो, तब हमे बुला लीजिएगा।' आदि, तो यह बात सान्त्वना कहलावेगी। **करुणा, सवेदना** और **सहानुभूति** का क्षेत्र तो मनोभावो तक ही सीमित रहता है, पर **अनुकम्पा, अनुग्रह, दया** आदि प्राय और आगे बढकर कुछ कर भी दिखाती हैं। **क्षमा** का प्रयोग केवल अपराध, अवज्ञा, उपेक्षा, कर्त्तव्य-च्युति, त्रुटि, दोप आदि के प्रसगो मे होता है, और इसमे मुख्य भाव अपराध, दोष आदि पर ध्यान न देकर उसके कर्त्ता को दण्ड-भोग से उदारतापूर्व मुक्त कर देने का है। इसमे यह भी भाव होता है कि अपराधी या दोषी के प्रति अधिकारी के मन मे जो उत्तेजना, क्रोध या दुर्भाव पहले उत्पन्न हुआ था, वह अब दूर हो गया अथवा नही रह गया है। **मार्दव** या **रिआयत** भी **क्षमा** के ही वर्ग मे आती है। **मार्दव** स० मृदु से बना हुआ उसका वैसा ही भाव-वाचक रूप है, जैमा मृदुता* है; और **रिआयत** उसी अरबी रिआ से बना हुआ शब्द है, जिससे रिआया या रिऐयत (प्रजा) बना है। रिआयत का प्राथमिक अर्थ है—देख रेख और रक्षा; और दूसरा अर्थ है—पक्षपात। पर प्रस्तुत प्रसग मे इसका अर्थ है—दण्ड, भर्त्सना, व्यवहार आदि म उतनी कठोरता या दृढता न दिखाना, जितनी साधारणत दिखाई जाती है। हम दण्ड देने के समय भी किमी विशिष्ट कारण से किसी के प्रति जो मृदुता दिखाते हैं, वही **मार्दव** या **रिआयत** है। इससे सूचित होता है कि शक्तिशाली ने अपनी दया और सद्भाव का भी कुछ परिचय दिया है। माता-पिता या शिक्षक दुष्ट बालकों को दण्ड देते समय और बडे-बडे व्यापारी अपने ग्राहकों या छोटे व्यापारियों के साथ दर-भाव निश्चित करने के समय कुछ **मार्दव** दिखला या

*** हमारी समझ में अ० माइल्डनेस (Mildness) के लिए मृदुता और लीनिएन्सी (Leniency) के लिए मार्दव शब्द रखना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि मृदुता केवल भाव-वाचक है, परन्तु मार्दव में अपेक्षया कुछ अधिक और गुण-वाचक भी भाव है।**

रिआयत कर सकते हैं। **अनुग्रह** और **प्रसाद** दोनों **कृपा** और **दया** के स-वर्गीय हैं, और सदा क्रियात्मक रूप मे प्रकट होते हैं। किसी छोटे से प्रसन्न होकर उसका कुछ उपकार या भलाई करना **अनुग्रह** है। यह बहुधा सुपात्र के प्रति ही होता है। **प्रसाद** हमारे धार्मिक क्षेत्र का बहुत प्रसिद्ध शब्द है। यद्यपि इसके मूल अर्थ स्पष्टता, स्वच्छता आदि हैं, पर साधारणत प्रचलित अर्थ मे यह किसी की प्रसन्नता का सूचक तत्त्व है। हम कहते है—हमारा सारा वैभव आपका ही **प्रसाद** है। आशय यही होता है कि यह सब आपकी ही प्रसन्नतापूर्ण **कृपा** का परिणाम या फल है। मन्दिरो मे देवताओ का जो **प्रसाद** बँटता है, वह भी मूलत देवता की प्रसन्नतापूर्ण कृपा का ही सूचक होता है। प्रस्तुत प्रसग मे **प्रसाद** उस काम, बात या वस्तु का सूचक है जो बडे लोग प्रसन्न होकर किसी के हित के लिए करते या किसी को देते हैं। ससार मे हमे जो अनेक प्रकार की भोग्य वस्तुएँ दिखाई देती हैं और उन वस्तुओ का भोग करने की हममे जो शक्ति है, वह सब ईश्वर का ही **प्रसाद** है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसमे अनधिकारी और अधिकारी अथवा कुपात्र और सुपात्र का विचार प्राय नही होता, और कुछ अवसरों पर तो अनधिकारी या कुपात्र ही विशिष्ट रूप से **प्रसाद** का भागी होता है। यदि कोई अयोग्य लडका परीक्षा मे एक दो अको की कमी के कारण ही उत्तीर्ण होने से वञ्चित रहता हो, तो परीक्षक **प्रसाद** रूप मे एक दो अक बढाकर उसे उत्तीर्ण कर देता है।

दान (१. Giving, act of २. Charity)

अधिदेय (Premium) परिदान (Subsidy)
अनुदान (Grant) पारितोषिक (Prize)
अभिदान (Bounty) पुरस्कार (Reward)
इनाम=१.पारितोषिक २.पुरस्कार प्रदान (Bestowing)
दक्षिणा रिक्थ-दान (Bequest)
देन (Boon) वृत्ति-दान (Endowment)

दान का प्राथमिक अर्थ है—किसी को कुछ देना। देने की क्रिया भी दान कहलाती है, और जो कुछ दिया जाय, वह भी **दान** कहलाता है। बहुत प्राचीन काल से ही यह शब्द विशेष रूप से धार्मिक क्षेत्र मे प्रयुक्त होने लगा था। जब बड़े बडे राजा-महाराज यज्ञ करते थे, तब वे प्रसन्न होकर ब्राह्मणों और याज्ञिको को गौएँ, जमीनें, सोने-चाँदी के टुकडे आदि बाँटा करते थे। इसी को दान कहते थे। मध्य युग मे यज्ञो आदि की परम्परा उठ जाने पर भी बडे आदमी गरीबो को जो धन आदि देते थे, वह भी **दान** कहलाता था। हिन्दुओं मे अब भी धार्मिक दृष्टि से ब्राह्मणो आदि को सकल्प-पाठ करके जो कुछ दिया जाता हैं, वह भी **दान** कहलाता है। इसलिए यह शब्द एक विशिष्ट भाव से युक्त हो गया है। बडो या समर्थों की ओर से छोटों को प्रसन्नतापूर्वक सहायता के रूप मे जो कुछ दिया जाता है, वही **दान** है। इसमे दूसरों के उपकार, कल्याण आदि का भाव प्रधान है। आप भिखमगे को एक पैसा भी दे दे तो वह आपका **दान** ही कहलावेगा। पर यदि भिखमगा किसी अवसर पर आपको अपना सर्वस्व भी दे दे, तो वह उसका **दान** नही कहलावेगा। हाँ यदि वह भी किसी लोकोपकार के या सार्वजनिक कार्य मे थोडा-बहुत धन दे तो उसका यह देना भी **दान** ही कहलावेगा। इसी दृष्टि से विधिक क्षेत्र मे **दान** व्यक्तिगत रूप से किसी को कुछ देने की वह क्रिया है जो अपनी इच्छा से, उदारता या धर्म-भावपूर्वक की जाय या दी जानेवाली वह चीज है जो किसी प्रतिकार या प्रतिफल की आशा किये

बिना अपनी इच्छा से दी जाय। इसमे से छोटे-बड़ेवाला भाव दिन पर दिन निकलता जाता है, और प्राय उदारता, त्याग, लोकोपकार आदि के भाव मुख्य होते जा रहे हैं *। आज-कल जीवन-दान, भू-दान, श्रम-दान आदि पद बहुत प्रचलित हो रहे हैं। ऐसे अवसरों पर **दान** का अर्थ होता है—दूसरों के भले के लिए उदारतापूर्वक कुछ करना या देना। पर होता यह मुख्यत वैयक्तिक ही है। **प्रदान** का भी बहुत कुछ इसी से मिलता-जुलता अर्थ है, पर एक तो इसमे **दान** का धर्म-भाववाला पुट नहीं है, दूसरे इसका प्रयोग सदा बडों की ओर से छोटो को मिलनेवाली चीजो के सम्बन्ध मे होता है, छोटों की ओर से बडों को दी जानेवाली चीजों के सम्बन्ध मे नही। सरकार कलाकारो को पुरस्कार **प्रदान** करती है; बडे बडे पडित और विद्वान् आशीर्वाद या प्रसाद **प्रदान** करते हैं, और अधिकारी अपने अधीनस्थो को किसी काम या बात की अनुमति **प्रदान** करते हैं। पर यह कहना ठीक नही है—(क) राज्यपाल को मानपत्र **प्रदान** किया गया। अथवा (ख) भाई साहब को आज मैंने एक पुस्तक **प्रदान** की है। ऐसे प्रसगों मे भेंट (दे० 'अर्पण' के अन्तर्गत) या इससे मिलते-जुलते किसी नम्रतासूचक शब्द का प्रयोग होना चाहिए। **अनुदान** वह आर्थिक सहायता है जो किसी बडे अधिकारी या आधिकारिक सस्था की ओर से किसी को अथवा किसी विशेष कार्य के लिए दी जाती है। इसमे धन के अधिक या सम्पत्ति के बहुमूल्य होने का भाव प्रधान है। जैसे—इस वर्ष सरकार से हमारे पुस्तकालय को नई पुस्तकें खरीदने (या गाँव मे दो तालाब बनवाने) के लिए पचीस हजार रुपयो का **अनुदान** मिला है, अथवा यह जमींदारी उन्हे मुगलों के शासन काल में **अनुदान** के रूप मे मिली थी। **परिदान** वह आर्थिक सहायता है जो राज्य या सरकार की ओर से किसी व्यक्ति या व्यापारिक सस्था को किसी नये उद्योग के परिवर्द्धन या प्रोत्साहन के लिए दी जाती है। यदि देश मे कोई ऐसा नया उद्योग या कारखाना खुले जिसमे आरम्भ मे कुछ घाटा होता हो तो वह घाटा पूरा करने के लिए सरकार की ओर से जो धन मिलेगा, वह **परिदान** होगा। युद्ध के

* विशेष दे० 'चन्दा' के अन्तर्गत दत्त और अंश दान।

समय कोई राष्ट्र अपने किसी साथी राष्ट्र को युद्ध जारी रखने के लिए जो आर्थिक सहायता देता है, उसे भी **परिदान** ही कहते हैं। **अभिदान** भी वही आर्थिक सहायता है जो राज्य या सरकार की ओर से उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहित करने के लिए दी जाती है, पर इसका क्षेत्र यहीं तक परिमित है। इसका प्रयोग उस आर्थिक सहायता के सम्बन्ध मे नही होता जो युद्ध आदि के समय छोटे राष्ट्रों को बड़े राष्ट्र देते हैं। संस्कृत मे **रिक्थ** का अर्थ है—वह सम्पत्ति जो कोई व्यक्ति मरने के समय अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ जाता है। आज-कल **रिक्थ-दान** वह कहलाता है, जो किसी के नाम यह कहकर लिख दिया जाता है कि हमारी मृत्यु के उपरान्त यह (धन-सम्पत्ति) अमुक को मिले। यह अपने वास्तविक या नियत उत्तराधिकारी व्यक्तियों के नाम भी हो सकता है और लोकोपकार की दृष्टि से संस्थाओं आदि के नाम भी। पर यह दाता की मृत्यु के उपरान्त ही प्राप्त होता है। **वृत्ति** का अर्थ है—जीवन-निर्वाह, भरण-पोषण आदि के उद्देश्य से दिया जानेवाला धन। इसी लिए **वृत्ति दान** वह कहलाता है जो किसी को इस उद्देश्य से दिया जाता है कि पानेवाला इसकी सहायता से अपना जीवन निश्चिन्त होकर या सुखपूर्वक बिता सके। **दक्षिणा** हमारे यहाँ के धार्मिक क्षेत्र का शब्द है। प्राचीन काल मे यज्ञ करानेवाले ऋषियों, ब्राह्मणों आदि को राजा लोग दूसरी चीजों के साथ अर्थ के रूप मे सोने-चाँदी के जो टुकडे या सिक्के दिया करते थे, उन्हें दक्षिणा कहते थे। आज-कल भी ब्राह्मणों को जो वस्तुएँ दान करके दी जाती हैं, उनके साथ कुछ रुपये-पैसे भी **दक्षिणा** के रूप मे दिये जाते है, अथवा ब्राह्मणों को भोजन कराने के बाद चलते समय कुछ नगद **दक्षिणा** दी जाती है। यों तो **पुरस्कार** और **पारितोषिक** दोनों वही हैं, जिसे इनाम (अरबी इनआम) कहते हैं, फिर भी दोनो मे कुछ अन्तर है। **पुरस्कार** किसी के अच्छे काम या परिश्रम पूर्ण सेवा से प्रसन्न होकर दिया जाता है। इसमे स्वयं कार्य की उत्कृष्टता के अतिरिक्त दाता की प्रसन्नता और रुचि का भी भाव होता है। सौ आदमी सौ तरह के काम करते हैं। दाता को उनमे से जिन लोगों के काम अच्छे जान पड़ते हैं, उन्हे वह पुरस्कार देता है। पर **पारितोषिक** बहुधा किसी प्रकार की प्रतियोगिता होने पर और उस प्रतियोगिता मे कुछ लोगों के विजयी

या श्रेष्ठ सिद्ध होने पर अथवा कोई असाधारण योग्यता दिखलाने या उत्कृष्ट कार्य करने पर दिया जाता है। यह शब्द मूलत **परितोष** से बना है, और इसी लिए इसमे प्रतियोगियों को परितुष्ट या प्रसन्न करने का भाव प्रधान है। (विशेष दे० 'वेतन' के अन्तर्गत 'आनुतोषिक') **देन** कई बातों मे इनसे भिन्न है। एक तो यह शब्द सदा बडो, बल्कि बहुत बडो की ओर से मिलनेवाली ऐसी उत्कृष्ट बातों या वस्तुओ का सूचक है, जिनमे लोगो का यथेष्ट उपकार या हित होता हो। दूसरे, यह दाता की उदारता या वदान्यता का भी सूचक होता है। तीसरे, इसमे कुछ विलक्षणता और विशेषता अथवा लोकोत्तरता का भाव भी निहित है। हम कहते हैं—प्रतिभा और विचक्षण बुद्धि ईश्वर की **देन** हैं। आशय यही है कि ये अर्जित नही की जा सकतीं, ईश्वर स्वय कृपा करके जिन्हें दें, उन्हीं मे पाई जाती हैं। अन्न और फल हमारे लिए प्रकृति की सबसे बड़ी **देन** हैं, अर्थात् इन्ही के द्वारा हमे जीवन का सब से बडा सहारा मिलता है। यदि कोई विद्वान् बहुत बडा और अच्छा ग्रन्थ लिखे तो भी हम कहेंगे—हमारे लिए यह उनकी बहुत बडी **देन** है। इस सम्बन्ध मे ध्यान रखने की दो बातें और हैं। एक तो यह कि **देन** भी दान की तरह है तो देने की क्रिया या भाव ही, पर यह मुख्यत उस वस्तु का वाचक है जो किसी की ओर से हमे मिलती है। दूसरे, **देन** शब्द सीधे स० दान से व्युत्पन्न नहीं है, बल्कि वह हिन्दी व्याकरण के नियम के अनुसार हिं० **देना** क्रिया से उसी प्रकार बना हुआ इसका भाववाचक रूप है, जिस प्रकार **लेना** से बना हुआ **लेन** है। **अधिदेय** स० देय मे अधि (=अधिक, अलग से, ऊपर आदि) उपसर्ग लगाकर बनाया गया है। यों तो साधारण के अतिरिक्त या साधारण से अधिक जो कुछ दिया जाय, वही **अधिदेय** है; फिर भी पारिभाषिक क्षेत्रों मे इसके कुछ विशिष्ट अर्थ तथा प्रयोग होते हैं। किसी प्रकार के कार्य, प्रयत्न आदि के लिए, किसी को प्रलोभन या प्रोत्साहन देने के विचार से, नियत अथवा नियमित और साधारण से अतिरिक्त जो और धन दिया जाता है, वही **अधिदेय** है। यों दिन भर काम करने पर मजदूर को साधारण मजदूरी तो मिलती ही है, पर यदि किसी विशिष्ट अवसर पर उतने ही समय मे उससे और अधिक काम कराने के लिए उसे कुछ अतिरिक्त धन दिया जाय,

तो वह **अधिदेय** कहलावेगा। कुछ बेचने के लिए साधारण छूट (कमीशन) के अतिरिक्त कुछ अधिक दिया जानेवाला धन भी **अधिदेय** ही कहा जायगा। आज-कल जान, माल आदि का बीमा कराने पर उसके बदले मे बीमा मडलियो (कम्पनियों) को नियत समयों पर जो नियत धन किस्तो या खंडियो के रूप मे दिया जाता है, वह भी (अँगरेजी के अनुकरण पर) **अधिदेय** ही कहा जायगा।

दाम (Price)

अधिष्ठान=लग्गत **मूल्य** (१ Price, २. Value)
अर्घ (Worth) **लग्गत** (Investment)
खर्च=व्यय **लागत** (Cost)
परिव्यय (१ Charge २. Cost) **व्यय** (Expenditure)
मान (Value **आंशिक रूप में**)

दाम यों तो हिन्दी मे फारसी से आया हुआ माना जाता है, पर है यह मूलत यूनानी ड्रैम से व्युत्पन्न शब्द। प्राचीन यूनान में चाँदी का एक छोटा सिक्का होता था, जो ड्रैम कहलाता था, और उसकी तौल भी ड्रैम कही जाती थी। इसी से फारसी मे दाम और सस्कृत मे द्रम्म बना था। अतः हम **दाम** को सं० द्रम्म से ही व्युत्पन्न कह सकते हैं। **अर्घ** और **मूल्य** दोनो स० शब्द हैं और एक दूसरे के पर्याय हैं। इसी अर्घ के पहले मह लगने से महार्घ शब्द बनता है, जिसका हिन्दी रूप महँगा (अधिक दामवाला) है। मूल्य मूलतः विशेषण है और इसका पहला अर्थ है—जो किसी चीज के मूल या जड में हो। दूसरा अर्थ होता है—जो धन देकर (मोल) लिया जा सके। यों अर्थ के विचार से **अर्घ**, **दाम** और **मूल्य** मे कोई अन्तर नहीं है। पर **अर्घ** का प्रचलन अब एक विशेष अर्थ मे (अर्थ शास्त्र के ग्रन्थों मे) होने लगा है। लोक मे **दाम** और **मूल्य** दोनों एक दूसरे के पर्याय माने जाते हैं। पर अँगरेजी मे इस वर्ग के तीन अलग-

अलग शब्द और उनके अलग-अलग अर्थ या भाव हैं, अत हिन्दी मे भी इन शब्दो मे भेद करना आवश्यक हो गया है* ।

हमारे यहाँ भी **दाम** मूलत एक छोटा सिक्का ही था जिसका **अर्घ** एक दमडी के तीसरे या एक पैसे के चौबीसवें भाग के बराबर था। इसी से छदाम (=६ दाम) शब्द बना था जो एक पैसे का चौथाई था और दुकड़ा भी कहलाता था। पर अब **दाम** (सिक्कों आदि के रूप में) वह धन कहलाता है, जो कोई चीज लेने के समय बदले मे उसके मालिक को दिया जाता है। पहले यह बहुवचन मे बोला जाता था, जैसे—इस चीज के कितने दाम देने पडेंगे? पर अब यह एक-वचन मे ही चलता है, जैसे—इस पुस्तक का क्या दाम देना पड़ा? इसका प्रयोग चीजें खरीदने और बेचने के प्रसग मे ही होता है। जैसे—वह अपने मकान का **दाम** बीस हजार माँगता है, या इस भैस का **दाम** तीन सौ रुपये लग चुका है, आदि। जहाँ खरीद-बिक्री न हो, वहाँ **दाम** का प्रयोग न तो जल्दी होता ही है और न होना ही चाहिए। यो लोग कह जाते हैं—आज-कल गेहूँ का दाम चढ गया है। पर वास्तव मे यहाँ **दाम** की जगह **दर** या **भाव**

* अर्थ शास्त्र की हिन्दी पुस्तकों में Price को मूल्य और Value को अर्घ कहा जाता है। दाम को तो हमारे अर्थ-शास्त्रियों ने शायद फारसी का शब्द समझकर छोड दिया है, और Worth की ओर उन्होंने कदाचित् इसलिए ध्यान नही दिया कि वह उनके यहाँ कोई विशेष महत्त्व का या पारिभाषिक शब्द नहीं था। इस प्रकार एक ओर हिन्दी का दाम और दूसरी ओर अँगरेजी का Worth खाली पड जाता है। कुछ शब्दकारों ने अर्थ-शास्त्रियो की यह भूल सुधारने का प्रयत्न न करके Worth के लिए अर्हा शब्द सुझाया है। पर एक तो अर्हा शब्द के हिन्दी में चल सकने की कोई सम्भावना नहीं है; दूसरे अर्घ और अर्हा में कोई विशेष मौलिक अन्तर भी नहीं है। जैसा कि इस शब्द-माला के शीर्षक में बतलाया गया है, यदि हम Price को दाम, Value को मूल्य और Worth को अर्घ मान लें तो सब गड-बडियाँ सहज से दूर हो सकती हैं और हमारा काम अच्छी तरह चल सकता है।

शब्द का प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि ऐसे अवसरो पर गेहूँ की खरीद या बिक्री की कोई बात नही होती।

मूल्य भी वस्तुत है तो वही जो **दाम** है, पर उसमे साधारण **दाम** की अपेक्षा कुछ विशेष आशय या भाव है। कोई चीज चाहे बिकने को हो, चाहे न हो, पर हम अनुमान या कल्पना से उसका जो समानक स्थिर करते हैं, वही उसका **मूल्य** होता है। हम कहते हैं—आपके लेखे इस पुस्तक का भले ही कोई मूल्य न हो, पर हमारे लिए तो यह बहु-मूल्य निधि है। अर्थात् हमारी दृष्टि मे उसकी जो उपयोगिता और महत्त्व है, वही हमारे लिए उसका **मूल्य** है। केवल तुल्यता के विचार से जो समानक स्थिर किया जाता है, वही गणितीय क्षेत्र मे **मान** कहलाता है। **दाम** तो मुख्यत धन के रूप मे ही होता है, पर **मूल्य** का सदा धन के रूप मे होना आवश्यक नही है। **मूल्य** मुख्य रूप से किसी वस्तु का वह समानक है, जिससे उस वस्तु का विनिमय होता या हो सकता हो। इसमे क्रय-विक्रय का भाव मुख्य नहीं है। हम कहते हैं—बिना पूरा मूल्य चुकाये किसी देश को कभी स्वतन्त्रता नहीं मिलती। यहाँ **मूल्य** का आशय धन से नही, बल्कि स्वार्थ-त्यागपूर्वक पूरा प्रयत्न करने, कठिनाइयाँ सहने, आत्म-बलिदान करने आदि से है। इसके सिवा **मूल्य** मे उपयोगिता, महत्ता, श्रेष्ठता आदि का भी बहुत कुछ विचार होता है। हम कहते हैं—उन्होंने हमारी सहायता या सेवा का ठीक **मूल्य** नही समझा। आशय यही होता है कि उसकी ठीक-ठीक उपयोगिता या महत्त्व की ओर उनका ध्यान नही गया। **अर्घ** मुख्य रूप से सदा स्वय वस्तु से सम्बद्ध होता है। इसमे न तो क्रय-विक्रय, लेन-देन या विनिमयवाला भाव ही है, न महत्त्ववाला तत्त्व ही। यह सदा उन्ही गुणो या तत्त्वो पर आश्रित होता है, जो स्वय किसी वस्तु मे निहित या वर्त्तमान होते हैं। पर इसमे वस्तुओ की उपयोगिता या उनसे प्राप्त होनेवाली सेवा का विचार अवश्य होता है। मान लीजिए कि आपके पास गुप्त काल का सोने का ऐसा सिक्का है, जो बहुत ही दुष्प्राप्य है—जिस मेल के सिक्के आज तक बहुत ही थोडे मिले हैं या मिले ही नही हैं। यह सिक्का तोले भर सोने का है। अब इस सिक्के का **अर्घ** उतना ही होगा, जितने मे बाजार मे एक तोला सोना मिलता है। यदि सोना बाजार मे सौ रुपये तोले मिलता है,

तो उस सिक्के का **अर्घ** भी सौ रुपये ही होगा, इससे कम या अधिक नहीं। पर सिक्कों का सग्रह करनेवाले लोग (या सग्रहालय) उस सिक्के का भिन्न-भिन्न **मूल्य** आँक सकते हैं। किसी की दृष्टि में वह हजार रुपए **मूल्य** का हो सकता है और किसी की दृष्टि में दो हजार रुपए **मूल्य** का। अब यदि वही सिक्का किसी जगह तीन हजार रुपयो पर बिके तो यही तीन हजार उसका **दाम** कहा जायगा। अर्थात् **अर्घ** प्राय सर्व-मान्य और बहुत-कुछ स्थायी होता है, और उसमे जल्दी कोई अन्तर नहीं पडता, **मूल्य** अपनी-अपनी आवश्यकता, उपयोगिता और रुचि के अनुसार आँका या लगाया जाता है, और **दाम** वह है जो माँगा और लिया-दिया जाता है।

खर्च या **व्यय** अपने साधारण रूप मे यही सूचित करता है कि किसी कार्य, वस्तु, सेवा आदि के बदले मे कितना धन दिया या लगाया गया है। खाने-पीने, कपडे खरीदने और बनवाने, चिकित्सा कराने, मन बहलाने आदि मे हम जितना धन अपने पास से निकालकर लगाते या दूसरो को देते हैं, वह सब **खर्च** या **व्यय** कहलाता है। जैसे—भोजन-व्यय, यात्रा-व्यय आदि। **परिव्यय** मुख्यत- किये हुए किसी विशिष्ट कार्य या सेवा के बदले मे माँगकर लिया जानेवाला धन है। घडी या रेडियो की मरम्मत करनेवाला अपने कार्य या सेवा का अर्थ या धन के रूप मे हमसे जो प्रतिफल माँगता या लेता है, वही उसका **परिव्यय** है। व्यापारी कह सकता है—हम बिना कोई **परिव्यय** लिये यह माल इसी दाम पर आपके घर पहुँचा देंगे। इसका आशय यही है कि गाडी या रेल के भाडे, ढुलाई आदि मे होनेवाले व्यय वह हम से नहीं लेगा। किसी काम या बात के लिए इस रूप मे माँगा और लिया जानेवाला धन ही **परिव्यय** है।

लागत और **लगगत** मे बहुत-से लोग इसी लिए कोई अन्तर नहीं समझते कि ये दोनो शब्द सम-रूपी होने के सिवा एक ही क्रिया 'लगना' से बने हुए और उसके भाववाचक रूप हैं। पर अर्थ के विचार से दोनों मे बहुत बडा अन्तर है। कोई चीज बनाकर तैयार करने मे जितनी सामग्री लगती है, उसका दाम और जितना परिश्रम, व्यय और परिव्यय होता है, वह सब मिलकर **लागत** कहलाता है। हम कहते हैं—यह मकान बनवाने मे हमारी पन्द्रह हजार रुपए **लागत**

आई है; अथवा इस तरह का नया हार बनवाने मे इस समय हजार रुपए लागत आवेगी। यहाँ मकान की लागत मे उसकी जमीन, ईंट-पत्थर, लकडी आदि का दाम और मजदूरो को दी हुई मजदूरी मिली है; और हार की लागत मे सोने, रत्नों आदि का दाम और सुनार को दी जानेवाली गढाई सम्मिलित है। अर्थात् किसी चीज के सम्बन्ध मे किया हुआ उसका सारा और सब प्रकार का व्यय ही लागत कहलाता है। लग्गत किसी रोजगार या व्यापार मे लगे हुए धन या पूँजी का वाचक शब्द है। व्यापारी प्राय कहते हैं—हमारी दूकान मे पचास हजार की लग्गत है। आशय यही होता है कि हमने पचास हजार रुपए इस दूकान (काम या रोजगार) मे लगा रखे हैं। इधर कुछ दिनों से हिन्दी मे लग्गत की जगह सस्कृत का **अधिष्ठान*** शब्द भी चलने लगा है। लग्गत तो केवल आर्थिक और महाजनी क्षेत्र का शब्द है, पर **अधिष्ठान** बहुत-कुछ सात्विक तथा व्यापक अर्थ से युक्त है।

अर्घ, मूल्य और व्यय का आर्थिक क्षेत्रों के सिवा लाक्षणिक रूप से दूसरे क्षेत्रो मे भी कई प्रकार से प्रयोग होता है। किसी मनुष्य का अथवा उसके गुणों, विचारों, सुझावों,आदि का भी कुछ अर्घ और मूल्य हो सकता है, और किसी काम मे हम अपनी बुद्धि, विद्या, समय आदि का भी व्यय कर सकते हैं †। पर परिव्यय, लग्गत और लागत केवल आर्थिक क्षेत्रों में प्रयुक्त होनेवाले शब्द हैं।

---

* इसी आधार पर अँगरेजी के वेस्टेड इण्टरेस्ट (Vested Interest) के लिए अधिष्ठित स्वार्थ (या हित ?) सरीखे प्रयोग देखने मे आते हैं।

† अँगरेजी में Cost का लागत के सिवा एक अर्थ मूल्य से मिलता-जुलता भी होता है, और Expense का कुछ ऐसा आशय भी होता है जो व्यय से कुछ भिन्न है। इसी आधार पर अँगरेजी में कुछ मुहावरे भी बने है। जैसे —Victory won at great cost of life. A joke at another's expense आदि। ऐसे मुहावरो के अनुवाद के समय लोग प्रायः भूल से 'मूल्य पर' 'व्यय पर' आदि लिख जाते हैं। पर हिन्दी में ऐसे

दुःख (Grief, Sorrow)

कष्ट (Distress)	वेदना (Agony)
क्लेश	व्यथा (Anguish)
खेद (Regret)	शोक (Mourning)
पीड़ा (Pain)	सन्ताप (Torment)
विषाद (Gloom)	

दुःख अनेक प्रकार की प्रतिकूल भौतिक और मानसिक अनुभूतियों का सूचक ऐसा व्यापक शब्द है, जो अपने वर्ग के प्रायः सभी पर्यायों के स्थान पर प्रयुक्त होता है। अप्रिय, प्रतिकूल और हानिकारक बातें इसका कारण होती हैं। है तो यह मुख्यत मानसिक ही, पर कभी-कभी ऐसे भौतिक और शारीरिक प्रसगो मे भी इसका प्रयोग होता है, जहाँ वस्तुत **कष्ट** का प्रयोग होना चाहिए। **कष्ट** ऐसी कठिन और विकट स्थितियों मे होता है जो मुख्यत भौतिक या शारीरिक बातो से सम्बन्ध रखती हैं। अनेक प्रकार के अभाव और असमर्थताएँ

प्रयोगों का वस्तुत. कुछ भी अर्थ नही होता, क्योंकि ऐसे प्रयोग हिन्दी शब्दार्थों के भी विरुद्ध होते हैं और हिन्दी की प्रकृति के भी विपरीत पड़ते हैं। कुछ अवसरो पर अँगरेजी मे Cost और Expense के अर्थों में भी बहुत बड़ा अन्तर होता है। जैसे — A joke at another's expense बहुत हलके भाव का सूचक है, पर A joke at another's cost उससे बहुत उत्कट या कठोर भाव का सूचक है। पहले वाक्य मे किसी को केवल मूर्ख बनाने या कुछ नीचा दिखाने का भाव है, पर दूसरे वाक्य में उसकी बहुत बडी हानि करने की ध्वनि है। ऐसे अवसरो पर बहुत सावधानी से अँगरेजी शब्दो का ठीक आशय समझते हुए और हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप अनुवाद करना चाहिए। अँगरेजी शब्दो के स्थान पर हिन्दी शब्द रख देने भर से काम नहीं चलेगा।

कष्ट का कारण होती हैं। यही इसका मुख्य क्षेत्र है। कभी-कभी यह **पीडा**, **वेदना**, **व्यथा** और **सन्ताप** के स्थान पर भी प्रयुक्त होता है। पर है यह मुख्य रूप से शारीरिक और गौण रूप से मानसिक ही। **क्लेश** सर्वांश मे मानसिक है, और मानसिक प्रसंगो मे ही **कष्ट** और **दुःख** दोनो की जगह इसका प्रयोग होता है। हम यह तो कह सकते हैं कि कल आप हमारे यहाँ आने का **कष्ट** करे। पर यह नही कह सकते कि आने का **क्लेश** या **दुःख** करे। कारण यही है कि आने मे शारीरिक श्रम होता है, और **क्लेश** तथा **दुःख** ऐसे मानसिक अप्रिय भावो या अवस्थाओं के सूचक है, जो **वेदना**, **व्यथा** आदि के वर्ग की हैं। **क्लेश** का प्रयोग घर के लडाई-झगडो या कलह के अर्थ मे भी होता है, पर यह उसका गौण अर्थ है।

मानसिक **कष्ट** या **दुःख** का बहुत ही हलका और साधारण रूप **खेद** कहलाता है। कोई साधारण-सी अनुचित बात या छोटी-मोटी भूल होने पर **खेद** होता और प्रकट किया जाता है। इससे अधिक गम्भीर प्रसगो मे इसका प्रयोग अनुचित है। **पीड़ा** मुख्य रूप से शारीरिक और गौण रूप से मानसिक होती है। बहुत अधिक परिश्रम करने या चोट लगने से हाथ-पैरो मे, ज्वर से सारे शरीर मे और किसी के दुर्व्यवहार से मन मे **पीड़ा** होती है। मानसिक **पीडा** जब उग्र रूप धारण करती है, तब उसे **वेदना** कहते हैं। यह प्राय अभाव, वियोग, आदि से उत्पन्न होती और अपेक्षया स्थायी होती है। कही-कही (जैसे बँगला मे) शारीरिक पीडा के अर्थ मे **वेदना** का जो प्रयोग होता है, वह ठीक नही है। **व्यथा** की उत्पत्ति की परिस्थितियाँ तो बहुत-कुछ वही हैं जो **दुःख** की हैं, पर यह **दुःख** की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है, और इसी लिए **वेदना** से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। रह-रहकर मन मे उठनेवाली टीस ही **व्यथा** है। **विषाद** मन की वह अवस्था है, जो अभिलाषा या उद्देश्य पूरा न होने पर अथवा भविष्य के सम्बन्ध मे कोई गहरी चिन्ता या निराशा होने पर और इसी लिए बहुत उदासी छाने और चारो ओर अन्धकार दिखाई देने पर उत्पन्न होती है। जब कोई **व्यथा** या **वेदना** उग्र रूप धारण करके कुछ स्थायी हो जाती है, तब उसके कारण मन मे **सन्ताप** होता है, जो कुछ समय तक बना रहता है। **शोक** सदा किसी प्रिय मित्र

या सगे-सम्बन्धी की मृत्यु अथवा किसी बहुत बडे महापुरुष के निधन पर होता है। मृत्यु के सिवा और किसी प्रसग मे इसका प्रयोग अनुचित है।

यदि हमारे मित्र को उदर-शूल रोग हो, या सीढियो पर से गिरने के कारण गहरी चोट लगे तो उसे **पीडा** होगी, और उसके फल स्वरूप हमे **दुःख** होगा। उसके दिन-रात रोते-चिल्लाते रहने से आस-पासवालो को, और आय का मार्ग बन्द हो जाने से घरवालो को **कष्ट** होगा। यदि वह चिकित्सा कराने के लिए कहीं दूर चला जाय या पागल हो जाने के कारण पागलखाने मे बन्द हो जाय, तो हमें **व्यथा** होगी; और उसकी मृत्यु हो जाने पर हमे **शोक** होगा। उसकी मृत्यु के बाद जब-जब हमे उसकी याद आवेगी, तब-तब **वेदना** होगी, और उसके छोटे-छोटे बच्चो को कष्ट और दुर्दशा मे देखने पर **सन्ताप** होगा।

दुर्लभ (Rare)

अवसरिक (Occasional)
चुट-पुट=छुट-फुट
छुट-फुट (Sporadic)
दुष्प्राप्य
विकीर्ण (Sporadic)
विरल (Scarce)

इस वर्ग के शब्द ऐसी स्थितियो के सूचक विशेषण हैं, जिनमे कुछ घटनाएँ, चीजे या बाते सदा और नियमित रूप से नही, बल्कि कभी-कभी या बीच-बीच मे होती, मिलती या देखने मे आती हैं। **दुर्लभ** स० दु + लभ् से बना है, जिसका व्युत्पत्तिक अर्थ है—कठिनता से या बहुत कम मिलने या होनेवाला। पर व्यवहार मे इसका प्रयोग केवल ऐसी चीजो के सम्बन्ध में होता है जो वस्तुत होती ही बहुत कम हैं या बहुत कम देखने मे आती हैं। जो चीज प्राप्त करने में बहुत कठिनता होती है, अर्थात् जिसे पाने के लिए बहुत अधिक परिश्रम या प्रयत्न करना पडता है, उसके लिए हमारे यहाँ का प्रचलित विशेषण **दुष्प्राप्य** है। जो चीज केवल कहीं-कही या जो बात केवल कभी-कभी (और वह भी

बहुत कम) होती हो, वही दुर्लभ कही जाती है, पर जो होने पर भी बहुत कठिनता से हाथ आती हो, उसे दुष्प्राप्य कहते हैं। उदाहरण के लिए कोह-नूर हीरा ससार मे है तो सही, पर उसे प्राप्त करना बहुत ही कठिन है; अत वह हमारे-आपके लिए दुष्प्राप्य है। पर यदि हम कोह-नूर की तरह का और हीरा ढूँढना चाहे तो वह हमे जल्दी ढूँढे न मिलेगा, इसी लिए हम कहते हैं—कोह-नूर के जोड का हीरा ससार मे दुर्लभ है। हम कहते हैं—दधीचि का-सा दानी या महात्मा गान्धी जैसा सत्यवादी ससार मे दुलभ है। इसका भी यही आशय है कि दानशीलता और सत्यवादिता मे इस टक्कर के और लोग जल्दी नही मिलेंगे।
अवसरिक स० अवसर* से बनाया गया है। अवसर का व्युत्पत्तिक अर्थ है—ऊपर से (जल का) नीचे आना, अर्थात् पानी बरसना या वर्षा। पर सस्कृत मे भी और हिन्दी मे भी अवसर मुख्यत उस समय का वाचक बन गया है, जिसमे (क) कोई घटना घटित हुई हो यह होने को हो अथवा (ख) अपनी इच्छा, प्रवृत्ति, रुचि आदि के अनुसार जिसमे कोई कार्य किया या घटना घटाई जा सकती हो। अवसरिक शब्द अवसर के पहले अर्थ के विचार से ही बनाया गया है†।

जो घटना या बात केवल बीच-बीच मे और विशिष्ट अवसरो या समयो पर हो होती हो, प्राय या सदा न होती हो, वह **अवसरिक** कहलाती है। अर्थात् जो नियमित और निरन्तर न हो, योंही किसी-किसी समय हो जाया करे, वही अवसरिक है। सावन भादों मे तो प्राय वर्षा होती है, पर चैत, कुआर या माघ मे वह **अवसरिक** ही होती है। **छुट-फुट** हिं० छूटना + फूटना के योग से बना है। जो वात किसी बन्धन से छूटकर अथवा किसी काया (विस्तृत अर्थ मे) से फूटकर

---

* अंग्रेजी के ऑकेजन (Occasion) का मुख्य अर्थ अवसर ही है, और इसी दृष्टि से ऑकेजनल (Occasional) के लिए अवसरिक शब्द बनाया गया है। पर हिन्दी में अवसर का प्रयोग ऑपरच्यूनिटी (Opportunity) के समानक के रूप में भी होता है।

† अवसर के दूसरे अर्थ के विचार से हिन्दी में अवसरवादी (Opportunist) शब्द बनता है।

योंही कहीं-कहीं हो जाय, उसे **छुट-फुट** कहते हैं। यह विशेषण **अवसरिक** से इस बात में भिन्न है कि इससे किसी घटना के घटित होने की सम्भावना और भी कम होती है। **अवसरिक** और **छुट फुट** मे एक और अन्तर यह है कि इनमे से पहला शब्द तो समय के भाव से सम्बद्ध है और दूसरा स्थान के भाव से। **अवसरिक** कभी-कभी होता है और **छुट-फुट** कही-कही। हम कहते हैं—भारत और पाकिस्तान की सीमा पर छुट-फुट मुठभेडे होती रहती हैं। आशय यही होता है कि आज यहाँ मुठभेड हुई तो दस दिन बाद वहाँ, और महीने दो महीने बाद किसी तीसरी जगह हुई। पर जब हम कहते हैं—'दोनो दलों मे **अवसरिक** रूप से बौछारें होती रही हैं।' तब हमारा आशय यह होता है कि आज एक बार कुछ कहा-सुनी हो गई, तो दस-बीस दिन बाद फिर कभी हो गई। **चुट-फुट** इसी **छुट-फुट** का स्थानिक रूप है। **विकीर्ण** का अर्थ है—छितरा या फैलाया हुआ। अनाज छितराने पर उसके कुछ दाने यहाँ गिरते हैं, कुछ वहाँ और कुछ कहीं। इस दृष्टि से प्रस्तुत प्रसग मे **विकीर्ण** का भी वही अर्थ है जो **छुट-फुट** का है। जब हम कहेंगे—'नगर मे उपद्रवों (या हैजे, प्लेग आदि से मृत्यु) की कुछ **छुट फुट** (विकीर्ण) घटनाएँ हुई हैं।' तब आशय यही होगा कि नगर के भिन्न-भिन्न भागों मे अलग-अलग घटनाएँ हुई हैं। स० **विरल** की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। सस्कृत मे इसका स्त्री० रूप विरला होता है। पर हिन्दी मे इस विरल से जो **विरला** रूप बना है, वह पु० ही है, और उसका स्त्री० रूप **विरली** होता है। जैसे—विरले पुरुषो की विरली बातें। अर्थ की दृष्टि से **विरल** (या विरला) भी बहुत कुछ वही है, जो **दुर्लभ है,** फिर भी दोनों के अर्थों मे कुछ सूक्ष्म अन्तर हैं। **दुर्लभ** मे तो पाये जाने या मिलने का भाव प्रधान है, पर **विरल** मे केवल रहने या होने का भाव मुख्य है। दोनों मे एक दूसरा अन्तर यह भी है कि **दुर्लभ** जितना कम होता है, **विरल** उतना कम नहीं होता, अपेक्षया कुछ अधिक होता है। **दुर्लभ** तो मिलता ही बहुत कम है, पर **विरल** कहीं-कहीं मिल या हो भी सकता है। सस्कृत मे **विरल** का मूल अर्थ है—जो साथ-साथ मिला या सटा हुआ अर्थात् घना न हो। इससे आगे बढकर यह ऐसी चीज या बात का वाचक हो जाता है जो बहुत कम देखने मे आती हो। **छुट फुट** की ही

तरह **विरल** मे भी स्थानवाले भाव की ही प्रधानता है, काल अथवा घटनावाले भावो की नहीं। हम कहते हैं—वस्तुत॰ सज्जन पुरुष ससार मे **विरले ही** होते हैं। आशय यही होता है कि ऐसे सज्जन पुरुष होते तो हैं, पर बहुत कम होते हैं और केवल कहीं-कहीं दिखाई देते हैं।

दुर्वचन (Abuse)

अप-भाषण (Scurrility) **गाली** (Vituperation)
तर्जन (Scold) **गाली-गलौज** (Vilification)

दुर्वचन का शब्दार्थ है—अनुचित और बुरा वचन या बात। किसी के सम्बन्ध मे कही हुई दूषित और अनुचित बात या शब्द **दुर्वचन** है। क्रोध मे आकर किसी को मानसिक कष्ट पहुँचाने और प्राय तुच्छ या हीन सिद्ध करने के लिए **दुर्वचन** का प्रयोग होता है। इसमे उग्र रूप से किसी की निन्दा होती है। किसी को बेईमान या लुच्चा कहना **दुर्वचन** है। कभी-कभी यह गाली का भी पर्याय हो जाता है, और इसका प्रयोग अपने मन का दु ख या रोष प्रकट करने के लिए भी होता है, पर ऐसी अवस्थाओ में उस व्यक्ति की कोई हानि नही होती, जिसके प्रति इसका प्रयोग होता है। यदि किसी दुष्ट को कुछ दण्ड मिले, तो वह भी दण्ड देनेवाले के सम्बन्ध मे **दुवचनो** का प्रयोग कर सकता है। शब्दार्थ की दृष्टि से **अप-भाषण** भी बहुत कुछ वही है जो **दुर्वचन** है, परन्तु प्रयोग की दृष्टि से यह उससे अधिक गर्हित और बुरा है। इसे **गाली** और **दुर्वचन** के बीच का स्थान दिया जा सकता है। इसमे भाषा की रुक्षता तो अधिक होती ही है, कभी-कभी यह अश्लीलता की सीमा तक भी पहुँच जाता है। इसमे दूसरों की निन्दा का भाव उतना अधिक नही होता, जितना उन्हे औरों की दृष्टि मे गिराने का प्रयत्न होता है। **गाली** (स० गालि) मे भी प्राय यही बातें होती हैं, पर उसमे वक्ता के क्रोध या रोष की मात्रा भी अधिक होती है और उसकी अशिष्टता तथा अ-सस्कृति भी सूचित होती है। **गाली** मे भले ही अश्लील शब्दों का

प्रयोग न हो, फिर भी तात्त्विक दृष्टि से यह सदा अश्लीलता के क्षेत्र मे रहती और सभ्य समाज मे बहुत निन्दनीय समझी जाती है। अत्यधिक कठोर **दुर्वचनो** और **अप-भाषा** का प्रयोग ही गाली कहलाता है। **गाली** और **गाली-गलौज*** मे मुख्य अन्तर यही है कि जब तक यह एक ही पक्ष से हो, तब तक तो **गाली** रहती है, पर जब इसका प्रयोग दोनो पक्षो से प्राय समान रूप से हो, तब इसे **गाली-गलौज** कहते हैं। **तर्जन** इस वर्ग का सबसे हलका शब्द है। जब हम कुछ क्रोध मे आकर या चिटकर किसी को दबाने के लिए कुछ उग्र और कटु बातें कहते हैं, तब ऐसी बातों की गिनती **तर्जन** मे होती है। साधारण बोल-चाल मे इसी को (किसी पर) बिगडना कहते हे। **तर्जन** स-कारण तो होता ही है, पर कभी-कभी अ-कारण या कुछ का कुछ समझने के कारण भी हो सकता है। माता-पिता का बच्चो पर या मालिक का नौकर पर बिगडना **तर्जन** में ही अन्तर्मुक्त है। **तर्जन** प्राय उसी की ओर मे होता है, जो या तो कुछ समर्थ और सशक्त हो, या अपने आपको समर्थ और सशक्त समझता हो।

---

* व्युत्पत्तिक दृष्टि से गलौज का कोई विशेष अर्थ नही है, यह गाली का अनुकरण-वाचक शब्द मात्र है।

दुष्कर्म (Vice *)

अतिचार (Transgression)
अनाचार (Immorality)
अनैतिकता=अनाचार
अपकर्म (Misdeed)
अपराध (१. Crime २. Offence)
कुकर्म=दुष्कर्म
दुराचरण (Misconduct)
दुर्वृत्ति (Depravity)
दोष (१. Fault २. Guilt)
पातक
पाप (Sin)
भ्रष्टाचार (Corruption)
विकर्म (Lapse)

दुष्कर्म (सत्कर्म का विपर्याय) का शब्दार्थ है—बुरा काम। व्यक्ति और समाज का अहित करनेवाले तथा धर्म, नीति, मानवता आदि के विरुद्ध होनेवाले जितने अनुचित या बुरे काम होते हैं, वे सभी दुष्कर्म कहलाते हैं। धार्मिक क्षेत्र में सभी प्रकार के दुष्कर्मों की संज्ञा पाप है, और इस रूप में यह पुण्य का विपर्याय है। पाप का क्षेत्र दुष्कर्म की अपेक्षा बहुत विस्तृत है। दुष्कर्म तो केवल कायिक अर्थात् शरीर से किये हुए काम होते हैं, पर पाप कायिक, मानसिक और वाचिक तीनों प्रकार के होते हैं। हमारे यहाँ अनुचित काम करना तो पाप माना ही गया है, उचित तथा कर्त्तव्य कर्म न करना भी पाप कहा गया है, और मन में बुरे कामों या बातों का ध्यान अथवा विचार करना भी। दुष्कर्मों का कुफल या दण्ड तो हम इस लोक में भोगकर भी छुट्टी पा सकते हैं, पर पापों का फल हमें

---

* अँगरेजी के Virtue और Vice शब्द मुख्यतः गुण या भाव की सूचक संज्ञाएँ हैं, और इस दृष्टि से इनके हिन्दी समानक होंगे—सद्गुण और दुर्गुण। आगे चलकर जब ये दोनों गुण या तत्त्व जीवन में कार्य अथवा व्यापार के रूप में परिणत होते है, तब ये सत्कर्म और दुष्कर्म कहलाते है। प्रस्तुत प्रसंग में Vice के इसी दूसरे अर्थ और रूप के विचार से इसका समानक दुष्कर्म रखा गया है।

जन्मान्तरों तक मे भोगना पड़ता है। चोरी, पर स्त्री-गमन, मद्य-पान, हिंसा आदि दुष्कर्म तो हैं ही, पर कुछ अवस्थाओ मे हम इस लोक मे इन दुष्कर्मों के फल-भोग से बच भी सकते हैं। पर ये सब **दुष्कर्म** वस्तुत **पाप** भी हैं; और **पापो** का फल-भोग हमारे लिए अनिवार्य होता है—हमे ईश्वर के यहाँ से उनका दण्ड अवश्य मिलता है। **पाप** सदा कर्त्ता का भी और उसके साथ दूसरों का भी कुछ न कुछ अपकार या अहित करता है। शास्त्रों मे **पाप** की निवृत्ति के दो ही उपाय कहे गये हैं—प्रायश्चित्त और भोग। जिन **पापो** का हिन्दू धर्म-शास्त्रों मे विशेष रूप से उल्लेख करके उनके दण्ड या प्रायश्चित्त का विधान किया गया है, वे **पातक** कहलाते हैं। **पातक** का साधारण अर्थ है—पात या पतन करने अर्थात् गिरानेवाला। इस प्रसग मे **पातक** का अर्थ होता है—नरक मे गिरानेवाला **पाप**। अर्थात् **पातक** ऐसे **पाप** कहलाते हैं जिनके फल-भोग के लिए मनुष्य को नरक मे जाना पडता है। धर्म-शास्त्रों मे **पातको** के अतिपातक, उप-पातक, महापातक आदि अनेक भेद किये गये हैं। **अपकर्म** का भी अर्थ है, तो बुरा काम ही, पर यह **दुष्कर्म** से बहुत-कुछ हलके भाव का सूचक शब्द है। **दुष्कर्म** जितने घृणित और निन्दनीय होते हैं, **अपकर्म** उतने नहीं होते। अप का अर्थ है—बुरा; और दु (या दुष्) का अर्थ है—बहुत बुरा। नित्य के छोटे-मोटे बुरे काम (जैसे, अपनी बचत करने के लिए साधारण झूठ बोलना, किसी की चुगली खाना, लोगों मे लड़ाई-झगडा कराना आदि) **अपकर्म** हैं, पर शराब पीकर सडकों पर धींगा-मस्ती करना, पराई स्त्रियों के पीछे घूमते फिरना या उन्हें छेडते रहना, चोरी-चमारी, जूआ आदि **दुष्कर्म** हैं। **अपकर्म** और **दुष्कर्म** दोनों नीति-विरुद्ध और दूसरों की दृष्टि मे निन्दनीय होते हैं। अर्थ के विचार से **अतिचार** मे औचित्य की सीमा के उल्लघन का भाव मुख्य है। पर यह किया जाता है प्राय किसी विशेष उद्देश्य से, और अपने लाभ के लिए। अपने सुख-सुभीते के विचार से ऐसा काम करना जो दूसरो के सुख-सुभीते मे बाधक हो, **अतिचार** कहलाता है। **अनाचार** इससे कुछ आगे बढा हुआ और प्राय **अपकर्म** से भी गुरुतर तथा **दुष्कर्म** की सीमा तक पहुँचता हुआ है। **अपकर्म** और **दुष्कर्म** मे उन बुरे कामों का भाव मुख्य है जो किये जाते हैं, पर **अनाचार**

में नीति-विरुद्ध आचरण का भाव प्रधान है। सज्ञा रूप मे **दुर्वृत्ति** * इससे भी कुछ और आगे बढी हुई चीज है। जैसा कि स्वय इस शब्द से सूचित होता है, इसमे वृत्ति (या स्वभाव) का भाव मुख्य है। **अनाचार** तो चरित्र की दुर्बलता के कारण होता है, पर **दुर्वृत्ति** बहुत-कुछ अभ्यास और स्वभाव पर आश्रित होती है। इसी लिए **अनाचार** तो प्राय निन्दनीय मात्र होकर रह जाता है, पर **दुर्वृत्ति** मनुष्य को दूसरों की घृणा का पात्र बना देती है। इसमे आचार-विचार आदि का नैतिक पतन (साधारण अनाचार की अपेक्षा) बहुत आगे बढा हुआ होता है। इसी से कहा जाता है—वह **अनाचारी** ही नहीं, **दुर्वृत्त** भी है। दुष्कर्मों का बराबर आचरण करते रहना ही **दुराचरण** है। यह चरित्र के बहुत बढ़े हुए दोषों और पतन का सूचक है। यद्यपि इसका मुख्य क्षेत्र नैतिक है, तो भी कुछ अवस्थाओ मे आगे बढकर, विधिक दृष्टि से, यह अपराध के क्षेत्र मे भी पहुँच सकता और दण्डनीय हो सकता है। **दुष्कर्म** और **दुराचरण** मे मुख्य अन्तर यह है कि **दुष्कर्म** तो कोई एक बुरा काम भी हो सकता है, पर **दुराचरण** मे प्राय नियमित रूप से अनेक प्रकार के दुष्कर्म करते रहने का भाव है। हो सकता है कि कोई भला आदमी कभी किसी परिस्थिति के कारण कोई **दुष्कर्म** कर बैठे और तब उसके लिए पश्चात्ताप भी करे। पर **दुराचरण** प्राय मनुष्य का स्वभाव-सा बन जाता है; और उसके लिए कर्त्ता को जल्दी उसका कोई दु ख या पश्चात्ताप भी नहीं होता। अर्थ के विचार से **भ्रष्टाचार** भी बहुत-कुछ वही है, जो **अनाचार** है। पहले यह शब्द हमारे धार्मिक क्षेत्र मे उन आचरणों का वाचक था, जो वर्णाश्रम धर्म के नियमो और विधानों के विपरीत होते थे। पर आज-कल **भ्रष्टाचार** मुख्य रूप से एक विशेष प्रकार के **अतिचार** और **अनाचार** के मिश्रण का वाचक बन गया है। आज-कल राजकीय कार्यालयों और विभागों मे वहाँ के अधिकारी या कर्मचारी केवल आर्थिक स्वार्थ की दृष्टि से जो तरह-तरह की बेईमानियाँ और अन्याय करते तथा अपने सगी-साथियों और सगे-सम्बन्धियों का आर्थिक लाभ कराने

* विशेषण रूप में इसका अर्थ होता है—बुरी वृत्तियोवाला, और इस अर्थ में दुर्वृत्त का भी प्रयोग होता है।

के लिए अनेक प्रकार के पक्ष-पात करते हैं, उन सबकी गिनती **भ्रष्टाचार** मे होती है। **विकर्म** का मौलिक अर्थ है—निषिद्ध या विधि-विरुद्ध कार्य, और इस दृष्टि से प्रत्येक अनुचित कार्य **विकर्म** हो जाता है। पर वि उपसर्ग का एक अर्थ रहित या हीन भी है, जैसे—विकच=बालो से रहित या हीन, अर्थात् गजा, अथवा विकटक=कटकों या काँटों से रहित या हीन, आदि। प्रस्तुत प्रसग मे **विकर्म** का आशय है—आचार, व्यवहार आदि की कोई ऐसी चूक या त्रुटि जिसका सुधार अपेक्षित और आवश्यक हो। हम अपनी नैतिक या मानसिक दुर्बलता, कुसगति अथवा सस्कारो के वश होकर भी कोई उचित और कर्त्तव्य कर्म छोड सकते हैं और अनवधानता, आवेश, प्रमाद आदि के कारण भी। कर्त्तव्य के पथ से इस प्रकार विचलित होना हो **विकर्म** कहा जायगा। यह **विकर्म** जब अपराध या दोष की सीमा तक पहुँच जाता है, तब भी प्राय हलका और दयनीय ही समझा जाता है। इसके कर्त्ता के साथ कुछ मार्दव या रिआयत ही की जाती है। प्रयोग की दृष्टि से **विकर्म** मे उन साधारण कुकर्मों या दुष्कर्मों का भी अन्तर्भाव होता है जो मनुष्य अपनी चारित्रिक या नैतिक दुर्बलता के वश होकर कर बैठता है। फिर भी इसमें नहिक तत्त्व ही मुख्य है, और यह किसी न किसी प्रकार की दुर्बलता के ही कारण घटित होता है, बुरे उद्देश्य से नहीं।

अपराध और **दोष** दोनों के आर्थी क्षेत्र बहुत ही विस्तृत हैं। ये दोनों छोटे-से छोटे या नगण्य भी हो सकते हैं और बडे से बडे या दण्डनीय भी। अपने साधारण या हलके रूप में कोई अनुचित या बुरा काम (जिसे धार्मिक क्षेत्र मे पाप कहते हैं) **अपराध** होता है। गुरु-जनो के आने पर उठकर खड़े न होना या उनकी आव-भागत के फेर मे पड जाने के कारण उन्हें हाथ जोड़ना या उनके चरण छूना भूल जाना भी **अपराध** है; और आलस्य के कारण उन्हे उपयुक्त आसन न लाकर देना भी। ऐसे हलके **अपराध** प्राय भूल-चूक के वर्ग मे चले जाने के कारण सदा क्षम्य होते हैं। इससे आगे बढने पर (अपने मध्यम स्तर पर) **अपराध** दूसरों को हानि पहुँचानेवाला रूप धारण करता है। नैतिक दृष्टि से अनुचित माने जानेवाले वे सब काम इसी वर्ग मे आते हैं, जिन्हें हम साधारणत **दोष** भी कह सकते हैं। यहाँ इसका स्वरूप प्राय अनिश्चित रहता है, फिर भी इसमे

अपचार, **अतिचार**, **अनाचार**, **विकर्म** आदि अनेक ऐसी बाते आ जाती हैं जिनमे या तो दण्ड की अपेक्षा होती ही नही, और यदि कुछ अपेक्षा हो भी तो प्राय इसलिए दण्ड नहीं दिया जाता कि ऐसे **अपराध** अपेक्षया तुच्छ समझे जाते हैं। इसी दृष्टि से पिता रुष्ट होकर पुत्र से कहता है—इस अवसर पर तुमने झूठ बोलकर (अपने भाई को थप्पड मारकर या अपने सहपाठी का कुरता फाडकर) बहुत बडा **अपराध** किया है। इससे भी आगे बटने पर जब यह नियत विधि-विधान आदि के विरुद्ध और उग्र रूप का होता है, तब कर्त्ता को कुछ दण्ड मिलना आवश्यक होता है। प्राय सभी **दुष्कर्म** जब विधिक दण्डनीयता के क्षेत्र मे आ जाते हैं, तब वे इसी वर्ग के **अपराध** होते हैं, जैसे चोरी, जूआ, मार-पीट, हत्या आदि। **दोष** स० दु या दुष् से बना है जिसके अर्थ हैं—अनुचित, अपवित्र, बुरा आदि। लौकिक क्षेत्र मे हर तरह का अभाव, अवगुण या बुराई **दोष** कहलाती है। हम **दृष्टि-दोष** से प्रतिलिपि करने मे कुछ भूले कर जाते हैं, किसी की बात ठीक तरह से न सुनने पर अपने कानों का **दोष** बतलाते हैं; समालोचक लोग दूसरों की कृतियो के **दोष** दिखलाते हैं, और वैद्य जी हमारे ज्वर का कारण पित्त का **दोष** बतलाते हैं। हो सकता है कि ऐसे **दोष** बहुत गम्भीर न हो अथवा जान-बूझकर न किये गये हो, पर ये किसी न किसी प्रकार की अपूर्णता या विकार के सूचक अवश्य होते हैं। हममे समझ की कमी, उदासीनता, दृढ निश्चय का अभाव आदि अनेक ऐसे **दोष** हो सकते हैं जो दुर्गुणो की सीमा तक पहुँचते हों, फिर भी इनके कारण हम कभी **अपराधी** या **दुष्कर्मी** नही कहे जा सकते। पर जब हम जान-बूझकर कोई ऐसा **दोष** करते हैं जिससे दूसरो का अपकार या हानि होती है, तब हम निन्दनीय तो ठहरते ही हैं, दण्डनीय तक हो सकते हैं। इस सीमा तक पहुँचा हुआ **दोष** भी उग्र रूपवाले **अपराध** के वर्ग में चला जाता है। और इसी दृष्टि से कहा जाता है—न्यायालय ने अमुक को **दोषी** ठहराकर साल भर की सजा दी, पर उसके साथी को **निर्दोष** समझकर छोड़ दिया।

दृष्टान्त (Instance)

उदाहरण (Example) **पूर्व-वर्ती=पूर्व-पद**

निदर्शन (Illustration) **पूर्विका** (Precedent)

पूर्व-पद (Antecedent) **प्रघटन** (Case)

दृष्टान्त (स० दृष्ट + अन्त) का शब्दार्थ है—जो देखा गया हो, उसका अन्त या लक्ष्य। पर व्यावहारिक क्षेत्र मे इसका अर्थ बिलकुल भिन्न है। हम कोई बात कहते या मत प्रकट करते हैं अथवा किसी की बात या मत का खण्डन करते हैं, और उसके पोषण या समर्थन मे प्रमाण या साक्षी के रूप मे वैसी ही और कोई बात या किसी व्यक्ति का आचरण, व्यवहार आदि लोगों के सामने रखते हैं। इस प्रकार पोषण या समर्थन के लिए दिखलाया जानेवाला तथ्य **दृष्टान्त** कहलाता है। हम कहते हैं—दोनों भाइयों को बहुत ही प्रेम तथा सद्भावपूर्वक साथ रहना चाहिए—उसी तरह रहना चाहिए, जैसे राम और लक्ष्मण रहते थे। इस प्रकार हम राम और लक्ष्मण का **दृष्टान्त** दोनों भाइयों के सामने रखते हैं। पौराणिक कथाएँ कहनेवाले व्यास और अच्छे वक्ता प्राय अपनी बातों की पुष्टि के लिए बीच-बीच मे कुछ **दृष्टान्त** भी देते चलते हैं। किसी नियम, सिद्धान्त, स्थिति आदि का विवेचन करते समय उसका ठीक-ठीक रूप बतलाने के लिए हम जो तथ्य (या व्यक्ति) **दृष्टान्त** के रूप मे सामने लाते हैं, वह **उदाहरण** कहलाता है। **दृष्टान्त** और **उदाहरण** मे कई मुख्य अन्तर हैं। **दृष्टान्त** बहुधा कृतियों के सम्बन्ध मे और आदर्श तथा प्रमाण के रूप मे होता है, परन्तु **उदाहरण** प्राय नैतिक और बौद्धिक तथ्यों, विचारो और भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध मे और उन्हीं के रूप मे स्पष्टीकरण के लिए होता है। नियमों, व्यवस्थाओं आदि के सम्बन्ध में **उदाहरण** और चरित्र, व्यवहार आदि के सम्बन्ध मे **दृष्टान्त** उपस्थित किये जाते हैं। अर्थ के विचार से **उदाहरण** बहुत अधिक व्यापक शब्द है, और उसमे **दृष्टान्त** का भी अन्तर्भाव हो जाता है। प्रत्येक **दृष्टान्त** को तो हम **उदाहरण** भी कह सकते हैं, पर प्रत्येक **उदाहरण** को **दृष्टान्त** नहीं कह

सकते। हम स्वय किसी प्रकार का आचरण करके दूसरो के लिए **उदाहरण*** उपस्थित कर सकते हैं, पर **दृष्टान्त** देने के लिए हमे दूसरों (या उनके चरित्रो) का आश्रय लेना होगा। हाँ, किसी बात का विधान या निषेध करने के लिए दोनो का उपयोग हो सकता है। गणित का कोई विषय समझाने के लिए अथवा किसी ग्रन्थ की रचना-शैली, विषय-विवेचन आदि के स्वरूप का परिचय देने के लिए **उदाहरण** ही उपस्थित किये जाते हैं, **दृष्टान्त** नही। **निदर्शन** भी है तो एक प्रकार का **उदाहरण** या **दृष्टान्त** ही, पर अर्थ और प्रयोग के विचार से इसकी व्याप्ति अपेक्षया कम है। इसका प्रयोग किसी ऐसी बात का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए होता है जो साधारण रूप से कहकर समझाई गई हो। यह बहुधा कल्पित और स्व-रचित भी होता है, पर होता सदा मूल कथन के अनुरूप ही है। भौतिक विज्ञान, रेखा गणित आदि की समस्याओ का जो विवेचन ग्रन्थों में होता है, उसके स्पष्टीकरण के लिए चित्रो के रूप मे जो आकृतियाँ आदि अकित की जाती हैं, वे वस्तुत **निदर्शन** के रूप मे ही होती हैं, और इसी लिए ऐसे रेखाकन भी **निदर्शन** कहलाते हैं। **पूर्व पद** वस्तुत व्याकरण और साहित्य के क्षेत्रो का शब्द है। किसी यौगिक शब्द या समस्त पद मे का पहला शब्द या पद व्याकरण मे **पूर्व-पद** कहलाता है, और दूसरा या बादवाल शब्द या पद (इसके विपर्याय के रूप मे) **उत्तर-पद** कहलाता है। देश-सेवा मे का देश या लोक-गीत मे का लोक **पूर्व-पद** है। परन्तु किसी सोपाधिक† बात का वह पहला अश **पूर्व-पद** कहलाता है, जिस पर उसका दूसरा अश आश्रित होता है। जैसे—'यदि आप वहाँ चलें तो मै भी आपके साथ चलूँगा।' मे का 'यदि आप वहाँ चले' भी **पूर्व-पद** ही है। अपने लाक्षणिक अर्थ और विस्तृत रूप मे (क) वह बात भी **पूर्व-पद** कहलाती है, जिस पर तार्किक दृष्टि से कोई बात अवलम्बित हो, और (ख) घटना-काल या घटना-क्रम के विचार से वह पहली घटना या बात भी **पूर्व-पद** कहलाती है, जिसका कारणिक रूप से किसी बादवाली घटना या बात से

*** इस अर्थ मे यह 'नमूना' का समानक होता है। (दे०—नमूना)**

† Conditional.

प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो। प्रस्तुत प्रसग मे वह घटना, चीज, परिस्थिति या बात पूर्व-पद कही जायगी जो बाद की वैसी ही किसी और घटना, चीज, परिस्थिति या बात की उत्पादक या जनक हो। इसी दृष्टि से हम पूर्व-पद को पूर्व-वर्त्ती भी कह सकते हैं, और तब इसका विपर्याय पर-वर्त्ती होगा*। हम कहते हैं—हम किसी घटना या बात का ठीक रूप तभी जान या बतला सकते हैं, जब हम उसके पूर्व-पद से भी परिचित हों, अथवा—पुराने जमाने की बैल-गाडियाँ और छकड़े ही आज कल की मोटरो के पूर्व-पद हैं। अर्थ और आशय के विचार से भी और प्रयोग के विचार से भी पूर्विका† विधिक क्षेत्र का शब्द है, पर सार्विक बातो मे भी इसका प्रयोग होता ही है। पूर्विका मुख्यत पहले की वह घटना, चीज या बात कहलाती है, जिसके आदर्श या आधार पर बाद मे होनेवाली कोई घटना, चीज या बात भी नियम, विधि आदि की दृष्टि से घटित हो सकती या ठीक मानी जा सकती हो अथवा कार्य क्षेत्र मे आ सकती या बलवत् हो सकती हो। इसका प्रयोग प्राय ऐसे प्रसगो मे होता है जिनके सम्बन्ध मे नियम या विधान मे कोई स्पष्ट समर्थन या स्वीकृति नहीं दिखाई देती। इसे भी हम एक प्रकार से ऐसा दृष्टान्त कह सकते ह, जिसके आधार पर बाद मे किया जानेवाला कोई काम या बात नियमित और वैध ठहर सकती हो। न्यायालयो मे जहाँ किसी बात का विधि-विधान मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता, वहाँ कहा जाता है—अपने पक्ष के समर्थन मे

---

* यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पूर्व-वर्त्ती और पर-वर्त्ती केवल विशेषण हैं, पर जहाँ सज्ञा की आवश्यकता होगी, वहाँ पूर्व-पद और उत्तर-पद (अथवा उत्तराधिकारी) का ही प्रयोग करना पडेगा। दूसरे, यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पूर्व-पद और उत्तर-पद में तो कारणिक अथवा और किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी होता है, परन्तु पूर्व-वर्त्ती और पर-वर्त्ती में काल-क्रम के सिवा और किसी प्रकार का सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। ये विशेषण केवल काल-क्रम के सूचक हैं, किसी और प्रकार के सम्बन्ध के नहीं।

† इसका अरबी समानक 'नजीर' हिन्दी में मुख्यत विधिक तथा वैधानिक क्षेत्रों में प्रचलित है।

कोई पूर्विका दिखलाइए। आशय यही होता है कि यह बतलाइए कि पहले ऐसा कब हुआ था। और बहुधा इसी तरह की **पूर्विका** (या पूर्विकाओं) के आधार पर निर्णय भी होते हैं। **प्रघटन** स० घटन मे प्र उपसर्ग लगाकर बनाया हुआ नया शब्द है*। इसका शब्दार्थ होगा—विशिष्ट रूप से घटित होने की क्रिया या भाव। प्रयोग के विचार से यह ऐसे कार्य, घटना, परिस्थिति या स्थिति का वाचक है जो वस्तुत उपस्थित या घटित हुई हो और जो किसी प्रकार के अध्ययन, अनुसन्धान, निर्णय, विचार आदि की अपेक्षा रखती हो, अथवा किसी कार्य, घटना आदि की प्रत्यक्ष सक्रियता दिखलाती हो। जैसे—(क) आज-कल नगरों में चोरियो के और देहातो मे डाको तथा लूट-पाट और हत्या के अनेक **प्रघटन** होते रहते हैं। (ख) चिकित्सा शास्त्र के विद्यार्थियों को ग्रन्थों का अध्ययन करने के सिवा अनेक प्रकार के रोगों (या रोगियो) के **प्रघटन** भी देखने और समझने पड़ते हैं। अथवा (ग) इधर कुछ दिनो से भारत मे प्लेग के **प्रघटन** अपेक्षया कम होने लगे हैं आदि।

धमकी (Threat)

गीदड़-भभकी=भभकी	**धौंस** (Brow-beating)
तर्जन (Intimidation)	**बन्दर-घुड़की=भभकी**
धुप्पल, धुप्पस (Bluff)	**भभकी**

इस वर्ग के शब्द उन क्रियाओ या बातों के सूचक हैं जो किसी को उसके कार्यों के भावी हानिकारक परिणामो से भयमीत करके दबाने अथवा किसी विरोधी

---

* अभी तक इससे अच्छा और कोई शब्द मेरे ध्यान में नही आया, इसलिए अं० केस (Cars) की व्युत्पत्ति का ध्यान रखते हुए मैं यही शब्द विचारार्थ भी और प्रयोगार्थ भी उपस्थित कर रहा हूँ।

को अपने अनुकूल या वश मे करने के उद्देश्य से अपने बल-प्रदर्शन के रूप मे की या कही जाती हैं। इनमे से **धमकी** और **धौंस** दोनों स० धम् धातु से व्युत्पन्न हैं। धम् का अर्थ है—कोई क्रिया सम्पन्न करने (जैसे आग सुलगाने या शंख बजाने) के लिए मुँह की हवा जोर से बाहर निकालना। हिं० के धमकना (किसी पर जुरमाना धमकना) धौंकना (भाथी से आग सुलगाना) आदि शब्द इसी धम् से बने हैं। **धमकी** का आर्थ सम्बन्ध भी धमकना और धौंकना से है, भले ही यह सम्बन्ध दूर का हो। जब कोई व्यक्ति कुछ अनुचित या नियम-विरुद्ध कार्य करता अथवा हमारे विरुद्ध खडा होकर हमे हानि पहुँचाना चाहता है, तब हम उससे कहते हैं—यदि तुम ठीक तरह से आचरण या व्यवहार न करोगे अथवा सीधे रास्ते पर न आओगे, तो हम तुम्हे अमुक दण्ड देंगे अथवा अमुक प्रकार से तुम्हारी भी हानि करेंगे। इस प्रकार की बात कहना ही मूलत **धमकी** है। अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को और माता-पिता अपने लडकों को **धमकी** देते हैं कि यदि भविष्य मे तुम फिर ऐसा अनुचित काम करोगे तो तुम्हे दण्ड दिया जायगा। इसका उद्देश्य किसी को ठीक रास्ते पर लाना होता है—उचित मार्ग दिखलाना होता है। **तर्जन** का अर्थ है--डर या भय दिखाना या डराना। इसी से अँगूठे के बादवाली उँगली का नाम तर्जनी पडा है, क्योकि डराने-धमकाने के समय वही उँगली खडी करके धमकी दी जाती है। पर प्रस्तुत प्रसग मे इसका अर्थ है—अपना काम निकालने के लिए किसी को डराकर उसे अपने वश मे करने का प्रयत्न करना। इसमे एक तो स्वार्थ का (और वह भी प्राय अनुचित रूप से) और दूसरे किसी के मन मे भय के सचार का भाव प्रधान है। जब उपद्रवियों की भीड पर पुलिस गोलियाँ न चलाकर झूठ-मूठ बन्दूके दागती और सिर्फ कोरी आवाजें करती है, तब उसका उद्देश्य **तर्जन** ही होता है। वह लोगों के मन मे भय उत्पन्न करके उन्हे तितर-बितर करना चाहती है। यदि कोई अपना दुष्ट उद्देश्य सिद्ध करने के लिए हमसे झूठ-मूठ कहे कि तुम्हारे यहाँ हमारे बीस हजार रुपये निकलते हैं, और अपने मित्रों को इस सम्बन्ध के जाली और झूठे कागज-पत्र दिखाता फिरे तो हम कहेगे—यह सब उसका **तर्जन** मात्र है। तर्जित व्यक्ति पर इसका बौद्धिक या इन्द्रिय-जन्य परिणाम होता है।

गुण्डे प्राय स्त्रियो का सतीत्व नष्ट करने के लिए और डाकू लोगों का माल लूटने के लिए पिस्तौल दिखाकर उन्हे **तर्जित** करते हैं। **धौंस** वस्तुत **धमकी** और **तर्जन** के बीच की चीज है, और प्रयोग के विचार से इन दोनों से हलके भाव की सूचक है। इसका प्रयोग और परिणाम दोनो प्राय क्षणिक या अल्प-स्थायी होते हैं। उद्दण्डतापूर्वक किसी को अपने सामने तुच्छ या दुर्बल ठहराते हुए **धमकी** या **तर्जन** की जो छोटी-मोटी बात कही जाती है, वही **धौस** कहलाती है। इसका मुख्य उद्देश्य होता है—किसी को उसकी दुर्बलता का भान कराके उससे अपना मतलब निकालना। हम कहते हैं –इस तरह की **धौस** मे आकर भला हम अपना मकान उसे दे देंगे या उसके सामने सिर झुकावेगे। **धुप्पल** या **धुप्पस** भी है तो बहुत-कुछ **धौंस** की ही तरह की चीज, पर इसमे किसी को धोखा देकर आतकित करने या उसकी आँखों मे धूल झोंककर अपना काम निकालने का भाव मुख्य है। प्रतियोगिता सम्बन्धी कार्यों या बातो और मुख्यत कई प्रकार के जूए के खेलों मे प्राय लोग चालाकी से अपना पक्ष प्रबल सिद्ध करके दूसरे पक्ष को दबाने या हराने का जो प्रयत्न करते हैं, उसकी गिनती **धुप्पस** मे ही होती है। **गीदड़-भभकी** और **बन्दर घुड़की** दोनों बहुत-कुछ एक हैं, और बोल-चाल मे दोनों का काम खाली **भभकी** से चलता है। **भभकी** हिन्दी की अनुकरणवाचक भभकना (=आवेश या वेगपूर्वक रह रहकर ऊपर उठना, जैसे आग भभकना) क्रिया का भाव-वाचक रूप है। इसका प्रयोग प्राय ऐसी आवेश-पूर्ण **धमकी** या **धौंस** के सम्बन्ध मे होता है जिसके मूल मे वास्तविक बल बहुत ही कम हो। गीदड और बन्दर प्राय किसी को सामने देखकर अपने झूठे क्रोध और बल के आधार पर डराकर भगाने का प्रयत्न करते हैं। यदि डटकर उनका सामना किया जाय और कुछ अधिक बल या साहस दिखाया जाय, तो वे स्वय डरकर हट या भाग जाते हैं। गीदडो और बन्दरो की तरह का ऐसा ही दिखावटी क्रोध-प्रदर्शन **भभकी** कहलाता है। इसी लिए प्राय कहा जाता है—ऐसी **भभकियाँ** किसी और को दिखाना, यहाँ कोई तुमसे डरनेवाला नहीं है।

नमूना (Specimen)

बानगी (Sample)

नमूना फा० नमून * का हिन्दी रूप है जो अपने मूल अर्थ मे हमारे यहाँ बहुत प्रचलित है। **बानगी** हिन्दी के उस बाना (स० वार्ण) से बना है, जिसके अर्थ हैं—(क) कुछ विशिष्ट प्रकार का पहनावा, (ख) पद, मर्यादा आदि के अनुरूप अवस्था या स्थिति, और (ग) रग-ढग, रीति आदि । यद्यपि हमारे यहाँ **नमूना** और **बानगी** मे अर्थ के विचार से कोई विशेष अन्तर नहीं माना जाता, पर प्रयोग के विचार से इतना ही अन्तर कहा जा सकता है कि **नमूना** तो लोक-व्यवहार का बहुत प्रचलित और इधर हाल का शब्द है, और **बानगी** हमारे यहाँ का पुराना और महाजनी बोल-चाल का शब्द है, जो बहुत-कुछ मरता हुआ-सा जान पडता है। अँगरेजी के उक्त दोनो शब्दों के अर्थों और प्रयोगो के विचार से हिन्दी मे भी कुछ वैसे ही अन्तर देखने मे आते हैं। हमारे यहाँ **बानगी** वह थोड़ी-सी चीज कहलाती है जो किसी बहुत बडी राशि मे से निकालकर दिखाई जाती है। अनाज बेचनेवाले गेहूँ, चावल आदि के बोरो मे से थोडा-सा गेहूँ या चावल निकालकर उसकी **बानगी** दिखाते हैं, और घी-तेल आदि बेचनेवाले कनस्तरों मे से इन चीजों की **बानगी** ग्राहकों को देते हैं। इसी आधार पर हम तरह-तरह के कपडो के उन छोटे टुकडो को भी **बानगी** ही कहेगे, जो कपडों के कल-कारखानेवाले अपने बडे-बडे ग्राहक व्यापारियों के पास उन्हे अपने यहाँ तैयार माल का रूप-रग आदि दिखाने के लिए भेजते हैं। भले ही बोल-चाल मे ऐसे टुकडे भी **नमूना** कहलाते हो, फिर भी आर्थी स्पष्टता और पार्थक्य के विचार से उन्हें **बानगी** कहना ही ठीक होगा। किसी चीज की **बानगी** से उस सारी चीज के रूप-रग, गुण, विशेषता आदि का पूरा पता चल जाता है। **नमूना**

* यह फारसी के उस नमू शब्द से बना है, जिसका अर्थ है—उठ या उभरकर सामने आना। इसी नमू से फारसी के नमूद (उठान, उभार) और नमूदार (उदित, दृष्टि-गत, प्रकट) शब्द बने है।

प्राय एक ही प्रकार की बहुत-सी चीजों मे से किसी एक चीज के रूप में होता है, और उस वर्ग की सब चीजो का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। **बानगी** तो सदा किसी वस्तु का अश या खण्ड होती है, इसलिए उसके आधार पर जल्दी कोई धोखा नही हो सकता, क्योंकि यह बात निश्चित होती है कि किसी चीज की जैसी **बानगी** होगी, वैसी ही वह चीज भी होगी। पर **नमूना** केवल किसी वस्तु-वर्ग की परिचायक इकाई मात्र होती है, और कुछ अवस्थाओं मे उस वस्तु से बहुत कुछ भिन्न भी हो सकती है, जिसका वह प्रतिनिधित्व करती है। हम बक मे अपने हस्ताक्षर का जो **नमूना** भेजते हैं, वह हमारे हस्ताक्षर का कोई अश या खण्ड नहीं होता, उसके प्रकार मात्र का सूचक एक रूप होता है। हम कहते हैं—हम अपनी पुस्तक की एक प्रति आपके पास **नमूने** के तौर पर भेजते हैं। हो सकता है कि हमने नमूने के तौर पर १०–२० प्रतियाँ अच्छे कागज पर छपा ली हो, और बाकी प्रतियाँ रद्दी कागज पर छपाई हों। पर जब कहते हैं—'अब जरा इस पुस्तक की कविताओं की **बानगी** देखिए।' तब हम उस समूची पुस्तक या उसमे की कविताओं कुछ अश ही आपके सामने रखते हैं, और उस **बानगी** के आधार पर यह आशा की जाती है कि पुस्तक मे दी हुई शेष कविताएँ भी वैसी ही होंगी। इन्हीं दृष्टियों तथा विचारो से **नमूना** और **बानगी** के ठीक प्रयोग होने चाहिएँ। अपने विस्तृत अर्थ मे **नमूना** का प्रयोग उस रूप मे भी होता है, जिसे हमारे यहाँ उदाहरण कहते हैं। (दे०—'दृष्टान्त' के अन्तर्गत 'उदाहरण')

नारी (Woman)

अबला	**महिला** (Lady)
कान्ता	**वामा**
कामिनी (Belle)	**सुन्दरी=कामिनी**
बाला	**स्त्री** (Female)

नारी स० नर (पुरुष) का स्त्रीलिंग रूप है, और प्राय स्त्री का पर्याय माना जाता है। पर इसका प्रयोग मनुष्य जाति की सभी स्त्रियो के सम्बन्ध मे और मुख्यत युवती तथा वयस्क स्त्रियों के सम्बन्ध मे होता है। जैसे—दया, प्रेम, लज्जा आदि गुण **नारी** के भूषण हैं, अथवा **नारी** घर का शृ गार है। **अबला** स० अबल का स्त्री० रूप है, जिसका अर्थ है—बल से रहित या शक्ति से हीन। स्त्रियाँ स्वभावत पुरुषो की तुलना मे असमर्थ या दुर्बल मानी जाती हैं, और **अबला** उनकी इसी दुर्बलता का सूचक है। पर कहीं-कहीं यह शब्द नारी और स्त्री का पर्याय भी मान लिया जाता है। जैसे—अबला यत्र प्रबला । **कान्ता** स० कान्त का स्त्री० है जिसके अर्थ हैं—प्रिय, प्रेमयुक्त, सुन्दर आदि। अत **कान्ता** का अर्थ होता है—प्रेम करनेवाली सुन्दर स्त्री। कान्त का एक अर्थ पति भी होता है, अत **कान्ता** का अर्थ पत्नी भी है। **कामिनी** स० कामिन् का स्त्री० है जिसका पहला अर्थ है—कामना करनेवाला; और दूसरा अर्थ है—अनुराग या प्रेम करनेवाला। अर्थ की दृष्टि से **कामिनी** भी प्रेम करनेवाली अथवा प्रेम की पात्री **सुन्दरी** का वाचक है। **बाला** स० बाल का स्त्री० है, जिसका अर्थ है—बालक या लड़का। **बाला** साधारणत ऐसी स्त्री को कहते हैं जिसकी अवस्था १५-१६ वर्ष के लगभग हो। **वामा** स० वाम का स्त्री० है, जिसका पहला अर्थ है—बायाँ (दाहिना का विपर्याय), और दूसरा अर्थ है—प्रिय, मनोहर, सुन्दर आदि। स्त्रियाँ आकर्षक और सुन्दर तो होती ही हैं, वे पुरुषों के साथ उनकी बाईं ओर बैठती या रहती भी हैं। इसी लिए **वामा** भी सुन्दर स्त्री का ही वाचक है। **महिला** है तो मूलत नारी या स्त्री का वाचक शब्द ही, पर अब यह विशिष्ट

रूप से भले घर की ऐसी स्त्रियो का वाचक हो गया है जो कुल, शील, प्रतिष्ठा, सस्कृति आदि के विचार से श्रेष्ठ हो और जिनका समाज मे अच्छा आदर हो। **स्त्री** शब्द की व्युत्पत्ति सम्भवत सूत्री या सोत्रो से है, जिसका अर्थ होता है—प्रसव करने अथवा सन्तान उत्पन्न करनेवाली। **नारी** की ही तरह **स्त्री** का प्रयोग भी सामूहिक और सार्विक रूप मे होता है। जैसे—स्वतन्त्रता के आन्दोलन मे स्त्रियो ने भी अच्छी सहायता की थी। इसमे एक और अर्थ भी लगा है जो जाति मात्र का सूचक है। यह पशुओ, वनस्पतियो आदि के भी उस लिंग या प्रकार का सूचक है जो मुख्यत प्रसव का काम करता है। जैसे—सिंह जाति की मादा या सिहनी को हम स्त्री-सिंह भी कह लेते हैं, और फूलों, वृक्षो आदि के सम्बन्ध मे हम कहते हैं—यह स्त्री जाति का फूल (या वृक्ष) है। बोल-चाल मे **स्त्री** शब्द प्राय पत्नी या भार्या का भी वाचक हो गया है। ऐसे अवसर पर **स्त्री** के पहले सम्बन्ध-वाचक विभक्ति या विशेषण भी लगता है। जैसे—प० श्यामलाल की स्त्री, अथवा—इस बार यात्रा मे वे अपनी स्त्री को भी साथ लेते गये हैं।

———

निन्दा (Censure)

घुड़की
झिड़की (Chide)
डाँट (Rebuke)
डाँट-फटकार
ताड़ना (Admonition)
दोषारोपण
भर्त्सना (Reproval)

निन्दा (अर्थ की दृष्टि से) प्रशसा का विपर्याय है। जिस तरह कोई अच्छा काम करने पर मनुष्य की प्रशसा होती है, उसी तरह बुरा काम करने पर उसकी निन्दा होती है। यह स्वय उस व्यक्ति की भी हो सकती है, और उसके अनुचित

काम की भी। यदि कोई उद्दड बालक अपने माता-पिता के साथ अनुचित व्यवहार करे अथवा कोई व्यक्ति अपने किसी उपकारक के साथ विश्वास-घात करे, तो ऐसी अनुचित बातो के लिए वह दूसरो की दृष्टि मे दोषी समझा जायगा, और ऐसे अनुचित व्यवहारो या दोषो की लोक मे जो अप्रिय, कटु और तीव्र चर्चा होगी, वही उस दोषी व्यक्ति की **निन्दा** कही जायगी। यदि कोई अधिकारी कोई अनुचित, अन्यायपूर्ण या नियम-विरुद्ध कार्य करता रहे, तो लोक मे उसकी भी **निन्दा** होगी*। किसी व्यक्ति या उसके काम की **निन्दा** उसके मुँह पर भी हो सकती है और पीठ पीछे भी। **घुडकी** और **झिड़की**† हैं तो एक ही वर्ग के शब्द, पर **घुडकी** से **झिडकी** अधिक उग्र और कटु होती है। इनका प्रयोग प्राय अधीनस्थो और छोटो के लिए (उनके कोई अनुचित काम करने पर) होता है। **घुड़की** प्राय. अनुचित काम होते रहने अथवा औचित्य की सीमा का उल्लघन करने की दशा में उसे रोकने के लिए और **झिड़की** प्राय अनुचित काम हो जाने के उपरान्त उसकी सूचना मिलने पर भविष्य मे सचेत रहने के लिए दी जाती है। पर दोनो का उद्देश्य असन्तोष और रोष प्रकट करना ही होता है। **डाँट** और **डाँट-फटकार** भी हैं तो प्राय एक ही, पर **डाँट** से **डाँट-फटकार** अधिक उग्र होती हैं, और उसमे डाँट की अपेक्षा कुछ और अप्रिय तथा कठोर बाते भी होती हैं। **डाँट** तो घुडकी का कुछ उग्र और बढा हुआ रूप है, और **डाँट-फटकार** **भिडकी** का। दोनो का स्वरूप प्राय आधिकारिक और प्रयोग प्राय वयस्क अधीनस्थो के प्रति होता है। यदि हमारा नौकर हमारे किसी पडोसी या मित्र के साथ कोई साधारण अनुचित व्यवहार करे तो उसे **डाँट** सुननी पडेगी, और यदि वह बराबर कई तरह के अनुचित व्यवहार करता रहे तो वह **डाँट-**

*** प्राय· सभा-समितियों में ऐसे अनुचित कार्यों का खुलकर विरोध भी किया जाता है और दोषी के सम्बन्ध में निन्दात्मक प्रस्ताव भी उपस्थित किया जाता है, जिसे निन्दा का प्रस्ताव (वोट ऑफ सेन्सर) कहते हैं।**

† ये दोनो शब्द अनुकरण-वाचक हैं और क्रमात् घुड़कना तथा झिड़कना के भाव-वाचक रूप हैं।

फटकार का पात्र हो जायगा। **डॉट** मे केवल दबाने और रोकने का भाव है, पर **डॉट-फटकार** मे कुछ तिरस्कार भी सम्मिलित रहता है। **ताडना** भी है तो इसी वर्ग मे, पर उसमे कुछ तो कठोरता कम होती है और कुछ सचेत रहने का और कुछ परामर्श का भी भाव मुख्य होता है। इसका उद्देश्य भी अप्रसन्नता प्रकट करने के साथ साथ कर्त्तव्य-पालन की ओर ध्यान आकृष्ट करना ही होता है। **भर्त्सना** इस वर्ग मे सबसे अधिक उग्रता, कठोरता और रोष का सूचक शब्द है। यह स० भर्त्स् से बना है, जिसके अर्थ हैं—डराना, धमकाना आदि। इसका प्रयोग प्राय बहुत अधिक अनुचित काम करने पर होता है। यह **डॉट-फटकार** का ऐसा आगे बढा हुआ रूप है जिसमे **निन्दा** के साथ **घुड़की** और **झिडकी** भी मिली रहती हैं। इसमे कुछ धमकी (दे०—धमकी) भी मिली रहती है, और इसका आशय यह होता है कि यदि भविष्य मे ध्यान न रखोगे या फिर ऐसा अनुचित काम करोगे, तो तुम्हें कठोर दड दिया जायगा। **दोषारोपण** (स० दोष+आरोपण) भी बहुत कुछ वही है जो अभियोजन (देखें) है, पर कई दृष्टियो से यह अभियोजन से कुछ हलके भाव का सूचक है। शब्दार्थ की दृष्टि से यह किसी पर कोई दोष लगाना भर है। यह सच्चा भी हो सकता है और झूठा भी। इसका उद्देश्य कुछ दड दिलाना भी हो सकता है और केवल अपमानित, कलकित या लज्जित करना भी।

नियमित (Regular)

ठेठ=प्ररूपी

प्रकृत (Natural)

प्ररूपी (Typical)

प्रसम (Normal)

प्राकृतिक=प्रकृत

नियमित का शब्दार्थ है—नियम से बॅधा या बाँधा हुआ। जिस बात या विषय के सम्बन्ध मे कुछ नियम बने हो अथवा जो बात साधारणत किसी नियम

या बन्धेज से होती हो, वही **नियमित** है। कर्मचारी **नियमित** रूप से कार्यालय जाते और वहाँ अपना काम करते हैं; ग्वाला **नियमित** रूप से अपने ग्राहकों के घर दूध पहुँचाता है, और डाक, रेल, हवाई जहाज आदि **नियमित** रूप से आते-जाते रहते हैं। इन सबके सम्बन्ध मे पहले से जो बाते निश्चित होती हैं, उन्हीं के अनुसार जब इनके सब काम ठीक तरह से, समय पर लगातार होते रहते हैं, तब वे **नियमित** कहलाते हैं। **प्रकृत** वह है जो प्रकृति* के अनुसार हो, अर्थात् जो सदा से समान रूप मे होता आया हो और जिसका सदा समान रूप मे घटित होना अनिवार्य हो। (कभी किसी विशिष्ट कारण से ऐसा न होने पर वह अ-प्रकृत कहलावेगा।) अपने बाल-बच्चों का पालन-पोषण करना प्राय सभी प्राणियों का **प्रकृत** धर्म है—इसके लिए उनकी प्रकृति ही उन्हें प्रेरित और बाध्य करती है। हम गरमी, सरदी, कष्ट, सकट आदि से **प्रकृत** रूप से बचना चाहते हैं, और कुत्ते, बिल्ली, शेर आदि का **प्रकृत** भोजन मास है। **प्ररूपी** वह है जो अपनी जाति या वर्ग की सभी वस्तुओ मे प्रकृत (अर्थात् सबमे समान) रूप से पाये जानेवाले आकार-प्रकार, रूप-रग, विशिष्टताओं आदि के ठीक अनुरूप हो। हम कहते हैं—अमुक श्लोक कालिदास की शैली का **प्ररूपी** उदाहरण है। आशय यही होता है कि कालिदास के समस्त काव्य-साहित्य मे जो विशेषाएँ मिलती हैं, प्राय उन सबसे यह श्लोक युक्त है। **प्ररूपी** के लिए हमारे यहाँ का पुराना शब्द **ठेठ** है। **ठेठ** बनारसी बोली का अर्थ है—बनारस की वह बोली जो साधारणत बनारस मे हो चलती हो या चली आ रही हो। **ठेठ** या **प्ररूपी** जगली या पहाडी वही कहलावेगा जिसमे वे सभी बाते या विशेषताएँ हों जो साधारणत सभी जगलियो या पहाडियो मे समानयत पाई जाती हैं। **प्रसम** (विपर्याय-अप्रसम) वह है जो अपनी सगत और साधारण अवस्था, स्थिति आदि

* यहाँ प्रकृति शब्द अपने व्यापक अर्थ में आया है। प्रत्येक वस्तु या बात मे कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं जो उसमें सदा समान रूप से पाये जाते हैं और जिनमें कभी कोई अन्तर या परिवर्तन नहीं होता। यही सब मूल तत्त्व उसकी प्रकृति कहलाते हैं।

मे ही हो—विशेष घटा-बढा या इधर-उधर हटा हुआ न हो। **प्रकृत** और **प्रसम** मे अन्तर यह है कि **प्रकृत** तो सदा एक-रस रहता है; और उसमे अन्तर या भेद के लिए कदाचित् ही कोई अवकाश रहता हो। पर **प्रसम** का क्षेत्र अपेक्षया परिमित होता है, और उसमे कुछ अन्तर या भेद भी देखने मे आते हैं। पूस-माघ मे जाडा प्रकृत रूप से पडता है। यह हो ही नहीं सकता कि पूस-माघ मे जाडा न पड़े। पर साधारणत हर साल पूस-माघ मे जितना जाडा पडता हुआ हम देखते हैं, वही हमारे लिए **प्रसम** होता है। हो सकता है कि किसी साल जाडा कुछ अधिक हो या कम। उस दशा मे हम कहेगे—इस साल सरदी **अप्रसम** है, अर्थात् साधारणत हर साल जितनी या जैसी सरदी पडती थी, उससे इस साल कुछ अधिक (या कम) है। (विशेष दे०—'माध्य' के अन्तर्गत 'प्रसमा')

निषेध (Forbiding)

निरोध (Restraint) **वर्जन = प्रतिषेध**
निवारण (Prevention) **वारण** (Banning)
प्रतिबन्ध (Restriction) **रुकावट**
प्रतिषेध (Prohibition) **रोक-थाम=निवारण**
मनाही=१. निषेध, २. वारण

इस वर्ग के शब्द किसी व्यक्ति को कोई काम करने, किसी चीज का उपयोग या व्यवहार करने, कही आने-जाने अथवा ऐसा ही कोई आचरण करने से रोकने के वाचक हैं। इनमे से **निषेध** और **प्रतिषेध** बहुत कुछ एक ही भाव के सूचक तथा प्राय समानक हैं। अन्तर यही है कि **निषेध** का प्रयोग साधारण लोक-व्यवहार मे और कुछ व्यापक अर्थ मे तथा **प्रतिषेध** का प्रयोग प्राय विधिक क्षेत्रों में और कुछ परिमित अर्थ मे होता है। दोनो का आशय यही है कि कुछ विशिष्ट

कारण-वश अथवा परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए किसी को कोई काम करने से अधिकार-पूर्वक रोका या मना किया जाता है। शास्त्रो मे नीति-विरुद्ध काम करने का **निषेध** होता है, और शासन प्राय स्वास्थ्य को हानि पहुँचानेवाली वस्तुओ के व्यवहार का **प्रतिषेध** करता है। महत्त्व की दृष्टि से **प्रतिषेध** की तुलना मे **निषेध** का स्थान पहला पडता है, उसमे आज्ञा के पालन का भाव अपेक्षया अधिक प्रबल है। माता-पिता अपने बच्चो को दुष्ट व्यक्तियो या बुरे कामों से बचने की जो आज्ञा देते हैं, वह **निषेध** है। आज-कल सिनेमा-घरो मे बीडी, सिगरेट आदि पीने का **निषेध** है। आशा यही की जाती है कि ऐसे **निषेधों** का दृढता-पूर्वक और पूरा पालन होगा। **प्रतिषेध** साधारणत **निषेध** से कुछ शिथिल और हलका है। सार्व-राष्ट्रीय अभिसमयो और विधानों मे युद्ध-काल में नगरों पर बम बरसाने का और नगर-पालिकाओं की ओर से सडकों पर चौपाये खुले छोड़ने का **प्रतिषेध** होता है। पर ऐसे **प्रतिषेध** न तो जल्दी कठोरता-पूर्वक बलवत् किये जाते हैं, न उनका उतना अधिक ध्यान रखा जाता है, जितना **निषेध** सम्बन्धी आज्ञाओं के पालन का रखा जाता है। हम कहते हैं—भारतीय सविधान मे राज्यों को अमुक काम करने का अधिकार तो नहीं दिया गया है, पर उसका **प्रतिषेध** भी नहीं किया गया है। आशय यही होता है कि यदि कोई राज्य वह काम करना चाहे तो कर सकता है। **वर्जन** भी बहुत-कुछ वही है, जो **प्रतिषेध** है। इसमे भी आज्ञा-पालन पर उतना जोर नहीं है, जितना **निषेध** मे है*। **वारण** भी है तो बहुत-कुछ वही जो **निषेध** या **प्रतिषेध** है, फिर भी इसमे एक विशिष्ट भाव लगा है। **निषेध** और **प्रतिषेध** मे तो केवल रोकने का भाव प्रधान है; पर **वारण** मे उस काम या बात के दूषित या निन्दनीय होने का भाव प्रधान है, जिसके सम्बन्ध मे यह होता है। शासन की ओर से अश्लील चित्र या गन्दी पुस्तकें छापना अथवा राजद्रोहात्मक पुस्तकें बेचना **वारित** होता है। जिस प्रकार **प्रतिषेध** की तुलना मे **निषेध**

* 'बरजो जसोदा मैया अपने लाल को' में का बरजो (वर्जित करो) में साधारण रूप से रोकने या मना करने का ही भाव है, किसी प्रकार की कठोरता या दृढता दिखलाने का भाव नहीं है।

अधिक कठोर या तीव्र है, उसी प्रकार **निषेध** की तुलना मे **वारण** और भी अधिक उग्र या कठोर है। **वारणिक** आज्ञा का उल्लघन हमे दड का भागी बना सकता है। **मनाही** हिं० मना, (अरबी मनऽ) से बना हुआ उसका भाव-वाचक रूप है; और अपनी आर्थी शिथिलता के कारण **निषेध, प्रतिषेध** और **वारण** तीनो के स्थान पर प्रयुक्त होता है। **रुकावट** हिं० रुकना या रोकना का भाव-वाचक रूप है, और यह भी अर्थ तथा प्रयोग के विचार से **मनाही** की ही तरह अनियमित और शिथिल है। फिर भी इसमे उस बाधा का भाव प्रधान है जो बीच में आकर कोई चलता हुआ काम रोक देती है या उसका आगे बढना (चाहे थोडे ही समय के लिए हो) बन्द कर देती है। इस दृष्टि से यह **बाधा** का समानक है। (दे० 'बाधा' के अन्तर्गत 'रुकावट') हम कहते हैं—इस पुस्तक की तैयारी मे चारो ओर से तरह-तरह की **रुकावटें** सामने आईं। आशय यही होता है कि हमे परिस्थिति-वश बीच-बीच मे रुकना या ठहरना पडा। **प्रतिबन्ध** का साधारण अर्थ है—आगे की ओर से बँधना या बाँधना। इसमे किसी काम या बात के लिए कुछ ऐसी **मनाही** करने या **रुकावट** डालने का भाव मुख्य है जो उस काम या बात के लिए कोई क्षेत्र नियत या निर्धारित कर देती है, और उस क्षेत्र से बाहर निकलने के सम्बन्ध मे किसी प्रकार के **प्रतिषेध** का विधान करती है। जहाँ किसी काम या बात पर कोई **प्रतिबन्ध** लगता है, वहाँ किसी नियत या निश्चित क्षेत्र अथवा परिधि के अन्दर ही वह काम या बात करने की स्वतत्रता रहती है, उससे बाहर निकलने या होने की नहीं। शासन की ओर से कभी-कभी हमारे यहाँ प्राय दड-विधान की १४४ वीं धारा के अनुसार जलूस निकालने, भाषण या सभाएँ करने, सडकों पर लाठी-सोटा लेकर चलने आदि पर **प्रतिबन्ध** लगाया जाता है। आशय यही होता है कि सब लोग साधारण रूप से ही इधर उधर आ-जा सकते या आपस मे बात-चीत कर सकते हैं, इस क्षेत्र या परिधि के बाहर नहीं जा सकते। किसी प्रकार के बन्धन या बन्धनों की योजना ही **प्रतिबन्ध** है। **निरोध** मे भी रुकने या रोकने का ही भाव मुख्य है; पर यह किसी उत्कृष्ट अधिकार, बल या शक्ति के योग से होनेवाली **रुकावट** का सूचक है। किसी प्रकार के नियत्रण के द्वारा किसी बात को सीमित रखना और उस सीमा का उल्लघन न करने देना ही

उसका **निरोध** करना है। 'योगश्चित्त-वृत्ति निरोध' मे चित्त की वृत्तियों को बल-पूर्वक रोकने और सीमित रखने का भाव मुख्य है। **निवारण** भी होता तो है बहुत-कुछ वही जो **निरोध** है, फिर भी यह कुछ भिन्न और अपेक्षया हलके भाव का सूचक है। जब कोई अनिष्टकारक या आपत्तिजनक बात या विकट बाधा सामने आती या होती हुई दिखाई देती है, तब उसे आगे बढने से रोकने के लिए जो चेष्टा या प्रयत्न किया जाता है, वही वस्तुत **निवारण** है। हिन्दी मे इसे इसी लिए **रोक थाम** कहते हैं कि इसमे थाम (या पकड) कर रोकने का भाव मुख्य है। यद्यपि हिन्दी मे **निवारण** का प्रयोग बहुत दिनों से केवल दूर करने के अर्थ में होता आया है (जैसे—इस औषध से आपके रोग का **निवारण** हो जायगा), पर वास्तव मे यह **निवारण** शब्द के अर्थ का एक अश मात्र है। जब शरीर मे रोग आ लगा हो, तब केवल उसे अच्छा या दूर करने के अर्थ मे **निवारण** का प्रयोग (इस शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से) अनुचित तो नहीं है, फिर भी प्रयोग के विचार से और शब्द की आर्थी सीमा निर्धारित करने के लिए इसका वही अर्थ मानना चाहिए जो ऊपर बतलाया गया है। जिस समय नगर मे कोई छूतवाला या सक्रामक रोग फैलने की आशका या सम्भावना हो, उस समय कहा जायगा—नगर-पालिका की ओर से इसके **निवारण** के लिए पूरा प्रयत्न हो रहा है। आशय यही होगा कि ऐसा प्रयत्न हो रहा है जिसमें यह रोग फैल या बढकर भीषण रूप न धारण करने पावे।

नींद (Sleep)

उँघाई, ऊँघ (Doze) परिशयन (Hibernation)
झपकी (Nap, slumber) शयन (Sleeping)
तन्द्रा (Stupor) सुषुप्ति (Deep sleep)
निद्रा=नींद सोना (Sleep)

नींद (स० निद्रा) प्राणियों की वह स्थिति है, जिसमे वे बीच बीच मे और प्राय निश्चित समयों पर अपनी बाह्य चेतना और ज्ञान से रहित होकर चुपचाप पडे रहते हैं। दिन भर चलते-फिरते और काम धन्धा करते रहने से शरीर मे जो थकावट आती है, वह इस विश्राम से दूर हो जाती है और शरीर फिर से काम करने के योग्य हो जाता है। इसमे हमारी अनेक शारीरिक और स्नायविक क्रियाएँ पूर्ण रूप से या आशिक रूप मे बन्द हो जाती हैं, केवल हृदय की गति, रक्त का सचार और पाचन-सम्बन्धी भीतरी क्रियाएँ चलती रहती हैं। शारीरिक शक्तियों की क्षीणता और शिथिलता दूर करने का यह प्राकृतिक विधान है। इसी को हिन्दी मे **सोना*** और सस्कृत में **शयन** कहते हैं। साधारण अवस्था मे मनुष्य और पशु-पक्षी तथा आधुनिक खोजों के अनुसार पेड-पौधे और वनस्पतियाँ तक रात के समय ही सोती हैं, पर कुछ अवस्थाओं में मनुष्य और कुछ पशु-पक्षी बहुत थक जाने या बीमार पड़ने पर दिन मे भी कुछ समय तक सोते हैं। सोने की दशा में होना ही नींद लेना कहलाता है। यों तो मनुष्य सदा लेटकर ही सोता है, पर कुछ अवस्थाओं मे कुछ लोग (और कभी-कभी कुछ पशु-पक्षी) बैठे-बैठे ही निद्रा के वश मे होने लगते हैं। इस अवस्था मे उनका सिर रह-रहकर नीचे झुकने लगता, पर कुछ ही क्षणों में प्राय फिर ऊपर उठता रहता है। इस प्रकार थोडी और हलकी नींद मे होना ही उँघाई या ऊँघ है। ये दोनों शब्द स० अवाङ् मे व्युत्पन्न हैं, जिसका अर्थ है—नीचे की ओर सिर झुकना या होना। झपकी हिन्दी झपकना (आँख का) से बना हुआ उसका भाव-वाचक रूप है।

* हिन्दी का सोना स० शयन से ही व्युत्पन्न है।

लेटने पर थोडी देर के लिए आदमी को जो हलकी **नींद** आती है, वही **झपकी** कहलाती है। थोडी देर के लिए आँखे झपकना ही **झपकी** है। **तन्द्रा** यों तो बोल-चाल मे हलकी और थोडी **नींद** या **झपकी** को भी कह लेते हैं, पर वास्तव मे यह (तन्द्रा) हमारी वह शारीरिक निश्चेतन अवस्था है, जो बहुत अधिक दुर्बलता, रोग, विप के प्रभाव आदि के कारण उत्पन्न होती है। यह मन और शरीर दोनों के बहुत भारी और शिथिल हो जाने पर आती है, और इस बात की सूचक होती है कि आई हुई शारीरिक आपत्तियाँ सहने की मन और शरीर मे शक्ति नही रह गई है। यह भी हलकी **नींद** या झपकी के रूप मे ही होती है, और इसमे मनुष्य को थोडी सुध भी रहती है। यह बेहोशी और **नींद** के बीच की-सी दशा है। प्राय मरणासन्न रोगियो को मृत्यु के पहले थोड़ी-बहुत और एक या अनेक बार तन्द्रा आती है। **सुषुप्ति** का साधारण अर्थ है—गहरी नींद मे या खूब सोना। परन्तु योग शास्त्र मे यह चित्त की एक विशिष्ट प्रकार की अनुभूति या अवस्था मानी गई है, जिसमे योगाभ्यास के समय योगी को ब्रह्म का साक्षात्कार तो होता है, पर मन के सोये रहने के कारण उसे ब्रह्म की प्राप्ति का ज्ञान नहीं होने पाता। **परिशयन** कुछ विशिष्ट प्रकार के जीव-जन्तुओ की वह तन्द्रा या **निद्रा** वाली अवस्था है, जिसमे वे जाडे के दिनों मे, शीत के प्रभाव से बचे रहने के लिए, चुपचाप एक स्थान पर बिना खाये-पीये और बिना हिले-डुले पडे रहते हैं। सभी प्रकार के साँप जाडा आते ही जमीन के नीचे कुछ गहराई में जाकर और बरफीले देशों के रीछ गुफाओ मे छिपकर इसी प्रकार **परिशयन** करते हैं। **परिशयन** की यह क्रिया इनके सिवा और भी अनेक जीव-जन्तुओं में होती है। मेढक तो केवल बरसात में ऊपर आते हैं, बाकी ८ महीने वे मिट्टी के नीचे **परिशयन** करते हैं।

पकाना (Cooking)

उबालना (Boiling) **दम देना** (Steaming)
छौंकना (Spicing) **बघारना=छौंकना (आंशिक रूप में)**
तड़का देना = बघारना **भूनना** (Roasting)
तलना (Frying) **सेंकना** (Baking)

इस वर्ग के सब शब्द खाने-पीने की चीजों से सम्बन्ध रखनेवाली उन क्रियाओं के सूचक हैं जो आग की सहायता से वे चीजे तैयार करते समय की जाती हैं। साधारणत कोई चीज (बरतन मे) आग पर रखकर तैयार करना या बनाना **पकाना** कहलाता है। यह उसी स० पच् धातु से बना है, जिससे पक्व, पचन, पाचक आदि शब्द बने हैं। साधारणत पक्का करना ही **पकाना** है। रोटी, दाल, चावल तरकारी, खीर आदि सभी चीजे **पकाई** जाती हैं। कच्चे अन्न, तरकारी आदि को आग की सहायता से गलाकर खाने योग्य बनाना ही उन्हें **पकाना*** है। **उबालना** सं० उद्ज्वालन से व्युत्पन्न है। पानी में डालकर कोई चीज आग पर चढाना और उसे गलाना ही **उबालना** है। चावल तो साधारणत **उबाला** ही जाता है, कई तरह की तरकारियाँ और मास भी मसाले आदि डालने से पहले इसलिए **उबाले** जाते हैं कि वे गलकर मुलायम हो जायँ। खाली दूध तो **उबाला** जाता है, पर उसमें चावल डालकर खीर **पकाई** जाती है। ऊख के रस, गुड या चीनी के शरबत आदि मे भी चावल **उबाले** नहीं, बल्कि **पकाये** जाते हैं। **छौंकना** अनुकरण-वाचक शब्द है। कोई चीज कडाही मे या तवे पर डालने के समय जो छौं छौं या छायँ छायँ शब्द होता है, उसी से यह शब्द बना है। यह दो प्रकार का होता है। पहले प्रकार मे कड़ाही मे (या तवे पर) घी या तेल डालकर उसमें जीरा, मिर्च, हींग आदि मसाले डालकर उन्हे तलते हैं, और तब उसमे

*** आम, पपीते आदि फल भी कई तरह से पकाये जाते हैं, पर फलों का पकाना (Ripening) इस वर्ग में नहीं आता। ईंटें, मिट्टी के बरतन आदि भी पकाये जाते हैं, पर वे खाद्य वर्ग के बाहर हैं।**

तरकारी डालकर उसे कुछ देर तक भूनते हैं। दूसरे प्रकार मे पकी हुई दाल में उक्त प्रकार से कलछी, चम्मच आदि मे मसाले तलकर डाले या मिलाये जाते हैं, और तब तुरन्त ही दाल इसलिए ढक दी जाती है कि मसालो की महक दाल मे ही समा जाय, बाहर न निकलने पावे। **छौंकने** का यह दूसरा प्रकार ही **बघारना** या **तड़का देना** भी कहलाता है। **बघारना** (स० अवघ्रापण) का मूल अर्थ है-सुगंधित करना। कड़ाही में घी या तेल डालकर उसे तपाना और तब उसमे कोई चीज डालकर पकाना ही उसे **तलना** है। **तलना** या तो स० तरण से या तलन से बना होगा। स० मे कही कही 'तला हुआ' के अर्थ मे 'तलित' का भी प्रयोग मिलता है। कचौरी, पूरी, समोसे आदि **तलकर** ही बनाये जाते हैं। कभी-कभी कुछ तरकारियाँ भी पकाने से पहले इस प्रकार घी या तेल मे **तली** जाती हैं। जिन चीजों मे जल का अंश अधिक होता है, उन्हे केवल उनकी भाप की सहायता से पकाना **दम देना** है। जिन चीजों का जल का अंश सूख जाता है, उन्हें भी कुछ समय तक नीचे या ऊपर हलकी आँच रखकर **दम** दिया जाता है। **भूनना** स० भर्जन से व्युत्पन्न हैं। यह भी है तो एक प्रकार का **तलना** ही; पर **भूनने** मे उतना अधिक घी या तेल नहीं दिया जाता, जितना **तलने** में दिया जाता है; बल्कि उससे कम ही दिया जाता है। भाड मे चने, चावल, गेहूँ आदि अन्न बिना घी या तेल दिये केवल गरम बालू की सहायता से भी **भूने** जाते हैं। कभी-कभी बिना बरतन मे रखे यो ही आग पर रखकर और उलट-पुलटकर भी चीजें **भून** ली जाती हैं। यह **पकाने** का एक विशेष प्रकर मात्र है। **सेंकना** शब्द स० श्रेषण से बना है, जिसका अर्थ है—जलाना। जब कोई चीज केवल आग पर इस उद्देश्य से रखी जाय कि उसमे की आर्द्रता निकल जाय या पकने मे जो कसर रह गई हो, वह पूरी हो जाय, तो यह क्रिया **सेंकना*** कहलाती है। तवे पर रोटी

*** यों लोग जाडे में आग भी सेंकते हैं और धूप भी। ऐसे प्रसगों में इसका एक पर्याय 'तापना' भी है। बाजेवाले आनद्ध (चमड़े से मढे हुए) बाजे भी उनकी आवाज ऊँची करने के लिए आग के पास रखकर उन्हे सेकते हैं। आँखें सेंकना एक अलग मुहावरा है, जिसका आशय है—प्रेम से आर्द्र या शिथिल आँखों में गरमाहट या जान (सजीवता) लाना।**

पकाने के बाद रोटी जलते कोयलों पर **सेकी** जाती है। पर पाव-रोटी, बिस्कुट, नान, खताई आदि पकवान इसी प्रकार केवल **सेंककर** तैयार किये जाते हैं।

पर्याय (Synonym)

तदर्थी=समानक
पर्यायकी (Synonymy)
पर्यायज्ञ (Synonymist)
विपर्याय (Antonym)
समानक (Equivalent)
समानार्थी=समानक

पर्याय का पहला या मौलिक अर्थ है—चारों ओर चलना या घूमना। पर उसके और कई अर्थों मे मुख्य और सबसे अधिक प्रचलित अर्थ है—अर्थ की दृष्टि से कोई ऐसा शब्द जो उसी प्रकार का अर्थ रखनेवाले दूसरे शब्द के स्थान पर काम मे लाया जा सके। अर्थात् प्राय समान अर्थ रखनेवाले जो शब्द एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त हो सकते हो, वही एक दूसरे के **पर्याय** कहलाते हैं। परन्तु विचारपूर्वक देखने पर पता चलता है कि कदाचित् हो कुछ ऐसे शब्द हों जो अर्थ के विचार से किसी दूसरे शब्द के **पर्याय** कहे जा सके, क्योकि प्रत्येक शब्द का कुछ विशेष अर्थ और स्वतत्र आशय होता है। साधारणत सस्कृत के दिवाकर और प्रभाकर या ऐसे ही और अनेक शब्द इसी लिए सूर्य के **पर्याय** माने जाते हैं कि वे एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त हो सकते हैं। पर दिवाकर का अर्थ है—दिन करनेवाला, और प्रभाकर का अर्थ है—प्रकाश करनेवाला। ऐसे शब्द एक दूसरे के **पर्याय** माने जाने पर भी कभी **समानक*** या **समानार्थी** नहीं कहे जा

---

* अँग्रेजी के Equivalent के लिए हिन्दी में उपयुक्त शब्द समानक ही होगा, जो सभी अवसरो पर और प्राय सभी प्रसंगों में एक-सा और ठीक तरह से चलेगा, तदर्थी और समानार्थी तो केवल शब्दो के प्रसग मे चल सकते हैं।

सकते, क्योंकि इन का अर्थ है—वही या समान अर्थ रखनेवाला। एक दूसरे के **पर्याय** माने जानेवाले कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं, जिनके अर्थों का ठीक, ठीक अन्तर चाहे न बतलाया जा सके, तो भी दोनो के प्रयोगों मे अवश्य कुछ अन्तर होता है; और इसी लिए वे एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त नही हो सकते। हम यह तो कह सकते हैं—यह चीज हमारे काम की नहीं है, पर यह नहीं कह सकते—यह महारे कार्य या कर्म्म की नही है। फिर भी लोक-व्यवहार मे कुछ शब्द अपने अर्थ की बहुत कुछ समानता के आधार पर एक हो दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त होते ही हैं। हम कहते हैं—उनकी मृत्यु का समाचार सुनकर हमे बहुत दु ख हुआ। ऐसे अवसरों पर हम दु ख की जगह क्लेश, विषाद, सन्ताप आकि शब्दों का प्रयोग करके भी काम चला सकते और प्राय चलाते भी हैं, क्योंकि इनके अर्थों मे बहुत ही सूक्ष्म अन्तर हैं (दे०—दु ख)। ऐसे शब्द एक दूसरे के **पर्याय** तो मान लिये जाते हैं, पर **समानक** नही कहे जा सकते। यही से प्रयोग के विचार से **पर्याय** और **समानक** का अन्तर आरम्भ होता है। एक दूसरे की जगह प्रयुक्त हो सकने के विचार से ही यह भी कहा जा सकता है कि एक भाषा के शब्द आपस मे ही एक दूसरे के **पर्याय** होते हैं, किसी दूसरी भाषा के शब्द के **पर्याय** नहीं हो सकते। वारिधि, समुद्र और सागर इसी लिए एक दूसरे के **पर्याय** माने जा सकते हैं (और माने भी जाते हैं) कि ये किसी वाक्य मे एक दूसरे की जगह प्रयुक्त हो सकते हैं, पर अरबी बहर या अँगरेजी Ocean के **पर्याय** नही, बल्कि **समानक** या **तदर्थी** ही होंगे। स० या हिं० पवन को हम अरबी हवा या अँगरेजी एयर (Air) के वाचक होने के कारण **तदर्थी**, **समानक** या **समानार्थी** तो कह सकते हैं, परन्तु **पर्याय** नही कह सकते। **पर्याय** की तरह **समानक** का भी ऐसा प्रयोग केवल गौण या प्रचलित अर्थ के विचार से ही होगा, स्वय शब्दार्थ के विचार से नही। तात्पर्य यह कि एक भाषा के जो शब्द किसी एक काम, चीज, बात या भाव के वाचक या बोधक हो, वे एक दूसरे के **पर्याय** माने जायँगे, पर उसी काम, चीज, बात या भाव के वाचक या बोधक जो शब्द दूसरी भाषाओं के होंगे, वे एक दूसरे के **समानक** कहे जायँगे। **विपर्याय** शब्द पर्याय के विपरीत भाव का सूचक है। यह **पर्याय** मे वि उपसर्ग लगाकर बनाया गया

है*। किसी शब्द का विरोधी अर्थ या भाव सूचित करनेवाला शब्द उस शब्द का **विपर्याय** कहलाता है। ऐसा शब्द प्राय विपरीत या बुरे भाव का सूचक होता है। जैसे—नास्तिक, पाप और शत्रु शब्द क्रमात् आस्तिक, पुण्य और मित्र के **विपर्याय** हैं। पर जिन शब्दों या शब्द-युग्मों मे तुलनात्मक दृष्टि से अच्छाई और बुराईवाला कोई भाव नही होता, वे शब्द भी एक दूसरे के **विपर्याय** ही कहलाते हैं। जैसे—गद्य और पद्य अथवा दिन और रात आपस मे एक दूसरे के **विपर्याय** हैं।

पर्यायज्ञ वह कहलाता है जो **पर्यायो** और **समानक** शब्दों के सूक्ष्म अन्तरों का अध्ययन और विचार करके उनका विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करता अथवा दूसरों को वे अन्तर बतलाता है। **पर्यायकी**† का आशय है—पर्यायो के अर्थों के सूक्ष्म अन्तरों या भेदो का अध्ययन या इससे सम्बन्ध रखनेवाली और सब बातों का विचार जो एक विद्या या शास्त्र के रूप में माना जाने लगा है। यह भाषा-शास्त्र का नया अग या शाखा है। प्रस्तुत पुस्तक इसी शास्त्र की है। साधारणत सब पर्यायों अथवा पर्याय वर्गों को भी सामूहिक रूप से **पर्यायकी** कह सकते हैं।

———

*** विपर्याय शब्द पहले-पहल प्रामाणिक हिन्दी कोश के काम के लिए बनाया गया था। इससे पहले हिन्दी शब्द-सागर में इसका आशय सूचित करने के लिए 'विरोधी शब्द' का प्रयोग हुआ था, जो किसी तरह ठीक नहीं माना जा सकता।**

† पर्यायकी भी हिन्दी के 'गायकी' 'नायकी' (=नायक का भाव वाचक हिन्दी रूप) आदि शब्दों के अनुकरण पर इसी प्रसग के लिए नया गढ़ा हुआ शब्द है।

पाखण्ड (Hypocrisy)

आटोप=तड़क-भड़क	**ढोंग**
आडम्बर (Ostentation)	**तड़क-भड़क** (Pomp)
औपचारिकता (Formalism)	**दिखावट** (Show)
गर्वोक्ति (Boast)	**दुनियादारी**
डींग (Brag, Bravado)	**धर्म-ध्वजता** (Sanctimony)
ढंग=ढोंग	**बनावट** (Affectation)
ढकोसला	**शेखी**

पाखण्ड मूलत संस्कृत मे पाषण्ड है, जो हमारे यहाँ के धार्मिक समाज का उपेक्षा-सूचक शब्द है। प्राचीन भारत मे जो हिन्दू, जैन या बौद्ध अपने धर्म्म पर सच्ची निष्ठा तो नहीं रखते थे, पर लोगो को दिखलाने भर के लिए झूठ-मूठ और कुछ बढा-चढाकर धार्मिक आचार-व्यवहार करते थे, वे **पाखण्डी** या **धर्म-ध्वजी** कहलाते थे; और उनका ऐसा आचरण ही **पाखण्ड** कहलाता था। आज-कल **पाखण्ड** ऐसे सभी आचरणों और व्यवहारों का सूचक हो गया है, जिनमे मनुष्य वास्तव मे नीतिमान् और सत्यनिष्ठ न होने पर भी औरो के सामने अपने आपको नीतिमान् और सत्य-निष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहता है। यदि हमारा कोई सच्चा सिद्धान्त या मत तो हो ही नहीं, पर हम जगह-जगह किसी सच्चे सिद्धान्त या मत का ढोल पीटते फिरे या बाते तो ऊँची-ऊँची करे, पर अन्दर ही अन्दर अनुचित या नीति विरुद्ध आचरण भी करते रहे, तो हम **पाखण्डी** कहे जायँगे। अपना वास्तविक कलुषित या हीन रूप छिपाकर स्वार्थ-वश उसे शुद्ध और उच्च सिद्ध करने का प्रयत्न ही **पाखण्ड** है। पर इसमे वास्तविक आचरण का भाव गौण रहता है, प्रधानता उस रूप या व्यवहार की होती है, जो दूसरों को धोखे मे रखने के लिए दिखाये या किये जाते हैं। **पाखण्ड** का यही बाहरी रूप **आडम्बर** कहलाता है, पर यह आवश्यक नहीं है कि **आडम्बर** सदा **पाखण्ड** से सम्बद्ध ही हो। हम बिना **पाखण्ड** रचे भी **आडम्बर** खडा कर सकते हैं। उस

दशा में इसका उद्देश्य दूसरो की दृष्टि मे बड़े बनना और उनसे अपनी प्रशसा कराना होता है। जब अन्दर कुछ भी तत्त्व नही होता या बहुत कम तत्त्व होता है, पर बाहरी रूप इतना भव्य रखा जाता है कि लोग धोखे मे आ जायँ, तो वह बाहरी भव्य रूप ही **आडम्बर** कहलाता है। यदि किसी बड़े रईस की सम्पत्ति तो उसके हाथ से निकल गई हो, पर वह अपनी बाहरी ठाठ-बाट और रूप-रग पहले की तरह ही बनाये रखे, तो हम कहेगे—यह इनका **आडम्बर** ही है। यदि हम मे विद्या-बुद्धि तो बहुत कम हो, पर हम किसी प्रकार बड़े-बड़े विद्वानों की सभाओ मे पहुँचकर उनके साथ उठे बैठे और उन्हीं की तरह आचार-व्यवहार करे या सदा दो-चार आदमियों को अपने शिष्यो और अनुयायियो के रूप में साथ लेकर इधर-उधर आया-जाया करे, तो यह भी हमारा **आडम्बर** ही होगा, क्योंकि इसका उद्देश्य दूसरो की दृष्टि मे अपना महत्त्व स्थापित करने के सिवा और कुछ न होगा। **आटोप** या **तड़क-भडक** भी बहुत-कुछ है तो वही, जो **आडम्बर** है, फिर भी उससे कुछ भिन्न अवश्य है। **आडम्बर** प्राय निस्सार ही होता है, पर **आटोप** या **तड़क-भडक** के मूल मे कुछ सार भी होता है; और इसी लिए यह **आडम्बर** की तुलना मे कम निन्दनीय या हास्यास्पद होता है। इसका मुख्य उद्देश्य प्राय दूसरो को अपना बल और वैभव दिखलाना होता है; अपनी प्रशसा कराने का भाव प्राय गौण ही रहता है। प्राचीन भारत मे राजा महाराजों की सवारियाँ खूब **तड़क-भडक** से निकलती थीं, और आज-कल नये रईसों की बरातें भी प्राय **तडक-भडक** से निकलती हैं। **दिखावट** का सम्बन्ध केवल बाहरी रूप से है, भीतरी तत्त्व या रूप अथवा वास्तविकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह प्राय. दूसरों को प्रभावित और आकृष्ट करने के लिए होती है। दूकानों मे उनकी बाहरी **दिखावट** इसी लिए बढिया होती है कि ग्राहक उनसे प्रभावित होकर सौदा लेने आवें। बाहरी रूप-रंग अच्छा रखना और आकर्षक बनाना ही **दिखावट** है। यदि **दिखावट** केवल बाहरी हो और उसके अन्दर कुछ भी तत्त्व या सार न हो अथवा बहुत ही कम सार हो, तो उसे **ढकोसला** कहेगे। इसका मुख्य उद्देश्य दूसरो को ठगने और धोखा देने के सिवा और कुछ नही होता। यदि किसी थिएटर या सरकस मे बाहरी **तड़क-भड़क** या **दिखावट** तो बहुत-कुछ हो,

पर अन्दर तमाशा बहुत ही साधारण या रद्दी हो तो हम कहेंगे—व्यर्थ का **ढकोसला** खडा कर रखा है। यही **ढकोसला** अपने कुछ छोटे, हलके और परिमित रूप मे **ढंग** या **ढोंग** कहलाता है। इसका उद्देश्य दूसरों को अपनी ओर अनुरक्त करके उनकी दया, सहानुभूति आदि प्राप्त करना अथवा और किसी प्रकार का स्वार्थ सिद्ध करना होता है। बच्चे प्रायः विद्यालय जाने से बचने के लिए पेट या सिर के दर्द का **ढोंग** रचते हैं, और भिखमंगे प्राय भीख माँगते समय हाथों या पैरों पर पट्टियाँ बाँधकर लँगडे-लूले या अपाहिज होने का **ढोंग** रचते। **बनावट** हिन्दी 'बनना' से बना है, और बनना का एक अर्थ यह भी है—अपने आपको ऐसा योग्य सिद्ध करना, जैसा वास्तव में न हो। **बनावट** वह है जिसमे मनुष्य अपने आपको उचित से अधिक योग्य, विद्वान् या सदाचारी सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। यह ऐसा मिथ्या आचरण है जिससे पहले तो लोगों को कुछ आशा होने लगती है, पर बाद मे निराश होना पडता है। इस प्रकार यह **पाखण्ड** का छोटा और हलका रूप है। इस प्रकार का आचरण कर्त्ता के लिए प्राय लज्जाजनक होता है, इसी लिए वह बीच-बीच में या तो कुछ लज्जित होता रहता है या लज्जित होने का अभिनय-सा करता रहता है। पर **बनावट** प्राय मनुष्य के स्वभाव का अग होती या धीरे-धीरे अग बन जाती है। इसमे अपनी दुर्बलता या दोष छिपाने के साथ-साथ दूसरों की दृष्टि मे अपने आपको योग्य सिद्ध करने का बहुत-कुछ सकोचपूर्ण प्रयत्न होता है। फिर भी इसका उद्देश्य अपना महत्त्व स्थापित करना ही होता है, और महत्त्व प्राप्त करने की आकाक्षा इसमे इतनी बढ जाती है कि समाज मे थोडा-बहुत अपमान या उपहास होने पर भी मनुष्य उसे हँसकर टाल देता है, पर अपनी आदत नही छोडता। इस प्रकार **बनावट** मे लज्जाशीलता और निर्लज्जता का एक विलक्षण सम्मिश्रण होता है। लोक मे इसी को **बनना** कहते हैं, और ऐसे आदमी को लोग प्राय **बनाते** रहते हैं। **बनाने** का अर्थ ऐसे प्रसंग मे व्याज-स्तुति करके किसी को और भी अधिक **बनने** या इतराने मे प्रवृत्त करना है। **औपचारिकता** और **दुनियादारी** दोनों बहुत-कुछ एक होने पर भी एक दूसरे से कुछ भिन्न हैं। **औपचारिकता** केवल दिखाने के लिए बँधे हुए सामाजिक नियमों का पालन मात्र है। हृदय की शुद्धता और

सत्यता का इसमे प्राय अभाव होता है। **दुनियादारी** वह है जिसमे आदमी सिर्फ लोगों (दुनियाँ) को दिखाने के लिए तरह तरह के आचार-व्यवहार करता है, पर हृदय से उन आचार-व्यवहारों पर निष्ठा नही रखता। **शेखी** शब्द अरबी 'शेख' से बना है। शेख वास्तव मे इस्लाम धर्म के प्रवर्त्तक पैगम्बर मुहम्मद साहब के वंशजों की जातीय उपाधि या अल्ल हैं। शेखों को अपने उच्च वंश का विशेष अभिमान होता था, और वे अवसर पड़ने पर दूसरों के सामने अपना यह अभिमान या गर्व खुलकर प्रकट भी करते थे। इसी से **शेखी** का अर्थ हो गया है—अभिमानपूर्वक अपने बड़प्पन की चर्चा या प्रदर्शन। यह प्रवृत्ति भी बहुत-कुछ मनुष्य की प्रकृति से सम्बद्ध होती है, और इसके कारण कुछ लोग प्राय बहुत बढ-बढकर यह कहा करते हैं कि मैने यह किया है, वह किया है, अथवा मै यह कर सकता हूँ, वह कर सकता हूँ, आदि। हिन्दी मे ऐसी प्रवृत्ति के लिए तो कोई उपयुक्त शब्द नहीं है, शायद इसलिए कि हमारे यहाँ शेख होते ही नही, पर इस प्रकार की उक्ति को हम **गर्वोक्ति** कह सकते हैं और ऐसे प्रसग मे गर्व अपने दूषित और निन्दनीय रूप मे (देखे **'अभिमान'** के अन्तर्गत **'गर्व'**) प्रयुक्त होता है। जब अपने **आडम्बर** से सम्बन्ध रखनेवाली बाते अपने मुँह से अभिमान-पूर्वक और भद्दे ढग से कही जाती हैं, तब उसे **शेखी** कहते हैं। यह कभी-कभी आचार-व्यवहार में भी प्रकट की जाती है, और देखने-सुननेवालो पर चोट करती है, इसी लिए घृणित और निन्दनीय समझी जाती है। इसके कारण कभी-कभी मनुष्य समाज या समुदाय मे ऐसे लोगो से भी प्राय कुछ अलग या दूर रहता है, जिनसे वैयक्तिक जीवन मे उसका विशेष मेल-जोल या सम्पर्क होता है। **डींग** वस्तुत **गर्वोक्ति** का क्षणिक, विकृत और हलका रूप है। जब किसी प्रसग मे मनुष्य कुछ अभिमानपूर्वक अपने बल, योग्यता, साहस आदि के सम्बन्ध मे अत्युक्तिपूर्ण बाते कहता है, तब ऐसी बातों को **डींग** कहते हैं। यदि हम कहे—'हम तुम्हे क्या समझते हैं! हमने बड़े-बडों के दाँत खट्टे कर दिये हैं। या बडे-बडे बुद्धिमान् और विद्वान् हमारे यहाँ आकर सिर झुकाते हैं।' और यदि इसमे सत्यता का कुछ अंश भी हो, तो इसकी गिनती **गर्वोक्ति** या **शेखी** मे होगी। पर यदि हम झूठ-मूठ और लोगों पर धाक जमाने के लिए कहे—'रेल मे एक

बार अकेले डब्बे मे दो डाकू हम पर आक्रमण करने आये थे; पर हमने बड़े कौशल से उन दोनों को पिस्तौल दिखाकर और धक्का देकर नीचे गिरा दिया।' तो यह हमारी डींग कहलावेगी।

पुराना (Old)

अनुश्रुत (Legendry) **पूर्व-प्लावनिक** (Ante-diluvian)
ऐतिहासिक (Historical) **पौराणिक** (Mythological)
परम्परा गत (Traditional) **प्राचीन** (१. Ancient, २. Old)
पुरा-कालीन (Antique) **सनातन** (Eternal)
पुरातन (Ancient)

इस वर्ग के सब शब्द ऐसी चीजों या बातो के सूचक हैं जो बहुत दिन पहले रही हों या बहुत दिनो से चली आ रही हो। **पुराना** स० पुराण (विशेषण) से बना है और 'नया' का विपर्याय है। **पुराना** वह है जो बहुत दिन पहले रहा हो; या बहुत दिनों से उपयोग या व्यवहार मे आ रहा हो, या जिसे बीते अथवा हुए बहुत दिन हो चुके हो। प्रयोग को दृष्टि से यह दस-बीस दिन पहलेवाले का भी सूचक हो सकता है और सौ दो सौ अथवा हजार-पॉच सौ वर्ष पहलेवाले का भी। पुराने खॅडहर, पुरानी पुस्तके, पुराना जमाना, पुराने दिन, पुराने लडाई-झगडे, पुरानी प्रथाएँ या बाते सब वही हैं जो कुछ या बहुत दिन पहले अस्तित्व मे आई या घटित हुई हों अथवा जिन्हे बने, बीते या हुए बहुत दिन हो चुके हों। इसका प्रयोग ऐसी चीजों या बातों के लिए भी होता है जो अब न रह गई हों; अथवा हीन रूप मे बच रही हो। यद्यपि प्रयोग की दृष्टि से प्राय **पुरानी** चीजें निकम्मी या रद्दी समझी जाती हैं, फिर भी बहुत-सी चीजे ऐसी भी होती हैं, जिनकी उपयोगिता, महत्त्व या मूल्य बहुत-कुछ बढ जाता है। **पुराने** बरतन या

मकान भले ही किसी काम के न हों, पर **पुराने** चावल या **पुराने** सिक्के अधिक मूल्यवान् होते हैं। यों साधारणत **पुराना** और **प्राचीन** (अर्वाचीन या आधुनिक का विपर्याय) एक दूसरे के पर्याय माने जाते हैं, फिर भी दोनो मे कुछ अन्तर है। **पुराना** तो दस-पाँच दिन या महीने दो महीने पहले का भी हो सकता है, पर **प्राचीन** सौ दो सौ या हजार पाँच सौ बरस पहले का ही होगा। **प्राचीन** में एक तो अपेक्षया अधिक पुराने होने का भाव मुख्य है, और दूसरे, इसका प्रयोग सस्कृत शब्दो के साथ ही अच्छा लगता है। जैसे-प्राचीन इतिहास, प्रचीन जातियाँ, प्राचीन सस्कृति आदि। **पुराने** कपडे मे तो निकम्मेपन का भाव भी है; परन्तु **प्राचीन** वस्त्र मे इसलिए कुछ गौरव और महत्त्व है कि **प्राचीन** का सम्बन्ध प्राय ऐतिहासिकता से होता है। हम यह तो कहते हैं—**पुरानी** बाते या पुराने लड़ाई-झगड़े भूल जाओ, पर ऐसे प्रसगों मे **पुरानी** या पुराने की जगह **प्राचीन** का प्रयोग इसलिए नहीं कर सकते कि पुरानी बाते या लडाई-झगडे तो हमारे सामने के होते हैं, पर **प्राचीन** ऐसा नहीं हो सकता, जो हमारे सामने घटित हुआ हो। **प्राचीन** की जगह तो प्रायः **पुराना** से भी काम चल सकता है, पर हर जगह हम **पुराना** के बदले **प्राचीन** का प्रयोग नहीं कर सकते। हाँ **प्राचीन** और **पुराकालीन** अवश्य बहुत-कुछ एक हैं। जिस प्रकार साधारण **पुराना** से **प्राचीन** बहुत-कुछ पहले का होता है, उसी प्रकार **प्राचीन** से **पुराकालीन** और भी पहले का होता है। **प्राचीन** तो प्राय ऐतिहासिक काल का होता है, पर **पुरा-कालीन** ऐतिहासिक काल से पहले का भी हो सकता है। **पुरा-कालीन** मुख्यत वह कहलाता है जिसका प्रचलन या प्रयोग उठे बहुत दिन हो गये हों—जिसका चलन अब उठ गया हो। **सनातन** वह है जो सदा से चला आ रहा हो, अर्थात् जिसके सम्बन्ध मे यह कहा ही न जा सकता हो कि इसका आदि कहाँ है या आरम्भ कब हुआ। **प्राचीन** या **पुरा-कालीन** के सम्बन्ध में तो यह भी माना जा सकता है कि आज नहीं तो कल उसके काल और मूल का पता चल जायगा, पर जिसे **सनातन** कहते हैं, उसके सम्बन्ध मे हम पहले से ही यह मान लेते हैं कि यह सदा से चला आ रहा है; और इसके सम्बन्ध मे किसी तरह यह जाना ही नहीं जा सकता कि इसका आरम्भ कब हुआ।

इसके सिवा **सनातन** मे यह भाव भी है कि यह सदा से जिस रूप मे चला आ रहा है, उसी रूप मे सदा बना भी रहेगा। जैसे—सत्य बोलना **सनातन** धर्म है। हम अपने यहाँ की किसी प्रथा को भूल से भले ही **सनातन** कह या मान लें, परन्तु प्रथा कभी इसलिए सनातन नहीं हो सकती कि वह बीच बीच में नई चलती और बदलती रहती है। परन्तु सत्य बोलना ऐसा धर्म है जिसका न तो कभी खंडन या विरोध हो सकता है और न जिनमे कभी किसी प्रकार का परिवर्त्तन सम्भव है। **ऐतिहासिक** और **पौराणिक** मे यों तो बहुत-कुछ अन्तर है, फिर भी पर्यायकी की दृष्टि से दोनो एक ही वर्ग मे रखे जा सकते हैं। **ऐतिहासिक** वह है जिसका या तो इतिहास से सम्बन्ध हो या इतिहास मे उल्लेख हो, अर्थात् जिसके ठीक, निश्चित या वास्तविक होने मे साधारण इतिहास की दृष्टि से कोई सन्देह न किया जा सकता हो। जिस घटना, बात, वस्तु या व्यक्ति का कोई आधार-युक्त प्रमाण मिल चुका हो और जिसे इतिहास के उल्लेखो मे स्थान मिल चुका हो, वही **ऐतिहासिक** है। गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, पृथ्वीराज या महाराणा प्रताप इसलिए ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और भारत पर सिकन्दर की चढाई या मुसलमानो और अँगरेजों के शासन इसलिए ऐतिहासिक तथ्य हैं कि इनके ठीक और पूरे प्रमाण मिलते हैं। इसके विपरीत **पौराणिक** वह है जिसका उल्लेख पुराणों* मे तो मिलता हो, पर इतिहास के ज्ञाताओं को जिसका अभी तक कोई ठीक और पूरा प्रमाण न मिला हो। **पौराणिक** कथाएँ, घटनाएँ और व्यक्ति कल्पित भी हो सकते हैं और किसी रूप मे उनके वास्तविक होने की भी सम्भावना हो सकती है। जो तथ्य आज **पौराणिक** माने जाते हैं, वे कल को **ऐतिहासिक** भी सिद्ध हो सकते हैं; पर जब तक इतिहास उन्हें ठीक न मान ले, तब तक वे **पौराणिक** ही रहेंगे। देवासुर-सग्राम, समुद्र मथन आदि घटनाएँ विशुद्ध

*** यहाँ पुराण शब्द अपने उस सकुचित अर्थ में नहीं आया है, जिसमें वह भारत के सनातन-धर्मी हिन्दुओं में प्रचलित है, बल्कि इसका प्रयोग उस विस्तृत और व्यापक अर्थ में हुआ है, जिसमें ससार भर की सभी जातियो और देशो के देव-देवियों तथा उनके धार्मिक कथा-साहित्य का अंतर्भाव होता है।**

पौराणिक हैं, पर राम-रावण युद्ध या जनमेजय का नाग-यज्ञ पौराणिक माना जाने पर भी बहुत-कुछ ऐतिहासिक है या हो सकता है; भले ही अभी हम इनमे से किसी के सम्बन्ध में उस सीमा तक न पहुँचे हों, जिस सीमा तक आधुनिक छान-बीन से स्थिर किया हुआ इतिहास पहुँचा है। फिर भी **पौराणिक** अधिकतर वही बातें मानी जाती हैं जो ऊपर से देखने पर या तो बिलकुल कपोल-कल्पित तथा असंभव जान पडती हों अथवा जिन्हे ठीक मानने मे इतिहास के सिवा साधारण बुद्धि भी सकोच करती हो। **पूर्व-प्लावनिक** भी है तो **ऐतिहासिक** तथा **पौराणिक** की तरह का ही शब्द, पर यह अपने वर्ग के सभी शब्दों से कही अधिक पुरानेपन का सूचक है। प्राय सभी देशों और जातियो मे किसी न किसी रूप मे यह प्रवाद प्रचलित है कि किसी समय इस पृथ्वी पर एक ऐसी बहुत बडी बाढ आई थी जिसमे सारा ससार डूब गया था और जिसके बाद नये सिरे से सारी सृष्टि बनी थी। हिन्दुओं मे यह प्रलय के नाम से और दूसरी जातियो मे प्लावन के नाम से प्रसिद्ध है। अपने विशुद्ध अर्थ मे **पूर्व-प्लावनिक** का आशय होता है—प्रलय या प्लावन से पहले का। पर साधारणत बोल-चाल मे इसका प्रयोग ऐसी बहुत पुरानी चीजो या बातों के सम्बन्ध मे होता है, जिनमे कुछ भी दम न रहा गया हो या जिनका कुछ भी उपयोग न हो सकता हो। जिन चीजों या बातों को हम पुराने जमाने की, उपेक्ष्य और निकम्मी समझकर हँसी मे टालना चाहते हैं, उन्हें हम उसी प्रकार **पूर्व-प्लावनिक** कहते हैं, जिस प्रकार 'बाबा आदम* के जमाने की' कहते हैं। **अनुश्रुत** और **परम्परागत** अर्थ के विचार से एक दूसरे से भिन्न होने पर भी एक ही वर्ग के शब्द हैं। **अनुश्रुत** का शब्दार्थ है—ऐसी कथा या बात, जिसे लोग बहुत दिनो से एक ही रूप मे सुनते चले आये हो। प्राय सभी जातियों और देशों मे कुछ ऐसी कथाएँ प्रचलित रहती हैं जो **ऐतिहासिक** तो होती ही नहीं, पर **पौराणिक** भी नहीं

---

* बाबा आदम का सम्बन्ध भी इसी प्लावन से है। यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि पैगम्बरी मतों में माना जाता है कि प्लावन के बाद बाबा आदम ने ही फिर से नया संसार बसाया था।

होती। ऐसी बातें प्राय लोकाचार, वीर-गाथा आदि से सम्बन्ध रखती हैं। ये साधारण कथा-कहानियों के रूप मे होती हैं और इनमें सत्य का अश बहुत ही कम होता है। **परम्परागत** भी बहुत कुछ वही है, जो **अनुश्रुत** है। पर एक तो **अनुश्रुत** केवल बातें या कथाऍ होती हैं, और दूसरे उनमे तथ्य बहुत कम होता है। इससे भिन्न, कथाओ और बातों के सिवा प्रथाऍ, रूढियाँ आदि भी **परम्परागत** होती हैं और उनमे तथ्य तथा सत्य का अंश भी अपेक्षया अधिक होता है। **अनुश्रुत** का कोई ऐतिहासिक आधार न होने के कारण उसमे प्रामाणिकता भी नहीं होती; पर **परम्परागत** का अनेक पीढियों से चला आया हुआ कुछ ऐतिहासिक आधार भी होता है; और फलत उसमे प्रामाणिकता का भी कुछ अश रहता है।

पृथ्वी (Earth)

जगत् **लोक**
दुनियाँ **संसार** (World)

पृथ्वी हमारे सौर जगत (दे०—ब्रह्माण्ड) का वह ग्रह है जिस पर हम सब लोग रहते हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द पृथु से बना है, जिसका अर्थ है—चौडा या विस्तृत। दूरी के विचार से यह सूर्य से तीसरा ग्रह है और सूर्य से प्राय सवा नौ करोड मील दूर है। प्रयोग के विचार से यह हमारे ग्रह के उस ऊपरी भाग का वाचक है, जिस पर मिट्टी है और जिस पर रहकर हम खेती-बारी आदि सब काम करते और जीवन बिताते हैं। एक ओर तो यह जलवाले भाग के विपरीत (और स्थल का वाचक) है, दूसरी ओर आकाश या स्वर्ग से भिन्न। हम कहते हैं—(क) बहुत-से जल-जन्तु **पृथ्वी** पर अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकते, और (ख) इस **पृथ्वी** के जीव स-शरीर स्वर्ग नहीं जा सकते। व्युत्पत्तिक दृष्टि से और विशेषण रूप में **जगत्** का अर्थ है—चलता-फिरता अर्थात् जीता-

जाता। यह मुख्यत पृथ्वी के उस अश का वाचक है, जिसमे जीवधारी या प्राणी रहते हैं। अर्थात् समस्त चेतन सृष्टि का इसमे अन्तर्भाव होता है। लाक्षणिक रूप मे यह किसी विशिष्ट क्षेत्र का भी वाचक होता है। जैसे—(क) हिन्दी जगत् भारतेन्दु जी का सदा ऋणी रहेगा, अथवा (ख) इस नई खोज से वैज्ञानिक जगत् मे हलचल मच गई है। व्युत्पत्तिक दृष्टि से **लोक** का अर्थ है—अवकाश, देश या स्थान। पर आगे चलकर यह शब्द स्थानों के ऐसे विभाग का वाचक हो गया था, जिसमे किसी विशिष्ट प्रकार की सृष्टि हो। इसी दृष्टि से हमारे यहाँ पहले दो लोक माने गये थे—इह-लोक, और पर-लोक पर बाद मे पृथ्वी, आकाश और पाताल ये तीन लोक माने गये। पौराणिक काल मे विभागों की यह सख्या १४ तक पहुँच गई थी, जिनमे ७ लोक तो ऊपरी विस्तार मे माने गये और ७ लोक नीचेवाले विस्तार या पाताल मे*। आज-कल हिन्दी मे **लोक** सज्ञा रूप मे जगत् या **ससार** का वह अश माना जाता है, जिसमे सब प्रकार के मनुष्यों का समावेश है। हम कहते हैं—(क) **लोक** मे ऐसा आचारण निन्दनीय माना जाता है, अथवा (ख) लोक-कल्याण का ध्यान रखना शासन का मुख्य कर्त्तव्य है। इस प्रकार यह शब्द मानव समाज का वाचक होता है। विशेषण रूप मे इसका अर्थ होता है—सब लोगों से सम्बन्ध रखनेवाला। जैसे—लोक वास्तु, लोक स्वास्थ्य आदि। **ससार** स० सृ धातु मे सं उपसर्ग लगने से बना है; और इसका व्युत्पत्तिक अर्थ है—चलते या घूमते-फिरते रहना। पर आगे चलकर आध्यात्मिक क्षेत्र मे यह शब्द आत्मा या जीव की उस दशा का वाचक हो गया था, जिसमे वह बराबर इस पृथ्वी पर या इस लोक मे आता-जाता (अर्थात् बार-बार जन्म लेता और मरता) रहता है। प्रयोग की दृष्टि से इसका अर्थ भी बहुत-कुछ वही है, जो ऊपर **जगत्** का बतलाया गया है। हम जिसे हिन्दी जगत् कहते हैं, उसे हिन्दी **ससार** भी कह लेते हैं। फिर भी यह मुख्य रूप से हमारे जीवन के व्यावहारिक अश से सम्बन्ध रखता है। हम कहते हैं—**ससार** मे आकर मनुष्य को सब कुछ करना पडता है। इस प्रकार यह मुख्यत हमारे

---

* इस विभाजन के अनुसार ये सब लोक 'भुवन' भी कहलाते हैं।

कार्यों, व्यापारों आदि के क्षेत्र का बोधक होता है। कुछ अवस्थाओं मे जगत्, लोक और ससार समानक भी होते हैं। जैसे—(क) सबको एक न एक दिन यह ससार छोडना है, और (ख) हमे इस लोक मे अपनी कोई कीर्त्ति छोड़ जानी चाहिए। ऐसे अवसरों पर उक्त तीनों मे से हर शब्द का प्रयोग हो सकता है। दुनियाँ (अरबी दुनिया) प्राय उक्त चारों शब्दों के स्थान पर प्रयुक्त होने-वाला शब्द है।

प्रतिकृति (१. Likeness, २. Copy)

अनुकृति (Imitation)	**परिरूप** (Design)
अनुलिपि (Facsimile)	**प्रति** (Copy)
अभिप्राय (Motif)	**प्रतिलिपि** (Copy)
नकल=१.अनुकृति,२.प्रतिकृति, ३. प्रतिलिपि	**भाँत=परिरूप**
	मूल (Original)

जो आकृति (दे० 'मूर्त्ति' के अन्तर्गत 'आकृति') या वस्तु देखने पर आकार-प्रकार, रूप-रग आदि मे किसी दूसरी आकृति या वस्तु के ठीक समान जान पडे या बनी हो, वह उस आकृति या वस्तु की **प्रतिकृति** कहलाती है। यह प्राकृतिक भी होती है और कृत्रिम भी। प्राकृतिक क्षेत्र मे हम कहते हैं—यह लडका अपने पिता (अथवा माता) की ठीक **प्रतिकृति** है। आशय यही होता है कि चाल-ढाल, रूप-रग आदि मे यह अपने पिता (या माता) के ठीक समान है। कभी-कभी सयोग से हमें दो ऐसे आदमी भी दिखाई पड जाते हैं, जो आकार, रूप आदि मे बिलकुल एक ही तरह के होते हैं और उनमे से एक को देखकर दूसरे का धोखा होता है। ऐसे व्यक्ति भी आपस मे एक दूसरे की **प्रतिकृति** होंगे। कृत्रिम क्षेत्र मे **प्रतिकृति** मुख्यत दो प्रकार की होती है। एक तो कपड़े,

कागज आदि पर रंगों आदि से बनाई हुई, जिसे चित्र कहते हैं, और दूसरी पत्थर, लकड़ी आदि को गढ-छीलकर या धातुओं आदि से साँचे मे ढालकर या मिट्टी, मोम आदि से थापकर बनाई हुई हो और जिसे हम स्थूल* रूप से मूर्त्ति (देखें) कह सकते हैं । प्रतिकृति के लिए आवश्यकता इसी बात की है कि वह देखने मे किसी प्राणी या वस्तु के ठीक समान जान पड़े । इसमे स्वयं उस कृति या वस्तु का भाव मुख्य है, जो प्रतिकृति कहलाती है। अनुकृति का अर्थ है—किसी के अनुकरण पर बनाई हुई चीज । प्रतिकृति से अनुकृति दो बातों मे भिन्न है। एक तो किसी प्राणी या वस्तु को देखकर उसके अनुकरण पर जो कृति प्रस्तुत की जाती है, वही अनुकृति कहलाती है। इसमे अनुकरण का भाव ही मुख्य होता है, स्वयं उस कृति के अस्तित्व का भाव गौण रहता है। दूसरे, यह सदा किसी अन्य वस्तु, व्यक्ति आदि के अनुकरण पर प्रस्तुत की जाती है, इसलिए यह सदा कृत्रिम ही होती है, प्राकृतिक या स्वाभाविक नहीं हो सकती । नकल अरबी भाषा का शब्द है, जिसका मौलिक अर्थ है—स्थानान्तरण अर्थात् एक से दूसरे स्थान पर ले जाना । पर व्यावहारिक रूप मे यह उस वस्तु, लेख आदि का वाचक शब्द है, जो किसी वस्तु या लेख के अनुरूप या अनुकरण पर प्रस्तुत हुआ हो । नकल इसी लिए अनुकृति, प्रति, प्रतिकृति और प्रतिलिपि चारो की समानक है । यों तो संस्कृत मे प्रति के अव्यय और संज्ञा रूप मे अनेक अर्थ हैं, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग मे प्रति किसी पुस्तक, लेख, चित्र आदि की बहुत-सी प्रतिकृतियों मे से किसी एक अथवा प्रत्येक का वाचक स्वतन्त्र शब्द है। हम कहते हैं—(क) इस पुस्तक की एक हजार प्रतियाँ छपी थी, (ख) इस लेख की एक प्रति हमने अपने पास भी रख ली है, और (ग) अपने चित्र की तीन प्रतियाँ तैयार करा लो। अर्थात् ठीक एक ही तरह की जो बहुत-सी चीजे छपी या लिखी गई हो, उनमे से प्रत्येक उसकी प्रति कहलाती है । प्रतिलिपि सदा हाथ की लिखी हुई (अथवा आज-कल टंकण

* स्थूल रूप में इसी लिए कि मूर्त्ति मुख्यतः प्राणियों और देवताओं की ही होती है; पर प्रतिकृति प्राणियों के सिवा दूसरे पदार्थों या वस्तुओं की भी होती है ।

यत्र से टकित या टाइप की हुई) वह प्रति होती है, जो किसी लेख को देखकर ठीक उसके अनुरूप प्रस्तुत की गई हो। जैसे—जो पत्र उन्हें भेज रहे हो, उसकी एक **प्रतिलिपि** भी अपने पास रख लो। **अनुलिपि** किसी लिपि या लेख की वह **अनुकृति** कहलाती है जो लिखावट और ब्योरे की सभी बातों के विचार से ठीक ज्यो की त्यो या अपने मूल के अविकल समान हो। जब किसी प्राचीन लिपि मे लिखे हुए लेख पूरे पढे नहीं जाते, तब उनकी **अनुलिपि** प्रस्तुत करके दूसरे विद्वानों के पास पटने के लिए भेजी जाती है। किसी व्यक्ति की लिखावट की भी **अनुलिपि** होती है, जो बहुधा दूसरो को दिखलाने के लिए प्रस्तुत की जाती है। प्रस्तुत प्रसग मे **मूल** वह चीज कहलाती है, जिसकी कोई **अनुकृति, प्रतिकृति** या **प्रतिलिपि** प्रस्तुत की गई हो। हम कहते हैं—(क) यह अनुकृति (या प्रतिकृति) **मूल** से ठीक मिलती-जुलती है, अथवा (ख) **मूल** से मिलाकर देख लो कि यह प्रतिलिपि ठीक हुई है या नही। दूसरे प्रसगो मे **मूल** के कुछ और अर्थ भी हैं। किसी वर्ग मे जो चीज सबसे पहले तैयार हुई हो और जिसके अनुकरण पर उस वर्ग की बाकी और सब चीजे बनी हों, वह भी **मूल** कहलाती है। जैसे—यों तो अब इस चित्र की बहुत-सी प्रतिकृतियाँ बन गई हैं; पर **मूल** चित्र अभी तक चित्रकार के उत्तराधिकारियो के पास है। ग्रन्थो और साहित्यिक रचनाओं के क्षेत्र मे **मूल** वह ग्रन्थ (या लेख) कहलाता है, जिस पर टीका-टिप्पणियाँ, भाष्य आदि प्रस्तुत हुए हो अथवा जिसके सम्बन्ध मे कोई विचार-विमर्श या समीक्षा हो रही हो। जो किसी स्थान पर सबसे पहले रहा हो, वह भी **मूल** निवासी कहलाता है, जैसे—अफ्रिका के मूल* निवासी अब धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं। **परिरूप** सस्कृत रूप मे परि उपसर्ग लगाकर बनाया हुआ नया शब्द है, और इसका सम्बन्ध मुख्यत कला और शिल्प के क्षेत्रों से है। यह किसी बननेवाली वस्तु का ऐसा आरम्भिक और प्राय छोटा रूप होता है, जो उसके अनुकरण पर बननेवाली वस्तु के आकार-प्रकार, रग-ढग आदि का स्वरूप बतलाने के लिए विचारार्थ प्रस्तुत किया गया हो। यह बनावट या रचना के ढंग और

* इक अर्थ में हिन्दी में इसका पर्याय 'आदिम' भी प्रचलित है।

प्रकार मात्र का सूचक होता है। कपडों पर बेल-बूटों आदि के जो अलग-अलग प्रकार होते हैं (चाहे वे पहले अनुकृति के लिए प्रस्तुत किये गये हों, चाहे प्रस्तुत होकर सामने आये हों), वे सब उसके **परिरूप** कहलाते हैं। इसके लिए हमारे यहाँ का पुराना शब्द भाँत (स० भेदत या भाति?) है, जो धीरे-धीरे मरता जा रहा है। हम कहते हैं—(क) आज-कल बाजार मे नये-नये परिरूपो (या भाँतों) की साडियाँ आई हैं; और (ख) उन्होने बिलकुल नये **परिरूप** (या भाँत) का बाग या मकान बनवाया है। आशय यही होता है कि उसकी बनावट का ढग और ऊपरी रूप-रग बिलकुल नई तरह का है। **अभिप्राय** यों तो उद्देश्य (देखे) के वर्ग का शब्द है, पर कला के क्षेत्र मे आज-कल यह एक नये अर्थ से युक्त हो गया है। इसका प्रयोग बहुधा चित्र-कला और मूर्त्ति-कला मे ऐसे अवसरो पर होता है, जहाँ उनके रचना-प्रकार और परिरूपों आदि का आलकारिक या सजावट की दृष्टि से विचार होता है। यों तो मूर्त्तियों आदि के अलकरणों और परिरूपों मे अनेक प्रकार के भाव मिले-जुले रहते हैं, पर उनमें जो आशय, भाव या विचार प्रधान होता अथवा मुख्य रूप से स्पष्टत सामने दिखाई देता है, वही **अभिप्राय** कहलाता है। ऐसा अभिप्राय बीच-बीच मे प्राय व्यक्त होता रहता है। हम कहते हैं—ताज-महल की आलकारिक कृतियों (या कला) मे दो अभिप्राय मुख्य रूप से देखने मे आते हैं, एक तो मोर का और दूसरा सरो (वृक्ष विशेष) का, अथवा भारतीय चित्र-कला मे बहुधा कमल का **अभिप्राय** देखने में आता है। आशय यही होता है कि उक्त रचनाओं मे प्राय मोर, सरो या कमल की-सी आकृतियाँ ही अधिक दिखाई देती हैं।

प्रशंसा (Praise)

गुण-कीर्त्तन=गुणानुवाद **श्लाघा** (Commendation)
गुणानुवाद (Encomium) **सराहना** (Acclaimation)
तारीफ=प्रशंसा **स्तवन** (Extolment)
प्रशस्ति (Glorification) **स्तुति** (Panegyric)
बड़ाई (Eulogy)

इस वर्ग के शब्द ऐसे कथनों के वाचक हैं जो किसी के अच्छे काम या बातों की मान्यता के सम्बन्ध मे होते हैं। जब हम कोई अच्छा काम, चीज या बात देख कर प्रसन्न होते हैं और अपनी वह प्रसन्नता अच्छे शब्दों मे दूसरों पर प्रकट करते हैं, तब हमारा ऐसा कथन उस काम, चीज या बात की **प्रशसा** करना कहलाता है। अरबी **तारीफ** और हिन्दी **सराहना*** (स० श्लाघा) भी इसके समानक ही हैं। प्रशसा से सराहना इस दृष्टि से कुछ और आगे बढी हुई है कि सराहना मे प्राय जी खोलकर और कुछ अधिक प्रशसा की जाती है। किसी के गुणो का अच्छा और यथेष्ट वर्णन ही **गुण-कीर्त्तन** या **गुणानुवाद** कहलाता है। अर्थ की दृष्टि से दोनों एक ही हैं। इनमे प्राय साधारण गुणों का भी बढा-चढाकर वर्णन किया जाता है। मध्य युग के कवि अपने आश्रयदाता राजाओ, रईसों आदि का (अपने काव्यों आदि मे) यथेष्ट **गुणानुवाद** करते थे। भक्त भी अपने इष्ट देव का **गुणानुवाद** करना अपना कर्त्तव्य समझता है। **बडाई** हिं० बडा का भाव-वाचक रूप है। जब हम किसी को किसी बात मे बहुत बडा (या बहुत अच्छा) समझते हैं, तब उसके बड़ापन (या अच्छाई) के सम्बन्ध मे लोगों से जो प्रशसात्मक बातें कहते हैं, वही उनकी **बडाई** कहलाती है। साधारणत यह भी कहा जा सकता है कि प्रशसा या सराहना तो प्राय बडों का बराबरवालों के

*** सराहना हिन्दी में सकर्मक क्रिया के रूप में भी और स्त्री० सज्ञा के रूप मे भी प्रयुक्त होता है। जैसे—(क) उन्होंने इस सद्भाव के लिए आपको बहुत सराहा, और (ख) आपके इस सद्भाव की बहुत सराहना की।**

सम्बन्ध मे होती है, पर बडाई प्राय बडे लोग ही अपने से छोटे लोगों की करते हैं, और इसमे उनका उद्देश्य उन छोटो को भी अपेक्षया बड़ा सिद्ध करना होता है*। श्लाघा स० श्लाघ् से बना है, जिसका मूल अर्थ है—भरोसा या विश्वास करना। इसका एक और अर्थ होता है—अभिमान या गर्व करना। जब हम किसी की कोई बात उसके लिए (अथवा अपने लिए) अभिमान या गर्व की वस्तु समझकर उसकी अधिक **प्रशसा** या **सराहना** करते हैं, तब इसे **श्लाघा** कहते हैं। इसी से आत्म-**श्लाघा** पद बना है, जिसका अर्थ होता है—अभिमान या गर्व-पूर्वक अपनी **प्रशसा** आप ही करना। इसका उद्देश्य किसी वस्तु या व्यक्ति के गुणो या विशेषताओं की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करना होता है। **स्तवन** और **स्तुति** दोनों स्तु धातु से बने हैं, जिसका अर्थ है—प्रशसा करना, सराहना आदि। पर आशय के विचार से **स्तवन** अपने वर्ग के सभी शब्दों से बहुत आगे बढा हुआ है। किसी बड़े की कीर्त्ति और यश का विस्तार करने के लिए हम जी खोलकर उसकी जो **प्रशसा** करते हैं, वही उसका **स्तवन** कहलाता है। **स्तुति** भी बहुत कुछ वही है जो **स्तवन** है, परन्तु व्यवहार की दृष्टि से आज-कल **स्तुति** का प्रयोग प्राय देवी-देवताओ के **गुणानुवाद** के सम्बन्ध मे ही होता है†। **प्रशस्ति** का साधारण अर्थ भी प्रशसा या **स्तुति** ही है; परन्तु प्राचीन काल से इसमें एक विशिष्ट अर्थ लगा आ रहा है और एक विशिष्ट क्षेत्र मे इसका प्रयोग होता आ रहा है। किसी नये राजा के सिंहासन पर बैठने के समय राज्य मे मगल और शान्ति की कामना से जो ईश्वर-प्रार्थना होती थी, वह **प्रशस्ति** कहलाती थी। आगे चलकर राजाओ की वे घोषणाएँ और प्रख्यापन भी **प्रशस्ति** कहलाने लगे, जो चट्टानो, ताम्र-पट्टों आदि पर खुदवाकर कुछ प्रमुख स्थानों पर, जन-साधारण की जानकारी के लिए, लगवा दिये जाते थे। इससे और आगे बढकर यह शब्द उन पंक्तियो का वाचक हो गया था जो प्राचीन काल के ग्रन्थकार

* रघुपति कीन्ही बहुत बड़ाई।—कोई तुलसीदास।

† इस प्रकार के गुणानुवाद से युक्त जो पद्यात्मक रचनाएँ होती हैं, उन्हे स्तोत्र कहते हैं, जैसे दुर्गा-स्तोत्र, शिव-स्तोत्र आदि।

अपने ग्रन्थों के आरम्भ या अन्त मे इस दृष्टि से रखते थे कि लोगों को ग्रन्थकार, ग्रन्थ और उसके विषय आदि का साधारण परिचय हो जाय* । पर आज-कल प्रशस्ति वह बढी-चढी और (प्राय लिखित) प्रशसा कहलाती है, जिसमे किसी के गुणों, विशेषताओं आदि का विशद और विस्तृत विवेचन होता है, और जिसका उद्देश्य किसी व्यक्ति या उसके कामो को बहुत बढाकर लोगो के सामने रखना होता है ।

प्रश्न (Question)

अनुयोग (Querry) **पूछना** (Asking)

जिज्ञासा **पृच्छा=पूछना**

हिन्दी मे साधारणत किसी मे कुछ **प्रश्न** करना का भी वही अर्थ माना जाता है, जो **पूछना** का प्रचलित है । फिर भी दोनो मे कुछ अन्तर है । **पूछना** स० पृच्छन से व्युत्पन्न है, और इसका प्रयोग ऐसे अवसर पर या प्रसग मे होता है जब हम कोई साधारण बात जानने के लिए किसी से कुछ कहते हैं । यह बहुत प्रचलित और सार्विक शब्द है, और इस पर किसी तरह की कोई रगत नहीं चढी है । हम पूछते हैं—(क) मोहन का घर कहाँ है ? (ख) आप हमारे साथ चलेंगे या नहीं ? (ग) इस कपडे (या पुस्तक) का क्या दाम है ? (घ) आज की डाक आई या नहीं ? आदि । इस प्रकार बिलकुल साधारण रूप से और साधारण कामों के सम्बन्ध मे कुछ जानने के लिए हम किसी से जो बात कहते हैं, वही **पूछना** कहलाता है । **प्रश्न** भी है तो बहुत-कुछ यही, फिर भी एक तो यह सस्कृति-सूचक और साहित्यिक शब्द है, दूसरे इसमे एक और भाव भी लगा है । जब कई गूढ या गम्भीर बाते एक साथ पूछी जाती हैं, तब उनमे से हर

*** आगे चलकर ऐसी पक्तियाँ पुष्पिका कहलाने लगी और इनमें रचना-काल अथवा लिपि-काल आदि का भी उल्लेख होने लगा ।**

बात, अपने अलग रूप मे, **प्रश्न** कहलाती है। हम कहते हैं—हमारे प्रश्न-पत्र मे कुल ६ **प्रश्न** थे, जिनमें से पाँच का उत्तर देना आवश्यक था, अथवा उनका पहला **प्रश्न** ही इतना विकट था कि सुनते ही सब लडके घबरा गये। **पृच्छा** बिलकुल वही है, जो **पूछना** है। सस्कृत मे **अनुयोग** के कई अर्थों मे पहला अर्थ **प्रश्न** करना या **पूछना** ही है, पर इसका प्रयोग मुख्यत ऐसे प्रश्नों के सम्बन्ध मे होता है जो या तो (क) किसी प्रकार के सन्देह की निवृत्ति के लिए किये जाते हैं, या (ख) जहाँ हम किसी कथन की सत्यता मानने मे असमर्थ होते हैं। प्रतिलिपि करते समय जब कोई शब्द हमारी समझ मे नहीं आता अथवा हमें ठीक नहीं जान पड़ता, तब हम उस शब्द के आगे अनुयोग-सूचक चिह्न लगा देते हैं, जो इस रूप मे होता है—? हम यह भी कहते हैं—गुरुजनो की आज्ञा के सम्बन्ध मे हमे कभी **अनुयोग** नही करना चाहिए। आशय यही होता है कि उनके ठीक और पालनीय होने मे सन्देह नही करना चाहिए। **जिज्ञासा** मुख्य रूप से कोई बात जानने की वह इच्छा है जो केवल अपना ज्ञान बढाने के लिए होती है। हम जो बात नहीं जानते या नहीं समझते, फिर भी जिसे हम अपनी ज्ञान-वृद्धि या सन्देह की निवृत्ति के लिए जानना चाहते हैं, उसके सम्बन्ध में कहते हैं—इस विषय मे हमारे मन मे एक **जिज्ञासा** उत्पन्न हुई है। **जिज्ञासा** बहुधा बडों से और नम्रतापूर्वक की जाती है, और जिज्ञासु के अज्ञान या अपरिचिति की सूचक होती है।

प्रेम (Love)

अनुराग (Affection)	राग (Passion)
आसक्ति (Attachment)	लगन
प्यार, प्रीति	व्यामोह=मोह
प्रणय	सख्य (Alliance)
मित्रता (Friendship)	सद्भाव (Good will)
मित्र-भाव (Friendliness)	सद्-भावना=सद्-भाव
मोह (Infatuation)	सौहार्द=मित्र-भाव

इस वर्ग के सभी शब्द मनुष्यों के ऐसे पारस्परिक व्यवहारों और सम्बन्धो के सूचक हैं, जो आपसी चाह, सग-साथ, सहानुभूति आदि के भाव से उत्पन्न होते हैं। इस वर्ग का मुख्य शब्द **प्रेम** भी दु ख, सत्य आदि शब्दों की तरह आर्थी दृष्टि से बहुत व्यापक है। ऊपर की ओर यह ईश्वर और सारे विश्व या प्राणी-मात्र तक पहुँचता है, और नीचे की ओर यह तुच्छ कामासक्ति तक के क्षेत्र में पहुँचा दिया जाता है। पर है यह वस्तुत पवित्र और शुभ ही। यह सदा दो पक्षों की अपेक्षा रखता है, और अनुराग, प्रणय,स्नेह आदि का बहुत उत्कृष्ट रूप है। लौकिक व्यवहार मे यह प्राय सग-साथ से अथवा रूप, गुण आदि के मोह से उत्पन्न होता है और अपने विशुद्ध रूप मे सदा स्वार्थ-रहित होता है। स्वार्थ-साधन की भावना इसके लिए घातक ही होती है। अनेक अवसरो पर यह बडे-बडे स्वार्थ-त्याग भी कराता है। यह छोटे-बडे, शिक्षित-अशिक्षित सभी प्रकार के लोगों मे होता है, यहाँ तक कि कभी-कभी भिन्न प्रकार और विरोधी प्रकृति के जीव-जन्तुओ तक में देखा जाता है। इसमे सुख और सन्तोष के सिवा और कोई प्रतिफल न तो मिलता ही है और न उसकी कामना ही की जाती है। देश, साहित्य आदि से होनेवाला **प्रेम** इसी वर्ग मे आता है। शृगारिक क्षेत्रवाले प्रणय से इसे मिलाना ठीक नहीं है।

अनुराग शब्द राग मे 'अनु' उपसर्ग लगने में बना है। राग का मुख्य

अर्थ है—उग्र मनोविकार और विशेषत काम-वासनावाला विकार। इसका विपर्याय 'विराग' है। किसी विषय या व्यक्ति की ओर शुद्ध भाव से मन लगना ही **अनुराग** है। इसका प्रयोग प्राय अच्छे अर्थो मे ही होता है। जैसे—कविता या देश के प्रति होनेवाला अनुराग। शृ गारिक क्षेत्र मे यह आरम्भिक या हलके **प्रेम** का भी सूचक होता और प्राय **स्नेह** का अर्थ देता है। व्यक्तियो के विचार से यह एक पक्ष में भी हो सकता है और दोनो पक्षों मे भी। हो सकता है कि किसी व्यक्ति के प्रति हमारा **अनुराग** तो हो, पर वह हमसे अलग या दूर रहना चाहता हो। **आसक्ति** वह है जिसमे मन दूसरी बातो या व्यक्तियो से बहुत-कुछ हटकर विशेष रूप से किसी एक बात या व्यक्ति मे लगा रहता है और जल्दी उससे अलग नहीं होना चाहता। यह **अनुराग** का कुछ बटा हुआ और बिलकुल एक-पक्षीय रूप है। इसमे दूसरी ओर से किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं होती, हाँ उससे प्राप्त होनेवाले प्रतिफल (सुख, सन्तोष आदि) की कामना अवश्य रहती है। **मोह** स० मुह् से बना है, जिसके अर्थ हैं—स्तब्ध या चेतना-हीन होना, घबराना, चकित होना, भूलना, भटकना आदि। मुख्यतः यह मन की उस अवस्था का वाचक है जिसमे मनुष्य भ्रम के कारण सत्य का ठीक स्वरूप पहचानने मे असमर्थ हो जाता है। इसी लिए धार्मिक क्षेत्र मे यह उस स्थिति का वाचक हो गया है जिसमे मनुष्य ईश्वर या ब्रह्म को भूलकर भौतिक जगत को ही सत्य समझने लगता है, और उसके फेर मे पडकर धोखा खाता और हानि सहता है। इसका एक अच्छा उदाहरण रामायण मे '**नारद-मोह**' के प्रकरण में आया है जो बहुत प्रसिद्ध है। लौकिक क्षेत्र मे इसका अर्थ होता है—किसी चीज के झूठे प्रेम मे इस प्रकार फँसना कि न्याय, सत्य आदि का उचित ध्यान न रह जाय। जहाँ हमे समझदारी से काम लेना चाहिए, वहाँ यदि हम किसी मनोविकार के फेर मे पड़कर ना-समझी का काम करने लगे, तो यह हमारा **मोह** कहलावेगा। जिस **अनुराग** या **आसक्ति** के कारण हमारी बुद्धि पर परदा पड़ जाय, वही **मोह** है। साहित्य मे यह ३३ सचारी भावो मे से एक माना गया है; और चिन्ता, दु ख, भय आदि के कारण होनेवाली विकलता को इसका लक्षण कहा गया है। **व्यामोह** के मूल अर्थ तो हैं—चेतना का नाश, मन की विकलता

आदि, वर साधारणतः लोक-व्यवहार में यह भी **मोह** का ही पर्याय हो गया है। **मोह** और **व्यामोह** मे अन्तर यही है कि **माह** तो मुख्यतः धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों का शब्द है, पर **व्यामोह** बिलकुल सार्विक शब्द है, और मन की उस स्थिति का वाचक है, जिसमे मनुष्य किसी चीज या बात के धोखे या फेर मे पडकर इधर-उधर भटकने लगता है या अपने कर्त्तव्य अथवा उचित मार्ग से च्युत हो जाता है। **प्यार** और **प्रीति** लौकिक व्यवहार के और समानार्थी शब्द हैं और प्राय बराबरी के भाव से युक्त हैं। इनमे **अनुराग**वाले तत्त्व भी हैं और **स्नेह**वाले तत्त्व भी। अर्थात् शृ गारिक क्षेत्र मे भी इसका प्रचलन है और सामाजिक क्षेत्र मे भी। **प्रणय** मुख्यत शृ गारिक क्षेत्र का शब्द है। यह स्त्री-पुरुष के उस प्रेम का वाचक है जो साधारण **अनुराग** या **स्नेह** से बहुत-कुछ आगे बढा हुआ होता है। इसमे विशुद्ध **प्रेम**वाली उत्कृष्टता का भी कुछ भाव है और दृढता तथा पुष्टता का भी। **मित्रता** बहुत-कुछ बुद्धि तथा वय से सम्बन्ध रखती और प्राय बराबरी-वालों मे तथा स-कारण होती है। सस्कृत मनवाले लोगों मे ही **मित्रता** होती है, अ सस्कृत मन और अ-परिपक्व बुद्धिवालो मे नहीं होती। यह किसी प्राकृतिक सम्बन्ध की अपेक्षा नही रखती, हाँ परिस्थितियो और स्वाभाविक समानताओ से अवश्य उत्पन्न होती और समय पाकर दृढ तथा स्थायी होती है। इसकी एक विशेषता यह है कि यह मित्र के लिए बहुत-कुछ स्वार्थ-त्याग भी कराती है। **मित्र-भाव** वह है जिसमे वास्तविक **मित्रता** न होने पर भी बहुत-कुछ वैसा ही आचरण या व्यवहार किया जाता है, जैसा मित्रो मे होता है। हम किसी अपरि-चित या विरोधी से भी **मित्र-भाव** से मिलते हैं। **लगन** (हि० लगना) भी वही है जो **आसक्ति** है, फिर भी **लगन** का प्रयोग मन की वह वृत्ति सूचित करने के लिए होता है, जिसमे मनुष्य एकाग्र चित्त तथा शान्त भाव से किसी बात या काम मे लगता है। जैसे—भजन या सगीत की **लगन**। शृ गारिक क्षेत्र मे किसी के दर्शन की भी लगन हो सकती है। **सख्य** वह स्थिति है जिसमे किसी का सग-साथ रहने पर उसके प्रति मित्रो का-सा और **सौहार्द**पूर्ण आचरण तथा व्यवहार हो। यह व्यक्तियों और समाजों मे होता है। **सद्भाव** का शब्दार्थ है—अच्छा भाव या

विचार। प्रस्तुत प्रसग में इसका अर्थ होता है —किसी व्यक्ति के प्रति मन में अच्छे भाव या विचार रखना; उसके अनिष्ट, अपकार आदि का विचार न करना। यह एक ओर से भी हो सकता है और दोनो ओर से भी। इसके लिए शुभ कामना का भाव आवश्यक होता है, और मन मे किसी प्रकार का द्वेष या विरोध नहीं रहने दिया जाता। इसी को **सद्भावना** भी कहते हैं। **स्नेह** का एक अर्थ चिकनापन और दूसरा अर्थ तेल भी है। प्रस्तुत प्रसग मे यह मनुष्यों के ऐसे आपसी व्यवहार का सूचक है, जिसमे पारस्परिक वैर-विरोध आदि के लिए कोई अवकाश न हो, और साथ मिलकर बैठने और बात-चीत करने में विशेष आनन्द या सुख मिलता हो। व्यवहार में रूखापन नहीं होना चाहिए, स्निग्धता होनी चाहिए, यही स्नेह है। यह स्वाभाविक भी हो सकता है और **मित्रता** की तरह सग-साथ से उत्पन्न भी। **अनुराग** से स्नेह कुछ बढा हुआ तो होता ही है, इसके सिवा इसमे कुछ और अन्तर भी है। **अनुराग** तो मूर्त और अमूर्त दोनों के प्रति हो सकता है, पर स्नेह सदा व्यक्तियो में ही होता है। हम कहते हैं—नये कार्यकर्त्ताओं मे परस्पर बहुत स्नेह है। आशय यही होता है कि वे लडते-झगडते नहीं, और अच्छी तरह मिलकर सब काम करते हैं। **सौहार्द** सदा दो व्यक्तियों या पक्षों मे होता है। इसका अस्तित्व उसी दशा मे माना जाता है, जब दोनो ओर यथेष्ट और समान सद्भाव हो। यह उतना दृढ और पुष्ट नहीं होता, जितनी **मित्रता** होती है। इतना ही होता है कि इसमे एक दूसरे के मगल और हित का उचित ध्यान रखा जाता है।

———

बड़ा (Large)

बृहत् (Enormous) महान् (Great)
भारी (Big आंशिक रूप में) विशाल (Colossal आंशिक रूप में)
महत् (Stupendous)

बड़ा (स० वड्ढ) वह कहलाता है, जो अपने क्षेत्र या वर्ग मे साधारणत औरों की तुलना मे आकार, महत्त्व, मान, विस्तार आदि के विचार मे बहुत कुछ आगे बढा, ऊपर उठा या इधर-उधर फैला हो। इसका विपर्याय **छोटा** है; अत कहा जा सकता है कि जिसके सामने उस तरह के और सब छोटे जान पडते हों, वही बडा है। किसी के चार लडकों मे से जो पहले पैदा हुआ हो, वही बडा होगा, चार चित्रों मे से अधिक लम्बाई-चौडाईवाला चित्र बड़ा होगा, और चार आदमियो मे अधिक वय, विद्या, बुद्धि, धन-सम्पति आदि मे औरो से प्रमुख बड़ा कहलावेगा। कमरा, नदी, पहाड़, मैदान, लकडी, सन्दूक सभी अपने वर्ग मे दूसरे छोटों की तुलना मे बडे हो सकते हैं। **भारी** (स० भार) मूलत वह कहलाता है, जिसका या जिसमे भार अधिक हो—जो तौल मे अधिक हो। जैसे—भारी कम्बल, भारी पत्थर, भारी बोझ, भारी शरीर आदि। पर अपने विस्तृत अर्थ मे इसका प्रयोग वहाँ होता है, जहाँ आकार, मान आदि की अधिकता सूचित करना अभीष्ट होता है। कोई पदार्थ या व्यक्ति बड़ा तो बहुधा औरों की तुलना मे ही होता है, पर **भारी** होने मे तुलना का उतना अधिक भाव नहीं है, जितना स्वयं उस पदार्थ या व्यक्ति के भार* का। हमारे लिए काम भी भारी हो सकता है, चलना भी और सकट भी। इस दृष्टि से जिसका निर्वाह या वहन करना कठिन हो वह भी हमारे लिए **भारी** होता है। इसी से लाक्षणिक रूप में† ऐसे प्रयोग भी

* यहाँ भार का प्रयोग उसके परम विस्तृत और व्यापक अर्थ में किया गया है, जिसमें सभी प्रकार के महत्त्वो का अन्तर्भाव होता है।

† हमारे यहाँ लाक्षणिक रूप मे भारी के जैसे प्रयोग होते हैं, वैसे अँगरेजी मे बिग (Big) के नही होते। इसी लिए हमने ऊपर इसे आंशिक रूप में ही भारी का समानक माना है।

होते हैं—(क) हमारा दो दिन वहाँ ठहरना उसके लिए **भारी** हो गया, (ख) बीमारी की हालत मे दिन बिताना **भारी** होता है, आदि। हम यह भी कहते हैं—(क) हमे देखते ही उसका मुँह **भारी** हो जाता है, या (ख) आज मन कुछ **भारी** जान पडता है। ऐसे अवसरों पर मुँह या मन पर किसी प्रकार के मानसिक भाव का भार आ पड़ना सूचित होता है। **बृहत्** वह कहलाता है, जो आकार, मान, विस्तार आदि के विचार से औरो से बहुत आगे बढा हुआ हो, और इस दृष्टि से यह बडो की तुलना मे भी बहुत बडा होता है। इसमे साधारण सीमाओं से बहुत आगे बढे हुए होने का भाव मुख्य है। **बृहत्** जन-समूह, **बृहत्** शब्द-कोश, **बृहत्** साम्राज्य आदि प्रयोगो मे बडे-बडे जन-समूहो, शब्द-कोशों और साम्राज्यों की तुलना मे भी बहुत बडे होने का भाव है। **महत्** और **महान्** अर्थ और व्युत्पत्ति दोनो के विचार से बहुत कुछ एक ही हैं। इनकी विशेषता यही है कि ये अश, मर्यादा, योग्यता आदि की यथेष्ट अधिकता या विपुलता के सूचक शब्द हैं। मुख्य रूप से इनका प्रयोग या तो अमूर्त्त भावनाओ के सम्बन्ध मे या उनसे युक्त व्यक्तियो आदि के सम्बन्ध मे होता है, पर वे भावनाएँ मगलकारक या शुभ होनी चाहिएँ। जैसे—महती (महत् का स्त्री०) कृपा, **महान्** कलाकार आदि। महात्मा, महादेश आदि मे का महा भी इसी महान् का एक रूप है। **विशाल** का मुख्य अर्थ है—आकार, महत्त्व, विस्तार, शक्ति आदि के विचार से बहुत बडा। पर यह बडप्पन ऐसा होना चाहिए जो या तो हमे चकित कर सके या जल्दी जिसकी हम कल्पना भी न कर सके। जैसे—भारत **विशाल** देश है। कुछ अवस्थाओं मे इसका प्रयोग केवल भव्यता, श्रेष्ठता, सुन्दरता आदि की अधिकता सूचित करने के लिए भी होता है। जैसे—**विशाल** नेत्र, **विशाल** बाहु, **विशाल** हृदय आदि।

बदनामी (Scandal)

अपवाद (Obloquy) **अपयश** (Ignominy)
अपकीर्त्ति (Infamy) **कुख्यति** (Ill-repute)

बदनामी फारसी भाषा का शब्द है, और इसका अर्थ है—किसी के नाम के सम्बन्ध मे लोक मे होनेवाली निन्दा। जब कोई अच्छा या प्रतिष्ठित आदमी नीति और मर्यादा के विरुद्ध कोई काम कर बैठता है, तब समाज मे उसकी जो निन्दात्मक चर्चा फैलती है, वही **बदनामी** है। अर्थात् कोई अनुचित या निन्दनीय काम करने पर समाज मे जो विपरीत धारणा फैलती है, वही जन-साधारण की चर्चा का विषय बनने पर **बदनामी** कहलाती है। यदि कोई बहुत बडा अधिकारी बहुत बडी रकम रिश्वत मे ले ले, या खुलकर अन्याय, पक्ष-पात या स्वार्थ-साधन करने लगे अथवा कोई बडा नेता या रईस किसी प्रकार चरित्र-भ्रष्ट हो जाय, तो समाज को पता चलने पर जगह-जगह उसकी जो चर्चा होने लगेगी, वही उसकी बदनामी होगी। जो आदमी जितना ही बडा या मान्य होगा, उसकी **बदनामी** भी उतनी ही बडी होगी। **अपवाद** भी बहुत कुछ वही है, जो **बदनामी** है, पर यह **बदनामी** की अपेक्षा कुछ हलका और प्राय क्षणिक या अ-स्थायी होता है, और इसका क्षेत्र भी अपेक्षया कुछ कम विस्तृत होता है। इसका सम्बन्ध बहुधा किसी एक कार्य या घटना से होता है, और हो सकता है कि बहुत-से लोग किसी **अपवाद** को ठीक न भी माने। मनुष्य **बदनामी** के कारण समाज की दृष्टि मे जितना अधिक गिर जाता है, उतना अधिक **अपवाद** के कारण नहीं गिरता। **अपकीर्त्ति** और **अपयश** भी इस दृष्टि से बहुत-कुछ एक हैं कि कीर्त्ति और यश एक दूसरे के पर्याय माने जाते हैं, फिर भी दोनो मे कुछ अन्तर अवश्य है। (दे०—'प्रशसा' के अन्तर्गत 'कीर्त्ति') **अपकीर्त्ति** बहुधा ऐसा अनुचित काम करने पर होती है, जो पहले की अर्जित कीर्त्ति के लिए घातक सिद्ध हो। **अपकीर्त्ति** उसी की होगी, जिसकी पहले से कुछ कीर्त्ति चली आ रही हो, पर **अपयश** के लिए यह आवश्यक नहीं है कि पहले का कुछ यश वर्त्तमान भी हो। एक साधारण आदमी को भी बिना कुछ किये, केवल घटना-चक्र या सयोग से ही **अपयश**

मिल सकता है। हम कहते—इस रोगी का मरना तो अवश्यम्भावी था, पर बेचारे हकीम जी के भाग्य मे व्यर्थ का **अपयश** बदा था। अर्थ के विचार से **कुख्याति** भी बहुत कुछ वही है, जो **बदनामी** है; फिर भी दोनो मे कुछ अन्तर है। **बदनामी** किसी एक काम या बात से भी हो सकती है, पर **कुख्याति** प्राय निरन्तर छोटे-मोटे बहुत-से अनुचित काम करते रहने पर ही होती है। अर्थात् कुख्यात व्यक्ति के सम्बन्ध मे लोग प्राय यही समझते हैं कि यह बराबर कुछ बुरे काम करता रहता है।

बाधा (Obstacle)

अड़चन, अड़चल (Hinderance,)	**बाध** (Bar)
अर्गल (Clog)	**रुकावट** (Impediment)
अवरोध (Obstruction)	**रोक**=१. रुकावट, २. बाधा
कठिनता (Difficulty)	**रोध** (Check)
परिघ (Barrier)	**विघ्न**=बाधा

बाधा स० बाध से बना है, जिसके अर्थ हैं—कसना, दबाना, बांधना आदि; और इसी लिए इन क्रियाओं के फल-स्वरूप होनेवाले कष्ट, रुकावट, विरोध आदि के सूचक भाव भी इस शब्द के साथ सम्बद्ध हो गये हैं। पर मुख्यत यह उस अवस्था, तत्त्व, बात या स्थिति का वाचक है जो कोई काम करते समय हमारे मार्ग मे अथवा सामने आकर हमे वह काम करने से कुछ समय के लिए रोकती है; और जब तक हम उसे दूर नहीं कर लेते, तब तक हमारा काम पूरा नहीं होता। अर्थ की दृष्टि से यह बहुत व्यापक शब्द है; और किसी न किसी रूप में इस वर्ग के सभी शब्दो का इसमे अन्तर्भाव हो जाता है। यह इन सभी शब्दो के स्थान पर प्रयुक्त होता है अथवा हो सकता है। कभी तो स्वय काम का स्वरूप ही बाधा-

मय हो जाता है और कभी परिस्थियाँ अथवा दूसरे लोग हमारे मार्ग में बाधाएँ खडी करते हैं। सस्कृत मे विशेषण रूप मे विघ्न का अर्थ है—तोड़ने-फोड़ने या नष्ट करनेवाला। परन्तु सज्ञा रूप मे हिन्दी मे इसका अर्थ भी बहुत-कुछ वही है जो बाधा का है। दोनों शब्द एक दूसरे के समानक हैं। फिर भी कुछ अवस्थाओं मे दोनों का एक साथ यौगिक रूप मे भी प्रयोग होता ही है। हम कहते हैं—भारत ने सभी विघ्न-बाधाएँ पार करके अन्त मे स्वतन्त्रता प्राप्त कर ही ली। ऐसे अवसरो पर विघ्न ऐसी बातो का सूचक होता है जो हमें अपने नाशक प्रभाव के कारण विफल और हतोत्साह करना चाहती हैं, और बाधा उन तत्त्वो की सूचक होती है जो हमारा रास्ता रोकना चाहते हैं। कठिनता भी बाधा की ही तरह व्यापक अर्थवाला शब्द है, पर इसका सम्बन्ध मुख्यत कार्य के स्वरूप से ही है। यह शब्द ऐसी दशा या परिस्थिति का सूचक है जिसमें ऐसे विकट प्रसग हमारे सामने आते हैं जो विशेष कौशल, धैर्य, परिश्रम आदि की अपेक्षा रखते हैं। यदि मनुष्य मे ये गुण न हों तो वह कठिनता दूर नहीं कर सकता। योग्य व्यक्तियों के लिए कठिनता दूर करना प्राय सहज ही होता है।

अडचन शब्द का ठीक, पुराना, व्युत्पत्तिक और स्थानिक रूप अडचल है, जो अडना (=रुकना) + चलना के योग से बना है। चलते-चलते बीच मे अडना या रुकना ही भावत अडचन या अडचन है। आज-कल अधिकतर अडचन ही बोला और मानक रूप माना जाता है। किसी वस्तु की क्रिया या व्यक्ति के काम मे अथवा उसकी गति, वृद्धि आदि मे रह रहकर जो छोटी-मोटी कठिनाइयाँ, बाधाएँ या रुकावटे सामने आती हैं, उन्ही को अड़चन कहते हैं। अडचन से कार्य आरम्भ या समाप्त करने मे प्राय देर होती है, और उसके कर्त्ता को चिन्तित होकर अधिक प्रयत्न करना पडता है। रुकावट हि० रुकना का भाव-वाचक रूप है। अर्थ के विचार से है तो यह भी बहुत कुछ अड़चन के ही समान, पर इसमे रुकने या ठहरने का भाव ही प्रधान है। यह आप से आप भी हो सकती है और किसी दूसरे के प्रयत्न के फल-स्वरूप भी। इसके कारण कार्य कुछ समय के लिए रुक या ठहर जाता है। अड़चन की तुलना मे रुकावट कुछ अधिक चिन्ताजनक होती है। अड़चनो से पार पाना तो उतना कठिन नहीं

होता, पर **रुकावटें** दूर करना प्राय अधिक श्रम-साध्य होता है। **रुकावट** मे कठिनाइयों या बाधाओ का रूप अपेक्षया अधिक उग्र या तीव्र होता है। **रोध** और **अवरोध** है तो बहुत कुछ एक ही, फिर भी दोनों में कुछ अन्तर है। एक तो **रोध** की अपेक्षा **अवरोध** अधिक तीव्र या विकट होता और प्राय अधिक समय तक काम को रोक रखता है। दूसरे, **रोध** मे रोक रखने की क्रिया या भाव प्रधान है; पर **अवरोध** मे उस बात या तत्त्व की प्रधानता है, जो रोकने मे समर्थ और सफल होती है। तीसरे, **रोध** तो काम ही रोकता है, पर **अवरोध** उसका मार्ग बन्द कर देता है। इनके कारण काम कुछ देर के लिए, पूरी तरह से और बिलकुल बन्द-सा हो जाता है, और इस दृष्टि से ये शब्द **अड़चन** और **रुकावट** से बहुत कुछ आगे बढे हुए होते हैं। कुछ अवस्थाओं मे **रोध** केवल काम को जाँच अथवा उसकी गति, स्वरूप आदि ठीक रखने के उद्देश्य से भी हो सकता है; पर **अवरोध** का उद्देश्य काम को रोक रखना भर होता है, उसमे सुधार आदि करना नहीं। अधिकारी या मालिक अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कामों की देख रेख रखने के लिए उन पर अनेक प्रकार के **रोध** रखते हैं, पर युद्ध-क्षेत्र मे शत्रुओं के मार्ग मे **अवरोध** खड़े किये जाते हैं, जिससे वे आगे न बढ सकें। **अर्गल** और **परिघ** एक ही वर्ग के शब्द हैं और मूलत एक दूसरे के समानक भी हैं। पुराने जमाने में घर का दरवाजा बन्द करके अन्दर से लकड़ी का मोटा डंडा दोनों ओर की दीवारों मे किये हुए गड्ढो मे इस प्रकार फँसाकर बेडे बल मे लगा दिया जाता था कि बाहर से धक्का देने पर दरवाजा अन्दर की तरफ खुल न सके। यही डडा **अर्गल** या **परिघ** कहलाता था। लाक्षणिक रूप मे ये दोनों शब्द उस अवरोधक तत्त्व के सूचक हैं जो किसी काम को यथा-साध्य पूरी तरह से रोक रखने में समर्थ होते हैं। इनका उद्देश्य काम को रोक रखना और आगे बढने न देना ही होता है। व्यावहारिक रूप मे और मान के विचार से **अर्गल** प्राय छोटे और हलके तत्त्व का सूचक है, और **परिघ** प्राय बड़े और भारी तत्त्व का। **रोक** और **बाध** एक वर्ग के शब्द हैं। **रोक** का एक साधारण अर्थ रुकावट तो है ही, पर उसका दूसरा अर्थ बहुत कुछ वही है, जो **बाध** का है। **बाध** वह तत्त्व या वस्तु है जो किसी को आगे बढने से अस्थायी अथवा स्थायी रूप से रोकने

जिससे हम सब बातें सोचते-समझते हैं, बुराई-भलाई का विचार करते हैं, आगे-पीछे या ऊँच-नीच का ध्यान रखते हैं और इन सब बातों के आधार पर उचित रूप से अपने सब काम करते हैं। इन्ही तत्त्वो से युक्त मनुष्य **बुद्धिमान्** कहलाता है। यह विशेषता मनुष्य के परिष्कृत मन और सुन्दर आचारण तथा व्यवहार की भी सूचक है, और बहुत कुछ ईश्वर-दत्त होने के सिवा शिक्षण, प्रशिक्षण आदि से भी प्राप्त होती है। जो सब प्रकार की अवस्थाओ, परिस्थितियों, व्यक्तियों, व्यवहारों आदि से भली भाँति परिचित होता है, सब बातो और वस्तुओं का ठीक तरह से उपयोग करना जानता है और जिसे बहुत-सी बातों का अच्छा ज्ञान और अनुभव होता है, वही **बुद्धिमान्** कहलाता है। **बुद्धिमान्** माता-पिता अपने बच्चों को और **बुद्धिमान्** शिक्षक अपने विद्यार्थियों को सदा अच्छी बातें सिखलाते और अच्छे रास्ते पर लगाते हैं, और **बुद्धिमान्** मित्र हमें सदा अच्छी सलाह देते हैं। यो **बुद्धिमान्** और **समझदार** समानक समझे जाते हैं, पर दोनो मे बहुत-कुछ अन्तर है। (दे०—'मन' के अन्तर्गत 'बुद्धि' और 'समझ') **समझदार** हिं० समझ मे फा० प्रत्यय दार लगाकर बनाया गया है। समझ हमारी वह मनोगत शक्ति है जिसकी सहायता से हम बाहरी या सासारिक वस्तुओं से सम्बन्ध स्थापित करके उनका अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त करते हैं। जिसमे औरों की तुलना मे यह शक्ति अधिक और स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, उसे हम **समझदार** कहते हैं। व्यवहारत हम अपने कुत्ते या घोड़े को **समझदार** तो कह सकते हैं, पर **बुद्धिमान्** नही कह सकते। कारण यही है कि कुत्ते या घोडे मे समझवाला तत्त्व तो स्पष्ट दिखाई देता है, पर बुद्धि के और और कार्य नही दिखाई देते। **चतुर** (स०) और **चालाक** (फारसी) दोनो बहुत-कुछ समानक हैं। **चतुर** वह कहलाता है जो नित्य के सब काम बहुत समझ-बूझकर, अच्छे ढंग से और सहज मे करना जानता हो। इस शब्द में बुद्धि की तीव्रता का उतना अधिक भाव नही है, जितना कोई बात जल्दी समझने और कोई काम अच्छी तरह कर सकने का भाव है। यह गुण अधिकाश मे प्राकृतिक या स्वाभाविक होता है। मनुष्य बात-चीत करने, नये काम सीखने, लोगो के साथ ठीक व्यवहार करने आदि मे **चतुर** हो सकता है। कलाकार, चिकित्सक, वकील सभी अपने-अपने काम मे **चतुर** हो सकते

हैं। यों **चालाक** का मूल अर्थ भी प्राय वही है जो **चतुर** का है, पर आज-कल **चालाक** मे धूर्त्तता के क्षेत्र का एक दूषित भाव भी आ लगा है, और अधिकतर इसी दूषित अर्थ मे इसका प्रयोग भी होता है*। **चालाक** का व्युत्पत्तिक सम्बन्ध स० चल (हिं० चाल=चलने की क्रिया या भाव) से है, और इसी लिए **चालाक** और चालाकी से चालबाज और चालबाजी शब्द भी सम्बद्ध हैं। **चालाक** का भाव-वाचक रूप चालाकी प्राय हलके छल-कपट या धूर्त्तता का वाचक हो गया है। यदि हम कहें—'वह बहुत **चतुर** है।' तो इससे कार्य-कुशलता और बुद्धिमत्ता-वाला भाव ही प्रकट होगा। पर यदि हम कहें—'वह बहुत **चालाक** है।' तो लोग यही समझेंगे कि वह चालबाज या धूर्त्त है। आर्थी दृष्टि से **विचक्षण** और **सयाना** भी इसी वर्ग मे आते हैं। **विचक्षण** का शब्दार्थ है—वह जो अच्छी तरह देख सकता हो। पर प्रस्तुत प्रसग मे **विचक्षण** वह कहलाता है जो सब बातों की तह तक पहुँचकर और अच्छी तरह सोच समझकर सब कार्य और निर्णय करता है। इसमे दूर-दर्शी होने का भी कुछ भाव मिला है। **सयाना** स० सज्ञान से व्युत्पन्न है। इसमे **विचक्षणता** और **समझदारी** से बहुत-सी बातें जानने और अनेक प्रकार के अनुभव रखने का भाव भी सम्मिलित है। **तेज** (विशेषण) यद्यपि फारसी शब्द है, पर उसकी व्युत्पत्ति स० तेज या तेजस् (सज्ञा) से ही है। **तेज** होने के लिए **चतुर** और **समझदार** होना तो आ-वश्यक होता ही है, पर कुछ ऐसी तत्परता और फुरतीलापन भी आवश्यक होता है, जिससे आदमी औरो से जल्दी आगे बढ सके या पहले और ठीक तरह से काम पूरा कर सके। **प्रज्ञ** और **विवेकशील** बहुत-कुछ एक वर्ग के शब्द हैं। **प्रज्ञ** (दे०—'मन' के अन्तर्गत 'प्रज्ञा') का साधारण अर्थ है—अच्छी तरह जानने-वाला। पर प्रस्तुत प्रसग मे **प्रज्ञ** वह कहलाता है जो जानी, समझी और सीखी हुई बातो का ठीक तरह से उपयोग करके उचित निष्कर्ष निकाल सकता हो, और

---

* अँगरेजी के क्लेवर (Clever) का अर्थ चतुर भी होता है और चालाक भी, अर्थात् उस एक ही शब्द में हमारे यहाँ के इन दोनों शब्दो का अन्तर्भाव होता है।

ऐसे निष्कर्ष के आधार पर सब कार्य और विचार कर सकता हो। ऐसा व्यक्ति न तो जल्दी आवेश मे ही आता है, न इधर-उधर की सुनी-सुनाई बातो पर सहसा विश्वास ही करता है। विवेकशील मनुष्य साधारणत प्रज्ञ तो होता ही है, पर उसकी मुख्य विशेषता यह होती है कि वह सदा अपने विवेक के अनुसार सब काम करता है। ऐसा आदमी सदा सीधा और सच्चा होता है। वह जो कुछ उचित तथा न्याय-सगत समझता है, वही करता या कहता है; जिसे वह अनुचित या अन्याय-पूर्ण समझता है, उससे सदा अलग या दूर रहता है। प्रत्युत्पन्न-मति हमारे यहाँ का पुराना शब्द है, पर उपस्थित-बुद्धि इधर हाल का और अँगरेजी साँचे मे ढालकर बनाया हुआ शब्द है। परन्तु अर्थ या आशय की दृष्टि मे दोनो प्राय एक ही हैं। प्रत्युत्पन्न-मति उसे कहते हैं जो उपयुक्त अवसर आते ही अथवा विकट स्थिति उत्पन्न होते ही तुरन्त सब बातें समझकर उचित कार्य कर सके अथवा ठीक बात कह सके। इसमे तात्कालिक तत्परता और समझदारी के तत्त्व प्रधान हैं। ऐसा व्यक्ति जल्दी कहीं धोखा नही खाता, और सकट के समय भी बिना विचलित हुए अपने बचाव का रास्ता निकाल लेता है। इसकी मुख्य विशेषता यही होती है कि जहाँ और लोग असमजस या गडबडी मे पड जाते हैं, वहाँ यह अपनी बुद्धि से तत्काल ठीक काम कर लेता या उचित उत्तर दे देता है। ऐसा आदमी जल्दी कही चूकता नहीं।

ब्रह्माण्ड (Cosmos)

आकाश-गंगा (Milky way)
उपग्रह (Satellite)
उल्का (Meteor)
केतु=पुच्छल तारा
ग्रह (Planet)
छाया-पथ (Galaxy)
तारा (Star)
तारा-पुंज (Asterism)
धूम-केतु=पुच्छल तारा
नक्षत्र (Constellation)
नीहारिका (Nebula)
पुच्छल तारा (Comet)
विश्व (Universe)
सौर जगत् या मंडल (Solar System)

ब्रह्मांड (स० ब्रह्म + अड) की ठीक-ठीक कल्पना करने के लिए पहले विश्व का रूप जानना आवश्यक है। विशेपण रूप मे विश्व का अर्थ है—कुल, सब या समस्त। पर सज्ञा रूप मे इसका अर्थ होता है—वह सब कुछ, जो हमे दिखाई देता है या जिसे हम जानते हैं। इस आधार पर इसका अर्थ सारा जगत् या ससार (दे०—पृथ्वी) होता है। पर व्यापक अर्थ मे विश्व उस समस्त सृष्टि का सूचक है, जो हमे दिन के सिवा रात के समय भी आकाश मे लाखों-करोडो ग्रह-नक्षत्रो आदि के रूप मे दिखाई देती है। इस प्रकार आँखों से हमे जो कुछ दिखाई पडता है, उस सब का अन्तर्भाव विश्व मे होता है। पर वैज्ञानिकों का मत है कि जहाँ तक हमारी दृष्टि पहुँचती है, उसके बाहर भी चारो ओर बहुत दूर दूर तक ऐसी ही सृष्टि या विश्व फैला हुआ है (दे०—ज्यौतिष), और ऐसी अनन्त सृष्टियों या विश्वो का पूरा विस्तार ब्रह्मांड कहलाता है। ब्रह्मांड का शब्दार्थ है—ब्रह्म का अड। ब्रह्म ने जो ये समस्त सृष्टियाँ रची है और जो अनुमानत एक बहुत बडे अडे के रूप मे फैली हैं, उन सब का सामूहिक नाम ब्रह्मांड है। न तो काल के विचार से, न विस्तार के विचार से और न इसमे नित्य बनते-बिगडते रहनेवाले पिंडों के विचार से ही इसकी ठीक और पूरी कल्पना की जा सकती है।

नई-नई दूरबीनों और साधनों से हमारा ज्ञान और भी बढता जा रहा है। आज से ५-७ वर्ष पहले तक यह ब्रह्मांड जितना बडा माना जाता था, अब उसका तिगुना और चौगुना बडा माना जाने लगा है। अब तक समझा जाता था कि इसका आरम्भ दो अरब वर्ष पहले हुआ होगा। पर अब कहा जाता है कि कम से कम ६ अरब वर्षों से इसका क्रम चल रहा है और यह बराबर बढता जा रहा है। पहले इसके तारों की सख्या लाखों तक ही मानी जाती थी, पर अब वह करोडों क्या, अरबों तक मानी जाने लगी है। पर वस्तुत यह सभी दृष्टियो से अनादि और अनन्त है*। जहाँ तक जीवन और रूप का विस्तार हो, वहाँ तक ब्रह्माड ही है। हमारा विश्व इसी ब्रह्माड का एक अश मात्र है, और वह भी कदाचित् बहुत ही छोटा अश है। नई खोजों से पता चलता है कि इसका विस्तार बराबर बढता भी जा रहा है।

रात के समय हमे आकाश मे उत्तर-दक्षिण फैली हुई एक बहुत चौडी चमकीली पट्टी-सी दिखाई देती है, जिसे हम **आकाश-गगा** कहते हैं। यह वास्तव मे अरबों-खरबों वैसे ही चमकीले पिंडों या तारों का समूह है, जैसे लाखों पिंड या तारे हमें रात के समय आकाश मे दिखाई देते हैं। ये तारे हमसे अरबों-खरबों मील दूर होने पर भी अपेक्षया बहुत ही पास हैं; और इसी लिए ये तारों के रूप मे हमे दिखाई देते हैं। पर **आकाश-गगा** इससे बहुत अधिक आगे या दूर है, और इसी लिए उसके अलग-अलग तारे हमे अलग-अलग नहीं दिखाई देते, सब मिलकर एक सड़क-सी जान पड़ते हैं। बहुत बडी-बड़ी दूरबीनों से उसमे के कुछ तारे अवश्य दिखाई देते हैं, और इसी से यह अनुमान होता है कि इसमें सब तारे ही तारे होंगे।

तारा वह पिंड है जो रात के समय हमे आकाश में विन्दु की तरह चमकता हुआ दिखाई देता है। जो तारे हमे बिना दूरबीन की सहायता के दिखाई देते हैं, उनकी संख्या हजारों-लाखों तक और बडी बड़ी दूरबीनों की सहायता से

*** विश्व की अनन्तता का आभास पाने के लिए साहित्य-रत्नमाला कार्यालय, बनारस से प्रकाशित 'देव-लोक' नामक उपन्यास देखें।**

दिखाई पडनेवाले तारो की सख्या करोडों तक पहुँचती है। साधारणत आकाश के सभी चमकीले पिड तारे कहलाते हैं; पर तात्त्विक और वैज्ञानिक दृष्टि से इनके दो भेद हैं। एक तो ऐसे तारे हैं जो सदा एक ही स्थान पर रहते हैं; या कम से कम सदा एक ही स्थान पर दिखाई देते हैं। पर बहुत-से ऐसे तारे भी हैं जो बराबर चलते और अपना स्थान बदलते रहते हैं। ग्रह, नक्षत्र, पुच्छल तारे आदि इसी दूसरे वर्ग मे है। अत तारे मुख्यत वही हैं जो सदा एक ही स्थान पर ठहरे रहते हैं या ठहरे हुए जान पडते हैं। रात के समय आकाश से कभी कभी जो छोटे चमकते हुए पिड पृथ्वी की ओर तेजी से आते हुए दिखाई देते हैं, उन्हे उल्का कहते हैं। ये वास्तव मे किसी आकाशस्थ पिंड के बहुत छोटे टुकड़े होते हैं जो उनसे टूटकर अलग होते और गिरते हैं। इनका वेग तीव्र होता है और इस अवस्था मे जब पृथ्वी के वातावरण से इनका सघर्ष होता है तो इनमे जो गरमी पैदा होती है, उसी के कारण ये चमकते हुए दिखाई देते हैं। कभी कभी बहुत भारी उल्काएँ भी पृथ्वी पर गिरती हैं। सितम्बर १६२८ मे उत्तर प्रदेश के जालौन जिले में ५० मन की उल्का गिरी थी।

छाया-पथ तारो के उस प्रकार के वर्ग या समूह को कहते हैं, जिसे हम आकाश-गगा कहते हैं और जिसका कुछ परिचय ऊपर दिया जा चुका है। हमें जो आकाश-गगा दिखाई देती है, वह हमारे विश्व का एक छाया-पथ ही है। वैज्ञानिको को अब तक ऐसे लगभग ८०० छाया-पथो का पता लग चुका है जो हमारी आकाश-गगा की तरह के, पर उससे भिन्न हैं। सम्भव है कि आगे चलकर अभी और छाया-पथो का भी पता लगे। यह भी पता चलता है कि ये छाया पथ एक दूसरे से बराबर दूर होते चले जा रहे हैं। इसका आशय यह होता है कि ब्रह्माड का विस्तार दिन पर दिन बटता जा रहा है। नीहारिका वह प्रकाश-पुज है जो आकाश मे कहीं-कहीं बहुत दूर तक घने कोहरे के रूप मे फैला हुआ दिखाई देता है। सम्भवत यह वही घनी भाप है जिससे समय समय पर नये तारों या आकाशस्थ पिंडों का उत्पन्न होना माना जाता है। हो सकता है कि इसके उदर मे बहुत-से तारा-पुंज हो। ब्रह्मांड में ऐसी छोटी-बडी अनेक नीहारिकाएँ फैली हैं जिनमे से एक नीहारिका हमारी आकश-गंगा से बहुत

कुछ मिलती-जुलती और कदाचित् आकार मे उसी के बराबर है। सम्भवत इन्ही मे करोडों मील व्यासवाले, जलती हुई आग के वे हजारों बड़े-बडे गोले हैं, जिनमे से लगभग सौ गोलों का पता अभी हाल मे तेजस् (रेडियो) ज्यौतिष (दे०—ज्यौतिष) की सहायता से लगा है, और जिनसे आगे चलकर नये-नये सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि उत्पन्न होते है। **सौर जगत्** या **सौर मडल** आकाशस्थ पिडों के उस वर्ग को कहते हैं जिसमे एक सूर्य प्रधान होता है; और कई ग्रह तथा उप-ग्रह उसकी परिक्रमा करते रहते हैं। हमारे सूर्य के साथ मगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, वरुण, पृथ्वी आदि ग्रह लगे हैं जो अपने अपने अक्ष पर घूमते हुए सूर्य की परिक्रमा करते हैं। कुछ **ग्रह** ऐसे भी होते हैं जिनके साथ एक या कई छोटे ग्रह भी लगे होते हैं। ये **उप-ग्रह** अपने **ग्रह** की परिक्रमा तो करते ही हैं, उनके साथ सूर्य की भी परिक्रमा करते हैं। चन्द्रमा हमारी पृथ्वी का ऐसा ही **उप-ग्रह** है। इसी प्रकार मगल के साथ दो, बृहस्पति तथा शनि के साथ नौ नौ, वरुण के साथ एक और वारुणी के साथ चार **उप-ग्रह** है। **नक्षत्र** का पहला अर्थ है—तारा; और दूसरा अर्थ है—तारा-पुज। प्राय कई तारे एक साथ मिले हुए या बहुत पास-पास रहते और सदा साथ ही चलते हैं। **तारो** का ऐसा वर्ग **तार-पुज** कहलाता है, पर आज कल हमारे यहाँ गणित या फलित ज्यौतिषों मे **नक्षत्र** उन विशिष्ट **तारा पुजो** को कहते हैं जो चन्द्रमा की कक्षा या भ्रमण मार्ग मे पडते हैं। पहले २७ **नक्षत्र** माने जाते थे, पर एक नये नक्षत्र का पता चलने पर अब इनकी सख्या २८ हो गई है। फिर भी हमारे यहाँ के फलित ज्यौतिष मे २७ ही **नक्षत्र** माने जाते हैं। प्रत्येक **नक्षत्र** मे कई-कई स्थिर तारे होते हैं, और उन तारों की बाह्य रेखाओ के योग से उनकी कुछ कल्पित आकृतियाँ भी मान ली जाती हैं। जैसे—अश्विनी मे तीन तारे है, जिनके योग से घोड़े के मुँह का आकार बनता है; और इसी लिए हम इसे अश्विनी कहते हैं। अनुराधा मे सात तारे हैं, जिनके योग से साँप का आकार बनता है। कुछ तारे ऐसे भी होते हैं जिनमे पीछे की ओर दूर तक झाड़ू की तरह बहुत लम्बी दुम लगी हुई दिखाई देती है। ऐसे तारे **धूम केतु** या **पुच्छल तारे** कहलाते हैं। ऐसे तारों का मुख्य अश तो ठोस होता है, पर यह दुमवाला अश बिलकुल धूएँ या भाप की तरह

और इतना पारदर्शी होता है कि उसके सामने रहने पर भी उस पार के तारे आदि प्राय स्पष्ट दिखाई देते हैं। ऐसे कुछ तारे तो एक निश्चित अंडाकार या दीर्घ वृत्त कक्षा मे चक्कर लगाते हैं, और कुछ का मार्ग बिलकुल अनिश्चित होता है। जिन पुच्छल तारों का मार्ग निश्चित होता है, वे नियत समय पर दिखाई भी देते हैं। जैसे—प्रसिद्ध हेली का पुच्छल तारा हर ७६ वे वर्ष दिखाई देता है। पर कुछ पुच्छल तारो का न तो समय निश्चित होता है और न मार्ग। वे बीच बीच मे आकाश के एक सिरे से आते और तेजी से बढ़ते हुए दूसरे सिरे पर पहुँचकर अदृश्य हो जाते हैं। कभी-कभी नियत समय और नियत मार्गवाले पुच्छल तारे भी न जाने कहाँ चले जाते है। बीला (Biela) का पुच्छल तारा हर ६ बरस ८ महीने पर दिखाई देता था, पर सन् १८५२ के बाद वह फिर आज तक दिखाई नहीं दिया। महाव्योम (दे०—आकाश) मे इन पुच्छल तारो के दल और परिवार तक देखे गये हैं।

भक्ति (Devotion)

अनुचार (Allegiance) **व्रतचार** (Fidelity)
निष्ठा (Loyalty) **व्रत्य=व्रतचार**
विश्वास (Belief) **श्रद्धा**

इस वर्ग के शब्द ऐसे मानसिक भावों या विचारों के वाचक हैं जो हमें अपने कर्त्तव्य, प्रतिज्ञा, प्रेरणा आदि के पालन मे दृढ रखते अथवा प्रवृत्त करते हैं। इस माला का मुख्य शब्द **भक्ति** अर्थ और प्रयोग दोनों की दृष्टि से बहुत व्यापक है, और शेष शब्दों का इसमे किसी न किसी रूप मे अन्तर्भाव हो जाता है। यों तो **भक्ति** का मूल अर्थ है—किसी चीज के अलग-अलग भाग या हिस्से करना, अथवा उसे विभक्त करना, परन्तु आगे चलकर इसमे सेवा, विश्वास, श्रद्धा, स्नेह आदि और भी कई अर्थ लग गये। आज-कल धार्मिक क्षेत्र में **भक्ति** जिस

अर्थ मे सबसे अधिक प्रचलित है, उसमे ईश्वर, देवता अथवा पूज्य व्यक्ति के प्रति विश्वास और श्रद्धा रखने और स्नेहपूर्वक तथा आदर भाव से उसकी सेवा करने के सभी तत्त्व आ जाते हैं। भक्ति हमें अपने इष्ट या पूज्य (देवता अथवा व्यक्ति) के प्रति सदा निष्ठ रखती है, उसके लिए हमसे सब तरह के त्याग कराती है, सब प्रकार की सेवाओं से उसे प्रसन्न तथा सन्तुष्ट करने के प्रयत्न कराती है और हमे सदा उसके पास पहुँचने और रहने के लिए परम उत्सुक रखती है। ईश्वर, देवता आदि की भक्ति सदा इसी रूप मे होती है*। प्रजा अपने राजा के प्रति, पत्नी अपने पति के प्रति अथवा शिष्य अपने गुरु के प्रति जो भक्ति रखता है, उसमे भी प्राय यही सब बाते होती हैं। **अनुचार** का शब्दार्थ है—किसी के पीछे चलना, परन्तु प्रस्तुत प्रसग मे इसका आशय है—जिसे हम आदरणीय, पूज्य या सेव्य समझते हों, सदा शुद्ध हृदय से उसके अनुचर बने रहना—विकट प्रसगों मे भी उसका साथ छोडकर इधर-उधर न होना। प्राचीन काल मे छोटे-मोटे राजा और सामन्त इसी प्रकार बड़े-बडे राजाओ के **अनुचारी** बने रहते थे; और बडे-बडे राजकीय अधिकारियों को अब भी राज्य या राष्ट्र के प्रति **अनुचार** की शपथ ग्रहण करनी पडती है। **निष्ठा** के आरम्भिक अर्थ हैं—अवस्था, दशा, दृढता, भक्ति आदि। पर यह शब्द मुख्य रूप से हमारी उस भावुकतापूर्ण मनोवृत्ति का वाचक है जो हमे किसी के प्रति वैयक्तिक रूप से आसक्त या उससे संलग्न रखती है। **अनुचार** की तुलना मे **निष्ठा** इस दृष्टि से कुछ और आगे बढी हुई है कि यह अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध और समीपता की सूचक है। दूसरे, **निष्ठा** मे दृढता भी अपेक्षया अधिक होती है। **अनुचार** तो बहुधा कर्त्तव्य-वश और कुछ अवस्थाओ में केवल औपचारिक भी होता अथवा हो सकता है; परन्तु **भक्ति** की तरह **निष्ठा** भी मुख्यत हमारे आन्तरिक विश्वास और श्रद्धा से उत्पन्न होती है और बहुत कुछ स्वेच्छापूर्वक होती है। फिर भी **भक्ति** से **निष्ठा** कुछ निम्न स्तर पर होती है।

---

* हमारे यहाँ के धार्मिक ग्रन्थो में नव-धा (नौ प्रकार की) भक्ति कही गई है। वे नौ प्रकार ये हैं—श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास, सख्य और आत्म-निवेदन।

किसी बात, व्यक्ति या सिद्धान्त की श्रेष्ठता के कारण उस पर हमारा जो दृढ विश्वास रहता है, वही उसके प्रति हमारे मन मे निष्ठा उत्पन्न करता है। व्रत स० का प्रसिद्ध शब्द है, जिससे व्रत्य रूप बनता है। विशेषण व्रत्य का अर्थ होता है—जो व्रत के रूप मे धारण किये जाने के योग्य हो, और सज्ञा रूप मे इसका अर्थ होता है—वह जिसने कोई व्रत धारण किया हो। पातिव्रत्य मे का व्रत्य भाव-वाचक रूप है। इसी का दूसरा रूप **व्रतचार** है। प्रस्तुत प्रसग मे **व्रतचार** का अर्थ है—कोई बात व्रत के रूप मे ग्रहण करके शुद्ध हृदय से उसका सदा पूरा-पूरा पालन करना। **व्रत्य** या **व्रतचार** उसी बात या विषय के सम्बन्ध मे होता है, जिस पर हमारा पूरा और सच्चा प्रेम और विश्वास होता है। यह प्राय अपनी इच्छा से चुना और ग्रहण किया जाता है। हो सकता है कि कोई सेवक (या स्त्री) अपने पहले स्वामी (या पति) के प्रति **व्रतचारी** न हो या न रहा हो (या न रही हो), परन्तु बादवाले किसी स्वामी (या पति) के प्रति **व्रतचारी** हो जाय। यह एक प्रकार के अनुराग-जनित उत्तरदायित्व के भाव से युक्त होता है, पर कभी-कभी प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक भी होता है। कुछ अवसरो पर इसका प्रयोग ऐसे कार्यों के सम्बन्ध मे भी होता है, जिनका ठीक और पूरा पालन किया गया हो। जैसे—मूल चित्र की यह प्रतिकृति (देखे) पूरे **व्रतचार**-पूर्वक प्रस्तुत की गई है। आशय यही होता है कि प्रतिकृति प्रस्तुत करने मे अपनी ओर से कुछ भी घटाया-बढाया नहीं गया है। **विश्वास** का साधारण अर्थ है—सामने आई हुई बात को बिलकुल ठीक मान लेना, उसके ठीक या सत्य होने पर पूरा भरोसा रखना। हिन्दी मे यह शब्द मुख्यत इसी अर्थ मे बहुत प्रचलित है। परन्तु प्रस्तुत प्रसग मे इसका आशय इससे कुछ आगे बढा हुआ है। हमारे सामने बहुत-सी चीजे या बाते होती हैं। हम उनमे से किसी एक को पूर्णत ठीक, वास्तविक या सत्य मान लेते हैं, और उसी के अनुरूप अपना आचरण और व्यवहार रखते हैं। हमारा ईश्वर और सत्य पर अटल **विश्वास** हो सकता है, आपका किसी देवी-देवता, पूजा-पाठ या तन्त्र-मन्त्र पर। हम कर्मठता पर **विश्वास** रख सकते हैं और आप भाग्य पर **विश्वास** रखकर सब काम कर सकते हैं। इस प्रकार दृढ आस्था, निश्चय और श्रद्धापूर्वक कोई बात स्थायी रूप से मान लेना ही **विश्वास** है। जब हम कहते

हैं—'ईश्वर पर विश्वास रखो। वह जो करेगा, वह अच्छा ही होगा।' तब हमारा आशय यही होता है कि हमें ईश्वर की सत्यता और न्याय-शीलता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए। **विश्वास** सदा हमारी मनोवृत्ति या मानसिक धारणा पर आश्रित होता है; और इसी लिए तर्क-वितर्क आदि से सहसा बदला नहीं जा सकता। **श्रद्धा** हमारी वह मनोवृत्ति है जो **निष्ठा, भक्ति** और **विश्वास** तीनों से युक्त होकर किसी पूज्य या बड़े की ओर उन्मुख होती है। **विश्वास** में तो विचारों की दृढ़ता का भाव प्रधान होता है, पर **श्रद्धा** में पूज्य बुद्धि और भक्ति की प्रधानता होती है। हम कहते हैं—ईश्वर या देवता की उपासना या पूजा तभी फलवती होती है, जब वह **श्रद्धा** और **भक्तिपूर्वक** की जाय। आशय यही होता है कि उपासना या पूजा के समय हमारे मन में यथेष्ट आदर-भाव या पूज्य बुद्धि और पूरा विश्वास होना चाहिए।

भड़ौआ (Skit)

अवगीत (Lampoon) **विद्रूपिका** (Parody)
विडंबिका=विद्रूपिका **व्यंगिका** (Satire)

इस वर्ग के शब्द ऐसे कथनों या रचनाओं, विशेषत छन्दोबद्ध रचनाओं के वाचक हैं जो प्राय दूसरों की हँसी उड़ाने, और हो सके तो उन्हें तुच्छ सिद्ध करने के लिए की जाती हैं। इनमें से **भड़ौआ** किसी समय हिन्दी में बहुत प्रचलित था*, पर अब इसका प्रचलन कम हो गया है; और इसका स्थान प्राय **विरूपिका** और **व्यंगिका** ले रही है। **भड़ौआ** हिं० भाँड (सं० भड या भाण ?)

* प्रायः ६० वर्ष पहले काशी के भारत-जीवन प्रेस से इस प्रकार की मध्य-युगीन कविताओं का एक संग्रह भड़ौआ-संग्रह नाम से चार भागों में प्रकाशित हुआ था।

से बना हुआ शब्द है, और हिन्दी मे यह ऐसी कविताओं का वाचक है जो मुख्य रूप से दूसरो की त्रुटियों और दोषों का उल्लेख करते हुए, उनकी हँसी उड़ाने के लिए की जाती हैं। पर इसके वर्णन की शैली प्राय अशिष्टतापूर्ण ही होती है—सुरुचिपूर्ण नहीं होती। इसमें गभीरता का तो अभाव होता ही है, पर कटुता, गाली-गलौज या द्वेष का भाव नहीं होता। हाँ इसमे लगती हुई बात या दश अवश्य होता है। इस प्रकार की गद्य मे कही हुई बाते या लेख भी **भडौआ** ही कहलाते हैं। **अवगीत** मुख्यत गीत ही होते हैं, पर उनमे जो बाते होती हैं, वे **भडौआ** की तुलना मे अधिक अश्लील, गन्दी और भद्दी होती हैं। होली के दिनों मे जो अनेक प्रकार के अश्लील गीत गाये जाते हैं, उनकी गिनती **अवगीत** में ही होती है। **भड़ौआ** तो जैसे-तैसे शिष्ट समाज मे चल भी जाता है, पर **अवगीत** शिष्ट समाज मे नहीं चल सकते। **विडम्बिका** या **विद्रूपिका** वह कहलाती है जो किसी अच्छे कवि की कविता के अनुकरण पर (उसी के छन्द, रचना-शैली, शब्दावली आदि के अनुकरण पर) केवल उसकी विडबना या विद्रूपण (दे०—उपहास) करके हँसने-हँसाने के उद्देश्य से की जाती है। इसके लिए सदा यह आवश्यक नही है कि यह कवि या कविता का उपहास करने या उसे तुच्छ सिद्ध करने के लिए ही हो; अर्थात् यह शुद्ध हास्य के विचार से भी हो सकती है; और कुछ अवस्थाओ मे द्वेष वश भी। **व्यगिका** वह उक्ति या कविता कहलाती है जिसमे किसी व्यक्ति, प्रथा, समाज आदि के दोषों का मुख्यत व्यग्यात्मक रूप से उल्लेख या चर्चा होती है। इसका मुख्य उद्देश्य प्राय निन्दा या भर्त्सना के द्वारा लोगों को दोषो और मूर्खताओ से बचाने के सिवा और कुछ नही होता। हाँ, व्यग्य-प्रधान होने के कारण यह प्राय मनोरजक और मोदकारक अवश्य हो जाती है*।

*** विडबिका (या विद्रूपिका) और व्यगिका हमारे यहाँ की चीजें नहीं हैं, हमने इन्हे पाश्चात्य साहित्य से ग्रहण किया है।**

भद्दा (Awkward)

गँवारू (Rustic) **बे-डौल** (Clumsy)

बाँगड़ू (Boorish) **भोंडा=बे-डौल**

इस वर्ग के सभी विशेषण ऐसी वस्तुओ, व्यक्तियों, व्यवहारो आदि के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होते हैं जो देखने में सुन्दर, ठिकाने के या सुभीते के न होते हों—जो अपने मानक से गिरे हुए हों। **भद्दा** सम्भवत भदेस से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है—ऐसा देश जहाँ के रहनेवाले अर्द्ध-सभ्य या गँवार हो। इसका सम्बन्ध बाहरी दिखाव से है। जो देखने मे शिष्ट, श्लील या सुन्दर न हो, वही **भद्दा** है। **भद्दी** बाते या आचरण वे होते हैं जो सुरुचिपूर्ण अथवा शिष्ट समाज के लिए उपयुक्त न हो; और **भद्दी** लिखावट यह है जो देखने मे सुन्दर और स्पष्ट न हो। **भद्दी** व्यवस्था या स्थिति वह है जिससे लोगो को कुछ झझट या परेशानी हो। इस विशेषण का प्रयोग व्यक्तियों के लिए न तो जल्दी होता ही है, न होना ही चाहिए। **भोंडा** की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। इसका पर्याय **बे-डौल** उसके वास्तविक अर्थ का सूचक है। **बे-डौल** उसे कहते हैं, जिसका डील-डौल या बनावट अच्छी न हो, भद्दी हो। इसका प्रयोग ऐसी आकृति, बनावट, रूप आदि के सम्बन्ध मे होता है जो बहुत ही त्रुटि-पूर्ण हो और जिसमे कला, प्रतिसाम्य, सापेक्षता आदि का खटनेवाला अभाव हो। **भोंडापन** या तो प्राकृतिक होता है या रचना सम्बन्धी दोषों के कारण, पर **भद्दापन** बहुधा शिक्षा, सस्कृति, सुरुचि आदि के अभाव के कारण होता है। भालू की आकृति **भोंडी** होती है और उसका नाच **भद्दा** होता है। **भोंडा** तो सदा **भद्दा** ही होगा, पर **भद्दे** के लिए सदा **भोंडा** होना आवश्यक नहीं है। कुछ अवस्थाओं मे **भद्दा** और **भोंडा** एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त भी हो सकते हैं, फिर भी **भोंडा** मे **भद्दे** होने की अपेक्षा कुत्सित होने का भाव कुछ अधिक है। **भद्दी** बात उतनी अधिक निन्दनीय या बुरी नहीं होती, जितनी **भोंडी** बात होती है। **गँवारू** हि० गाँव से व्युत्पन्न है, और इसका अर्थ है—उस प्रकार का, जैसा प्राय गाँवों या गँवारो मे होता या देखा जाता है। यह विशेषण नागरिकता, परिष्कृति और अच्छेपन के अभाव का

सूचक है। **गँवारू** बोल-चाल, पहनावा या रहन-सहन वैसी परिष्कृत और सुरुचि-पूर्ण नहीं होती, जैसी नागरिकों की होती है। यह उस परिणाम या प्रभाव का सूचक है जो गाँवों मे रहनेवालों की कृतियों आदि से उत्पन्न होकर दूसरी बातों पर पडता है। इसी कारण देखनेवालों के लिए यह सुखकर नहीं होता। **बाँगडू** शब्द बाँगड (आज-कल का हरियाना, जिसमे करनाल, रोहतक, हिसार आदि जिले पडते हैं) से बना है। जान पड़ता है कि कुछ दिन पहले वहाँ के निवासी आस-पास के उन्नत समाज की दृष्टि मे विशेष सभ्य और सस्कृत नहीं होते थे* । आज-कल यह विशेषण ऐसी वस्तुओ, व्यवहारों आदि के लिए प्रयुक्त होता है, जो **गँवारू** की अपेक्षा भी अधिक अशिष्ट और असभ्य जान पडते हैं। यह शब्द जब व्यक्तियो के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होता है, तब उनकी निम्न सामाजिक स्थिति का सूचक होता है; पर आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में प्रयुक्त होने पर सस्कृति और सुरुचि के परम अभाव का।

* यह उक्त प्रदेश के आधुनिक निवासियो पर किसी प्रकार का आक्षेप नही है।

भय (Fear)

आतंक (Terror)
आशंका (Apprehension)
खटका, खुटका=आशंका
खलबली (Turmoil)
डर=भय
त्रास (Fright)
दबदबा=सम्भ्रम (आंशिक रूप में)
भीति (Menace)
भीषिका (Panic)
रोब=सम्भ्रम (आंशिक रूप में)
वितंक (Horror)
विभीषिका (Dread)
संत्रास (Consternation)
सम्भ्रम (Awe)
हौआ (Bogey, Bugbear)

इस वर्ग के शब्द या तो (क) मनुष्य की उस मानसिक चिन्ता और विकलता के सूचक हैं जो कोई संकट उपस्थित होने पर अथवा संकट की सम्भावना होने पर उत्पन्न होती है, अथवा (ख) किसी न किसी प्रकार के संकट की स्थिति के सूचक हैं। इस वर्ग का प्रधान शब्द **भय** अर्थ और प्रयोग दोनों के विचार से सबसे अधिक व्यापक है। हिन्दी का **डर** (स० दर) इसका समानक ही है। कोई अनिष्टकारी बात या संकट सामने आने पर अथवा उसकी सम्भावना होने पर मन में जो चंचलता और विकलता होती है और जिसके फल-स्वरूप अनिष्ट अथवा संकट से बचने की इच्छा या प्रवृत्ति होती है, उन सबका सामूहिक नाम भय है। इसके फल-स्वरूप मनुष्य का साहस छूट जाता है और वह कुछ कायर-सा हो जाता है, अथवा कुछ अवस्थाओं में वह अपनी जान पर खेलकर **भय** उत्पन्न करनेवाले संकट का सामना करने के लिए भी तैयार हो जाता है। साधारण रूप में उपस्थित होने की दशा में तो यह भय ही कहलाता है; पर जब संकट की स्थिति सामने आती हुई दिखाई देती है, तब वह स्थिति मुख्यत भीति कहलाती है। हिं० **डर** का इन दोनों शब्दों के स्थान पर प्रायः समान रूप से प्रयोग होता है। बच्चों को अँधेरे घर में अकेले रहने पर भय या डर लगता है; और अति-वर्षा

या अवर्षा होने पर हमारे मन मे अकाल की **भीति** या **डर** होता है। यही **भय** कुछ अधिक तीव्र होने पर **त्रास** कहलाता है, और जब उसकी तीव्रता और भी अधिक बढ जाती है, तब उसे **विभीषिका** कहते हैं। इच्छा-शक्ति या साहस मे हम **भय** का तो सामना कर सकते हैं, पर **त्रास** के समय प्राय हमारा कोई वश नहीं चलता; और **विभीषिका** तो बहुधा हमे किंकर्त्तव्य-विमूढ ही कर देती है। **भय** और **विभीषिका** मे एक और अन्तर यह है कि **भय** तो प्राय ऐसी साधारण बातों का होता है जो बहुत कुछ हमारी जानी-समझी हुई होती हैं, पर **विभीषिका** ऐसी बातों के सम्बन्ध मे होती है जिनके वास्तविक स्वरूप से हम बहुत-कुछ अपरिचित होते हैं। मृत्यु या शेर से तो हमे **भय** ही लगता है, पर भूत-प्रेत या पर-लोक मे होनेवाले दण्ड-भोग की **भीति** हमारे मन मे **विभीषिका** उत्पन्न करती है। **भय** और **त्रास** का प्रभाव तो केवल हमारी मानसिक शक्तियों पर पड़ता है, पर **विभीषिका** का मानसिक और शारीरिक दोनों पर। इससे हम थर-थर काँपने लगते और प्राय बगले झाँकने लगते हैं। **आशङ्का** कोरी मानसिक स्थिति है जो वास्तविक या कल्पित **भय** की सम्भावना होने पर उत्पन्न होती है। यह हमे चिन्तित करती है और हमारे मन मे कुछ खटक-सी उत्पन्न करती है। इसी लिए इसे हिन्दी मे **खटका** या **खुटका** कहते हैं। यह **भीति** का हलका रूप है। चोर जब चोरी करने के लिए कहीं जाता है, तब उसे यह **आशका** रहती है कि मै पकडा न जाऊँ अथवा मुझ पर मार न पडे। **भीति** इसी **आशका** का उग्र रूप है। जब आनेवाले संकट की सम्भावना अधिक बढ जाती है अथवा सकट का सामना कुछ निश्चित-सा हो जाता है, तब उसे **भीति** कहते हैं*। चोर की आहट पाकर जब घर के लोग इधर-उधर देखने लगते हैं, तब चोर को पकड़े जाने की **भीति** आ घेरती है। जब अचानक कोई **भय** या **त्रास** हमारे सामने आ उपस्थित होता है, तब हम विकल होकर यह निश्चय नहीं कर पाते कि इसका सामना कैसे किया

---

* कुछ अवसरों पर लोग अपना काम निकालने के लिए दूसरों को डरा धमकाकर उनके मन में जो भीति उत्पन्न करते हैं, उसे तर्जन कहते हैं। (दे०—'धमकी' के अन्तर्गत 'तर्जन')

जाय, और इसी लिए हम विचलित हो जाते हैं। यह स्थिति वैयक्तिक भी हो सकती है और सामूहिक भी; और प्राय देखा-देखी फैलती या बढती है। मन या जन-समूह की यही स्थिति **भीषिका** है। यदि अचानक कहीं दंगा-फसाद होने लगे और ईंटों, लाठियों आदि के प्रहार होने लगे तो आस-पास के लोगों मे **भीषिका** फैल जायगी, और वे अस्त-व्यस्त होकर इधर-उधर भागने लगेंगे। यदि किसी सभा-स्थल मे कहीं साँप निकल आवे या आस-पास साँड लडने लगे, तो भी उपस्थित जनता में **भीषिका** फैल जायगी। इसी **भीषिका** का हलका रूप **खलबली** और अधिक उग्र तथा व्यापक रूप **सन्त्रास** कहलाता है। **खलबली** तो साधारण-सी घटना होने पर भी मचती है (जैसे सभा-समाज मे कोई कटु या कठोर बात कहने पर), परन्तु **संत्रास** ऐसे विकट अवसरो पर फैलता है, जब बहुतों के जान-माल सहसा और तत्काल जोखिम मे पडते हुए दिखाई देते हैं। स० मे तक का अर्थ है—वियोग से उत्पन्न दु ख। इसी में आ उपसर्ग लगने से **आतंक** शब्द बना है, जिसके मूल अर्थ हैं—रोग, मानसिक कष्ट, विकलता, भय आदि। पर हिन्दी मे **आतक** उसी अर्थ मे प्रचलित है जो यहाँ बतलाया गया है। जब कोई भारी सकट अचानक सामने आ जाता है और हम डर के मारे कुछ भी करने-धरने या सोचने-समझने मे बिलकुल असमर्थ हो जाते हैं, तब हमे मानसिक और शारीरिक दृष्टि से अक्रिय कर देनेवाली बाह्य स्थिति ही **आतक** कहलाती है। इससे लोग बहुत डर जाते और हर तरह से सचेत रहते हैं। यदि भारी उपद्रव होने पर शहर मे दो-चार जगह गोलियाँ चल जायँ या भारी उपद्रव की आशंका होने पर शहर मे पलटनें लाकर खडी कर दी जायँ, तो सारे शहर मे **आतंक** छा जायगा। यदि पास-पडोस मे दो-चार डाके पड़ जायँ तो भी वहाँ के निवासियों में **आतंक** फैल जायगा। **वितक** इसी **आतक** के अनुकरण पर नया बनाया हुआ शब्द है। **आतक** से **वितंक** उग्र और विकट तो है ही, उसमे कुछ और भाव भी मिला हुआ है। **आतक** तो केवल भय के कारण होता है, पर **वितक** का प्रयोग ऐसे अवसरो पर होता है, जब भय उत्पन्न करनेवाली बात साथ ही साथ घृणित, विरक्त करनेवाली या वीभत्स भी हो। यदि अचानक कमरे मे पैर रखते ही हमे खून से लथ-पथ लाश दिखाई दे या कोई कोढी (अथवा

साँप) हमारे पैरों से लिपट जाय, तो हम पर **वितक** छा जायगा—हम **वितंकित** हो जायँगे। **सम्भ्रम** हमारे **भय** और **आतक** का वह मिश्रित रूप है जो हमे प्राय अवाक् या चकित कर देता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि भय-भीत और आतकित करनेवाली बात या व्यक्ति मे कुछ अ-साधारण महत्ता, विशेषता या श्रेष्ठता हो। जब हम किसी बहुत बड़ी बात (या व्यक्ति) के सामने चकित होकर चुपचाप मुँह ताकते हुए खड़े रह जायँ, तब हम कहेंगे —उस बात (या व्यक्ति) के **सम्भ्रम** ने हमे स्तब्ध कर दिया। अपने साधारण रूप मे यह शब्द ऐसे आदर, श्रद्धा, सम्मान आदि का भी सूचक होता है जिसमे **आतक** और आश्चर्य दोनो मिले-जुले होते हैं। **दबदबा** (फारसी दबदब =ढोल का शब्द) मूलत है तो **आतक** या **रोब** (अरबी) का ही वाचक, पर प्रस्तुत प्रसग में यह व्यक्ति-जन्य (वस्तु-जन्य नही) **सम्भ्रम** का समानक ही माना जाता है। **हौआ** (हाऊ-हाऊ से अनुकरण-वाचक) हिन्दी का प्रसिद्ध शब्द है, जिसका प्रयोग प्राय बच्चों को डराने के लिए किया जाता है। जब किसी को बहुत भयभीत करने के लिए कोई ऐसी डरावनी या विकट बात खडी कर दी जाती है, जिसका वास्तव मे कुछ भी अस्तित्व नहीं होता, तब ऐसी बात **हौआ** कहलाती है। इसमे एक तो भीषण और दूसरे अ-वास्तविक होने का भाव मुख्य है। इसका उद्देश्य सदा दूसरों को झूठा भय दिखाकर और उन्हे आतकित करके अपना कोई दुष्ट उद्देश्य सिद्ध करना होता है। यदि आगे चलकर बिना अणु बमो का उपयोग हुए सारे ससार से शान्ति और सद्भाव स्थापित हो जाय, तो हम कहेगे—अणु बमों का **हौआ** ही ससार मे शान्ति स्थापित करने मे समर्थ हुआ था। यद्यपि अणु बमों का अस्तित्व भी वास्तविक है और उनकी भीषण संहारक शक्ति भी निर्विवाद रूप से सिद्ध है, तो भी ऐसे प्रसग मे **हौआ** का प्रयोग इस दृष्टि से सगत होगा कि एक तो अणु बमों का कहीं उपयोग नहीं हुआ, और दूसरे सारे ससार पर उसका आतक छाया है।

———

भाग (Part)

अंश (१. Portion, २. Share) **प्रभाग** (Section)
अवधा=वृत्त का खंड **भिन्न** (Fraction)
उप-विभाग (Sub-division) **विखंड** (Fragment)
खंड (Segment) **विभाग** (१. Division,
प्रखंड (Division) २ Department)
खंडिका, खेप, किस्त (Instalment) **विभाजन** (Partition)
टुकड़ा (Piece) **शकल** (Sector)

भाग वह व्यापक शब्द है, जिसमे उसके प्राय सभी उक्त पर्यायों का अन्तर्भाव हो जाता है। जब किसी बडी चीज या मान के कुछ या कई खड अथवा टुकडे किये जाते हैं, तब उनमे का हर खड या टुकडा उसका **भाग** कहलाता है। **भाग** प्रयत्न-पूर्वक तो किये ही जाते हे, पर वे आपसे आप भी हो सकते हैं। किसी चीज का **खंड** या **टुकडा** तो तभी कहलावेगा, जब वह उससे कटकर बिलकुल अलग हो जायगा, पर **भाग** के लिए सदा यह आवश्यक नहीं है कि वह मूल से बिलकुल अलग ही हो जाय। किसी देश के अनेक **भाग** कुछ दृष्टियों से एक दूसरे से बिलकुल अलग भी हो सकते हैं; और कुछ दृष्टियों से एक में मिले भी रह सकते हैं। हम कहते हैं—इस कपडे के चार **भाग** कर दो। यहाँ **भाग** केवल विचार और उसके साथ लगी हुई भावी क्रिया का सूचक है*। पर जब उस कपडे के चार **भाग** अलग-अलग हो जाते हैं, तब उनमे से हर भाग को हम **खंड** या

---

* अँगरेजी के to take part के अनुकरण पर हिन्दी में जो किसी काम में 'भाग लेना' प्रयोग चल पडा है, वह हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध है और इसी लिए प्रशस्त नही है। हिन्दी मे इसका रूप 'योग देना' या 'सम्मिलित होना' रहना चाहिए, अथवा इसी तरह का और कोई प्रयोग होना चाहिए।

टुकड़ा कहते हैं; क्योंकि वह अपने मूल से कटकर अलग हो चुका होता है। पर देश या राज्य का उक्त प्रकार का अंश सदा **भाग** ही रहता है, **खंड** या टुकड़ा नही कहलाता। पुस्तक के कई **भाग** अलग-अलग भी हो सकते हैं और एक मे भी; और उसका कोई प्रसग या पृष्ठ भी **भाग** ही कहा जायगा, **खंड** या टुकडा नहीं। गणित मे **भाग** की जो क्रिया होती है, वह भी विचार के ही क्षेत्र मे होती है। उसमे अलग-अलग छोटे बडे **खंड** या **टुकड़े** करने का कोई भाव नहीं होता। किसी **खंड** या **टुकड़े** का बहुत ही छोटा, टूटा-फूटा और छिन्न-भिन्न अंश **विखंड** कहलाता है। ऐसा अंश बहुत-कुछ निकम्मा या रद्दी भी हो चुका होता है। किसी चीज का **खंड** या **टुकड़ा** देखकर तो हम उस समूची चीज के आकार प्रकार या रूप-रंग की बहुत-कुछ कल्पना या अनुमान भी कर सकते है; पर **विखंड** से ऐसी कल्पना या अनुमान करना प्रायः बहुत कठिन और कभी-कभी असंभव भी होता है। **अंश** मुख्यतः एक ही इकाई के दो या कई अलग-अलग अंगो का सूचक शब्द है। यह है तो वस्तुत **भाग** ही, पर इसका सम्बन्ध किसी रूप मे किसी मूर्त्त वस्तु से होता है; अथवा ऐसी वस्तु से होता है जिसे हम मूर्त्त न होने पर भी मूर्त्त मान लेते है। हम कहते हैं—इस सम्पत्ति (अथवा कार्य, प्रयत्न आदि) मे हमारा भी कुछ **अंश** है, अथवा ठंढई मे भाँग का **अंश** कम है। यहाँ **भाग** किसी व्यष्टित्व से सम्बद्ध होने के कारण ही **अंश** कहलाता है। किसी भवन का एक **अंश** किसी विशिष्ट कार्य के लिए व्यासिद्ध कर दिया जाता है। यहाँ उस विशिष्ट कार्य का पृथक् व्यष्टित्व (स्वतंत्र अस्तित्व) ही भवन के उस **भाग** को **अंश** का रूप देता है। इसका मुख्य भाव इसी व्यष्टित्व या पृथक् अस्तित्ववाले तत्त्व से सम्बद्ध है। पर व्यवहार मे उसके दो अलग-अलग रूप होते हैं। कही तो किसी चीज मे हमारा **अंश** प्राकृतिक या स्वाभाविक रूप मे होता है, और कही आधिकारिक रूप मे। जब देश सुखी और सम्पन्न होता है, तब उसके सुख और सम्पन्नता का कुछ न कुछ **अंश** सभी लोगों को प्राप्त होता है, और यही उसका स्वाभाविक रूप है। पर व्यापार या उद्योग-धन्धे मे भी हमारा कुछ **अंश** होता है, जो उसी अनुपात मे निश्चित होता है, जिस अनुपात मे हम उस व्यापार या उद्योग-धन्धे मे पूँजी लगाते या श्रम करते हैं। और यह उसका आधिकारिक

रूप है*। अर्थात् हम अधिकार-पूर्वक उस अश के स्वामी होते हैं। **अंश** लेने के रूप मे ही नहीं होता, देने के रूप मे भी होता है। किसी बहुत बड़े कार्य मे सहायक होने के लिए लोगों को अपना-अपना अश देना पडता है। वह देना यदि हम पूरा एक साथ नही चुकाते, बल्कि धीरे-धीरे कई खडो या भागों मे चुकाते या देते हैं, तब उनमे का प्रत्येक खड या भाग **खंडिका** या **किस्त**† कहलाता है। देन के सिवा इन शब्दों का प्रयोग ऐसे कामों के सम्बन्ध मे भी होता है जो छोटे रूप मे और थोडे-थोडे समय मे अलग-अलग करके पूरे किये जाते हैं। किसी समाचार-पत्र मे प्रकाशित होनेवाली लेख-माला के हर अगले लेख के सम्बन्ध मे कहा जाता है—यह उसकी दूसरी, तीसरी या चौथी **किस्त** (या **खडिका**) है। **खेप** स० क्षेप से व्युत्पन्न है। मजदूरे जब चीजें ढोते हैं, तब हर बार की ढुलाई और उसके बोझ को **खेप** कहते हैं। जैसे—चार खेप आ चुके; अभी दो खेप और बाकी हैं। **विभाग** का अर्थ होता है—काटकर अलग किया हुआ या विशेष भाग, पर इस शब्द का प्रयोग मुख्यत किसी समूचे पदार्थ या समूची इकाई के विचार से और उसकी अपेक्षा मे होता है। जैसे—भारत सरकार का शिक्षा **विभाग**, उत्तर प्रदेश का न्याय **विभाग** आदि। अर्थात् किसी विशेष कार्य के लिए अथवा किसी विशेष उद्देश्य या विचार से किया हुआ **भाग** ही **विभाग** कहलाता है। किसी कार्य या पदार्थ के **विभागो** के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे सब आपस में बराबर ही हो, वे एक दूसरे से छोटे-बडे भी हो सकते हैं। यदि किसी **विभाग** के अन्तर्गत और भी कई छोटे-छोटे भाग या विभाग हों, तो

---

* अपने पहले रूप में यह अँगरेजी मे Portion कहलाता है और दूसरे रूप में Share. पर खेद है कि बहुत प्रयत्न करने पर भी इन दोनो रूपों के लिए दो अलग-अलग शब्द स्थिर नहीं किये जा सके।

† किस्त अरबी भाषा का शब्द है, जो हिन्दी में बहुत अधिक प्रचलित हो चुका है। मध्य युग मे विशेषत· मराठो के शासन काल मे अधीनस्थ रियासतो या राजाओं से किस्त में जो रकमे वसूल की जाती थी, उन्हे 'खंडणी' कहते थे। इसी के आधार पर खडिका शब्द बनाया है।

उनमें से प्रत्येक **उप-विभाग** कहलावेगा। किसी वस्तु के **भाग, विभाग, उप-विभाग** आदि स्थिर या नियत करनें की क्रिया ही **विभाजन** है। किसी भाग या विभाग के जो और कई छोटे-छोटे खंड या टुकड़े होते है, वे प्र-भाग कहलाते हैं। यदि किसी **विभाग** मे चार प्रकार के काम होते हों और वे भी सब काम अलग-अलग क्षेत्रो मे होते हों तो उनमे का हर क्षेत्र उस विभाग का **प्रभाग** कहा जायगा। **भिन्न** गणित शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। जब कोई पूरी इकाई कई बराबर-बराबर भागों मे बँटी हो, तब उनमे का प्रत्येक भाग **भिन्न** कहलाता है। $\frac{1}{2}$, $\frac{3}{5}$, $\frac{1}{8}$ आदि इसके उदाहरण हैं।

खंड हमारे यहाँ का दूसरा ऐसा शब्द है जिसका **भाग** ही की तरह बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है। इसमे अँगरेजी के Segment, Section और Sector तीनों के अर्थों का अन्तर्भाव हो जाता है। यह संस्कृत खंड् धातु से बना है, जिसका अर्थ है—काटना, तोडना आदि। किसी चीज को तोडकर या ऐसी ही और किसी क्रिया से जो टुकडे या भाग किये जाते हैं, वे सभी उसके **खंड** कहलाते हैं। यद्यपि इसमे किसी प्रकार काटकर अलग करने का भाव प्रधान है, तो भी यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक **खंड** सदा या सभी दशाओं मे अपने मूल से अलग ही हो। वह अलग भी हो सकता है और किसी रूप मे अपने मूल के साथ जुडा हुआ भी। बड़े-बडे ग्रन्थों के अनेक खंड होते हैं; और मकानों मे एक के ऊपर दूसरा और दूसरे के ऊपर तीसरा **खंड** होता है। बडे-बडे देशो के मुख्य भाग भी **खंड** कहलाते हैं; जैसे—भरत खंड, उत्तरा खंड आदि। शासनिक व्यवस्था या ऐसे ही किसी और कार्य के विचार से किसी **खंड** या **विभाग** के जो बडे-बडे अंश अलग मान लिये जाते हैं, वे **प्रखंड** कहलाते हैं। ज्यामिति मे वृत्त या रेखा के टुकडे को भी **खंड** ही कहते है, जिसका दूसरा पारिभाषिक नाम **अवधा** है। वृत्त या गोले के प्रसंग मे इसी को संस्कृत मे **शकल** (या **शकर**) कहते हैं।

———

भाषण (Speech)

अभिभाषण (Address)
उक्ति (Utterance)
उद्धरणी (Recitation)
उपदेश (१ Teachings,
२. Sermon)
प्रपठन=उद्धरणी
प्रवचन (Discourse)
वक्तृता (Lecture)
वाक्-पटुता (Rhetoric)
वाक्-तांडव (Harangue)
वाणी=भाषण
वाद-विवाद (Debate)
वार्त्ता (Talk)
वार्त्तालाप, संलाप
(Conversation)
वितंडा (Wrangling)
व्याख्यान=वक्तृता
संदेश (Message)
संभाषण (Oration)
संवाद (Dialogue)

भाषण का साधारण अर्थ है—कहना, बोलना या बातें करना, और इसी लिए इसके वर्ग में बात-चीत करने और कहने-सुनने के सभी प्रकार और भेद आ जाते हैं। वस्तुत साधारण रूप से बात-चीत करना या अपने विचार प्रकट करना ही भाषण है। हम कहते हैं—हमने उनसे भाषण करना छोड़ दिया है। प्राय इसका उपयोग वक्तृता या व्याख्यान के अर्थ में या उसके स्थान पर भी होता है। जैसे—सभापति का भाषण। अभिभाषण विशिष्ट महत्त्व के अवसरों पर होने-वाला उच्च कोटि का भाषण है। सभा-सम्मेलनों आदि में होनेवाले अभिभाषण बहुधा पहले से लिखकर तैयार कर लिये जाते हैं। पर न्यायालयों के सामने वकीलों आदि के अभिभाषण लिखित नहीं, बल्कि मौखिक ही होते हैं। वाणी मुख्यत मनुष्यों के मुँह से उच्चरित होनेवाले सार्थक शब्दों की सूचक है। इसका मुख्य सम्बन्ध बोलने की शक्ति या उच्चारण से है। उक्ति किसी की कही हुई वह बात है, जिसका कहीं किसी प्रसंग में उल्लेख या चर्चा की जाय। जैसे—कबीर, तुलसी या सूर की अनूठी उक्तियाँ। उद्धरणी या प्रपठन मुख्यत कोई घटना या

बात बिलकुल ज्यो की त्यों कह या पढ सुनाना है। विद्यार्थी पढे हुए पाठ की उद्धरणी करते हैं; और कवि-सम्मेलनो मे दूसरे कवियो की अच्छी कविताओ का प्रपठन होता है। उपदेश का अर्थ है—ऐसी अच्छी बातें जो बड़े लोग छोटों के हित के विचार से उन्हें सिखाते-समझाते हैं। प्राय नैतिक या धार्मिक क्षेत्रों में ही इसका उपयोग होता है। **प्रवचन** किसी गम्भीर विषय पर बहुत विचार-पूर्वक और मनन के योग्य कही जानेवाली बाते हैं। इसमे **उपदेश** और **वक्तृता** दोनों के तत्व होते हैं, और यह इन दोनों का सम्मिलित उत्कृष्ट रूप है। **वक्तृता** या **व्याख्यान** किसी विषय के स्पष्टीकरण के लिए होनेवाला ऐसा **भाषण** है जो श्रोताओं को उस विषय से परिचित तथा प्रभावित करने के लिए कुछ समय तक बराबर चलता रहता है। **वाक् पटुता** भाषण का उपभेद नहीं, बल्कि कौशल या अच्छा ढग है। कोई बात ऐसे अच्छे ढग से कहना कि सुननेवाले उससे प्रभावित होकर उसे ठीक मान ले, **वाक्-पटुता** है *। अलकृत भाषा मे प्रभावोत्पादक तथा रोचक रूप मे बातें कहना ही **वाक् पटुता** है। **वाग्मिता** इसी का बहुत उत्कृष्ट रूप है, और इसे प्राय ईश्वर-दत्त गुण या प्राकृतिक देन माना जाता है। इसमे भाव और विचार मनुष्य के हृदय से उद्भूत होकर और बहुत ही आकर्षक तथा मनोहर रूप धारण करके दूसरों के हृदय मे प्रवेश करते हैं। **वाक्-ताडव** वह है जिसमे ऊट-पटाँग और बे-सिर पैर की बाते कुछ जोर-जोर से और क्रोध में आकर या बिगडकर कही जायँ। इसी का और अधिक उग्र तथा उद्धत रूप **वितडा** है। यह मुख्यत तर्क-वितर्क या वाद-विवाद के क्षेत्र का शब्द है। **वाद-विवाद** का एक अर्थ झगडा या तकरार तो है ही, पर प्रस्तुत प्रसग मे उसका मुख्य अर्थ है—कुछ लोगों मे होनेवाली ऐसी बात-चीत, जिसमे किसी विषय पर वे अपना अपना मत प्रकट करें; और आवश्यकता हो तो दूसरों के मतो का खण्डन करते हुए तर्क-पूर्वक अपना मत ठीक सिद्ध करने का भी प्रयत्न करें। **वार्ता** के बात-चीत, समाचार आदि कई साधारण अर्थ तो हैं ही, पर आज-कल वह मुख्य रूप से

---

* इसी लिए इस विषय का एक अलग शास्त्र बन गया है, जिसे अलंकार-शास्त्र (Rhetorics) कहते हैं।

किसी विषय से सम्बन्ध रखनेवाला ऐसा कथन या भाषण है जो कुछ समय तक चलता रहे और जो दूसरों को उस विषय का साधारण ज्ञान कराने के लिए हो। यह **प्रवचन** से कुछ हलके दरजे की चीज है, और **वक्तृता** या **व्याख्यान** से इसमे अधिक सगति और सक्षिप्तता की अपेक्षा होती है। आज-कल रेडियो पर प्राय किसी विद्या, विज्ञान अथवा दूसरे अनेक विषयो से सम्बन्ध रखनेवाली वार्ताएँ सुनने मे आती हैं। **सन्देश** वह उक्ति या कथन है जो किसी एक व्यक्ति के द्वारा अथवा किसी ऐसे ही और साधन से दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों तक पहुँचाये जाने के लिए होता है। हम अपने किसी मित्र के पास बधाई या शुभ कामना का **सन्देश** भेजते हैं, और बड़े-बड़े नेता विशिष्ट अवसरो पर जन-साधारण के नाम किसी विशेष प्रकार का आचरण करने या न करने का **सन्देश** भेजते हैं। **संभाषण** यो प्राथमिक अर्थ मे बहुत-कुछ वही है जो **भाषण** है, पर अपने विशिष्ट आर्थी क्षेत्र मे यह बहुत-कुछ वही है जो **अभिभाषण** या **व्याख्यान** है। पर इसमे प्राय वक्तृत्व कला कुछ अधिक मात्रा मे होती है। **सवाद** का साधारण अर्थ तो समाचार ही है, और इसी लिए कभी-कभी समाचार-पत्र भी सवाद-पत्र कहलाते हैं। पर मुख्य रूप से दो या अधिक व्यक्तियों मे होनेवाली बात-चीत **सवाद** कहलाती है। नाटक या उपन्यास मे पात्रो की आपस की (कथा-वस्तु सम्बन्धी) बात-चीत या रास-लीला, राम-लीला, आदि के अभिनयों मे पात्रों की बात-चीत **सवाद** कहलाती है।

भाषा (Language)

उप-भाषा (Dialect)	**मातृ-भाषा** (Mother-tongue)
जबान=१. बोली, २. भाषा	**मुहावरा** (Idiom)
देश-भाषा=उप-भाषा	**वि-भाषा**
बोली (Tongue)	**शब्द-विन्यास** (Diction)
भाषण* (Speech)	**शब्दावली** (Vocabulary)

भाषा और भाषण संस्कृत भाष् से बने हैं, जिसका अर्थ है—कहना, बोलना या उच्चारण करना। भाषा से आगे चलकर देश-भाषा, उप भाषा, वि-भाषा आदि शब्द बने हैं। ये सभी शब्द उन प्रकारों तथा रूपों के सूचक हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपने मन के भाव या विचार बोलकर दूसरों पर प्रकट करता है। हम अपने विचार प्रकट करने के लिए जो बातें कहते हैं, उन सब की गिनती हमारी भाषा में होती है। पर अब कुछ और विस्तृत अर्थ में मनोभाव प्रकट करने के सभी प्रकार इसके अन्तर्गत आने लगे हैं। यद्यपि पशु-पक्षियों के शब्दों को बोली कहना ही युक्ति-संगत होगा, पर लोग प्रायः उसे भी भाषा ही कहते हैं†। यहाँ तक कि जो गूँगे और बच्चे केवल संकेत से अपने मन के भाव प्रकट करते हैं, उनके उन संकेतों का अन्तर्भाव भी भाषा ही में होने लगा है। कभी-कभी कविता में नयनों की भाषा और फूलों की भाषा सरीखे पद भी देखने में आते हैं। अपने कुछ सीमित और निश्चित अर्थ में यह उन सभी शब्दों और प्रयोगों का सामूहिक वाचक है, जो किसी देश या जाति में मन के भाव या विचार प्रकट करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। जैसे—अँगरेजों या चीनियों की भाषा। इससे भी कुछ और सीमित तथा विशिष्ट रूप में भाषा वह मानी जाती

---

* वक्तृता या व्याख्यान के अर्थ में 'भाषण' का जो प्रयोग होता है, उसके लिए दे०—'भाषण' की स्वतन्त्र शब्द-माला।

† खग जानै खग ही की भाषा।—तुलसी।

है, जिसका अच्छा साहित्य और व्याकरण हो और जिसका किसी देश के शिक्षित और शिष्ट समाज मे प्रचलन हो। जैसे—गुजराती, बँगला, मराठी, हिन्दी आदि भाषाएँ। इसी भाषा के जो स्थानिक भेद होते हैं, उन्हे उप भाषा कहते हैं। प्राय सभी उन्नत और बडी भाषाओं के ऐसे कुछ स्थानिक भेद होते हैं, जिनके उच्चारण, प्रयोग आदि एक दूसरे से कुछ भिन्न होते हैं। ऐसे भेद आज-कल उप-भाषा कहलाते हैं, और इन्ही को प्राचीन काल मे देश भाषा कहते थे। पर आज-कल साधारणत किसी देश मे बोली जानेवाली भाषा वहाँ की देश-भाषा कहलाती है। भाषा और उप-भाषा (या देश-भाषा) मे एक मुख्य अन्तर यह है कि भाषा तो साधारणत वह कहलाती है, जो शिक्षित समाज मे बोली जाती हो; पर उप-भाषा वह है, जिसे किसी क्षेत्र मे रहनेवाले सभी छोटे-बड़े और शिक्षित-अशिक्षित प्राय समान रूप से बोलते हों। व्रज-भाषा, अवधी, बघेली, बुन्देलखण्डी, पूर्वी हिन्दी आदि इसी प्रकार की उप-भाषाएँ या देश-भाषाएँ हैं। कुछ लोगो ने इसी के लिए वि-भाषा शब्द का भी प्रयोग किया है; पर वास्तव मे उप-भाषा के लिए इस शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है, क्योकि विभाषा अर्थ कुछ और है*। बोली भी यद्यपि बहुत-कुछ वही है, जो उप-भाषा है, पर यह अपेक्षया कुछ छोटे क्षेत्रों मे बोली जाती है। जैसे—मेरठ या भोजपुर की बोली। यह केवल जन-साधारण की बोल-चाल की होती है। मातृ-भाषा वह है जो बच्चे अपनी माता की गोद मे रहकर उससे सीखते और बोलते हैं। किसी की भाषा उसकी मातृ भाषा से भिन्न भी हो सकती है। यदि पजाबी माता-पिता की सन्तान बगाल (या महाराष्ट्र) देश मे जाकर वहाँ की भाषा बोलने लगे, तो कहा जायगा कि पजाबी उसकी मातृ-भाषा और बँगला (या मराठी) उसकी भाषा है। मुहावरा (अरबी) किसी भाषा के शब्दों, क्रियाओ और उनसे बने हुए कुछ विशिष्ट प्रकार के गठे हुए पदों का वह रूप है जो मुख्यत उसी

---

* वि-भाषा का वास्तविक अर्थ आज-कल के 'विकल्प' से मिलता-जुलता है। व्याकरण में ऐसे प्रयोग वि-भाषा कहलाते हैं, जो विकल्प से एक-दूसरे के स्थान पर चल सकते हों।

भाषा मे चलता हो और दूसरी भाषाओं में जिसका अनुवाद न हो सकता हो। इसमे पदों के तर्क-सगत और व्याकरण-सिद्ध अर्थ से कुछ अलग और विलक्षण प्रकार का अर्थ निकलता है। किसी भाषण, लेख, भाषा या बोली में जिन सब शब्दों का प्रयोग होता है, उन सबका वर्ग या समूह शब्दावली कहलाता है। इसी शब्दावली को ठीक ढग से और व्याकरण के नियमों के अनुसार पदों और वाक्यो का रूप देना शब्द-विन्यास कहलाता है। यह शब्दावली का विस्तृत, व्यवस्थित और व्यापक रूप है। (विशेष दे०—वाक्य)

भुगतान (Payment)

अग्रिम (Advance)
ओल (Ransom)
किराया (१. Hire, २ Rent)
क्षति-पूर्त्ति (Compensation*)
चुकता या चुकती (Full payment)
निष्क्रय (Redemption)
पूर्त्ति (Compensation)
पेशगी=अग्रिम
प्रतिफल (Return)
भाड़ा (Freight)
लगान (Rent)
हरजाना=क्षति पूर्त्ति

भुगतान हिं० भुगताना (स० भोग, भुक्त, हिं० भुगतना) से बनी हुई भाववाचक सज्ञा है। महाजनी क्षेत्र की परिभाषा मे भुगतान का अर्थ है—जो

---

* अँगरेजी मे कम्पेन्सेशन का अर्थ हिं० क्षति-पूर्त्ति की अपेक्षा बहुत-कुछ व्यापक है, और वहाँ वह किसी काम, चीज, सेवा आदि के बदले में दिये जानेवाले धन का भी वाचक है। इस दृष्टि से उसमें कमाई, भाड़े और वेतन तक का अन्तर्भाव हो जाता है। पर यहाँ इस शब्द का अधिक प्रचलित और सीमित अर्थ ही लिया गया है।

धन उचित या विधिक रूप से किसी को दिया जाने को हो, वह उसे देना; अर्थात् अपना देन चुकाना। जब किसी से उधार लिये हुए माल का दाम या हुडी के रुपए चुकाये जाते हैं, तब उसे पुरजे या हुडी का **भुगतान** कहते हैं। नौकरो का वेतन, मजदूरों की मजदूरी आदि चुकाना या देना भी **भुगतान** ही है। यही देन जब पूरा या सारा चुकाया जाता है, तब **चुकता** या **चुकती** कहलाता है। इसके बाद और कुछ देन बाकी नहीं रह जाता। **अग्रिम** वह धन है जो किसी को पारिश्रमक आदि निश्चित होने पर उस काम के मद्धे या कोई माल मँगाने के समय उसके दाम के मद्धे पहले से, बात पक्की करने के लिए, दिया जाता है। यह प्राय पूरे दातव्य धन का कुछ अश ही होता है। किसी को १००) पर किसी काम का ठीका देने के समय १०) या १०००) के माल का आदेश देने के समय ५०) **अग्रिम** भी दिया जा सकता है। **पेशगी** इसका फारसी समानक और **अगाऊ** हिन्दी समानक है। **क्षति-पूर्त्ति** का स्पष्ट अर्थ ही है—किसी की हानि पूरी करना। यदि हमारे किसी काम से आप की कोई क्षति या हानि हो जाय अथवा आपको किसी क्षति का उत्तरदायित्व हम पर हो और उसके बदले मे हम आपको कुछ रकम देकर सन्तुष्ट करे, तो इस प्रकार कुछ देना **क्षति पूर्त्ति** कहलावेगा। **हरजाना** इसी का फारसी पर्याय है, जिसका शब्दार्थ है—किसी का कोई हरज (क्षति या हानि) होने पर उसके बदले मे दिया जानेवाला धन। प्रस्तुत प्रसग और लाक्षणिक रूप मे **पूर्त्ति** भी **क्षति-पूर्त्ति** का ही पर्याय है, पर इसमे क्षति के सिवा त्रुटि या दोप दूर करने का भाव भी सम्मिलित है। हम कहते हैं—उनके ग्रन्थ (या लेख) के पूर्वार्द्ध मे जो त्रुटियाँ रह गई थी, उनकी **पूर्त्ति** उन्होंने उत्तरार्द्ध मे कर दी है। यहाँ भी बहुत-कुछ **क्षति-पूर्त्ति** वाला आशय ही निकलता है। **प्रति-फल** का शब्दार्थ है—किसी काम या बात के बदले मे होने-वाला काम या बात, अर्थात् उसका फल। प्रस्तुत प्रसग मे यह किसी मिली हुई या पाई हुई चीज के बदले मे दी जानेवाली चीज या किये जानेवाले काम का वाचक है। हम कहते हैं—उन्होने आजन्म दरिद्र बने रहकर साहित्य की जो अनेक सेवाएँ की थीं, उन्हीं का शुभ **प्रति फल** आज उन्हें धन और मान दोनों रूपों मे मिल रहा है। **किराया** और **भाड़ा** स-वर्गीय शब्द तो हैं ही, प्राय एक

दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त होते हुए भी देखे जाते हैं। **किराया** अरबी किराय का और **भाडा** सं० भाटक (मजदूरी) का हिन्दी रूप है। प्रस्तुत प्रसग मे दोनो के अर्थों मे इसलिए कोई विशेष अन्तर नही है कि जिस समय ये शब्द बने और चले थे, उस समय इनके अर्थों के सूक्ष्म भेदो का उतना और वैसा विचार नहीं हुआ था, जितना और जैसा आगे चलकर पाश्चात्य देशों मे हुआ है। वर्त्तमान परिस्थितियों मे इनके अर्थों का परिसीमन आवश्यक हो गया है*। **किराया** मुख्यत मकान का और कभी-कभी जमीन का भी होता है। यदि हम रहने के लिए किसी का मकान ले या खेल-तमाशा करने के लिए किसी की जमीन† लें तो उसके बदले मे हम उसके मालिक को जो धन देंगे, वह **किराया** कहलावेगा। **भाडा** वस्तुत वह धन है जो किसी की कोई चीज थोडे समय के लिए अपने काम में लाने पर उसके बदले मे मालिक को दिया जाता है। यों हम हम ताँगे या रेल का भी **किराया** कह देते हैं, पर ऐसे अवसरों पर **भाड़ा** का प्रयोग अधिक उपयुक्त होगा। '**भाड़े का टट्टू**' मुहावरे का पद यही सूचित करता है कि कुछ धन

---

* अँगरेजी में इस वर्ग के तीन शब्द है—फ्रेट, रेन्ट और हायर, पर हमारे यहाँ दो ही शब्द (किराया या भाडा) है, जिनका इन तीनों के साथ हमें सामजस्य बैठाना है। अँगरेजी मे फ्रेट उस माल या सामान का वाचक है, जो जहाजो या रेलों के द्वारा दूर के स्थान पर भेजा जाता है। रेन्ट किसी जमीन या उसपर बने हुए मकान के उपयोग के बदले में दिये और लिये जानेवाले धन का वाचक है। अँगरेजी में हायर का अर्थ है—बदले में कुछ धन देकर किसी की चीज का कुछ समय तक उपभोग करना। पर अब ये तीनों शब्द उस धन के भी वाचक हो गये है जो उक्त कामो के लिए दिया और लिया जाता है।

† खेती-बारी करने, बाग-बगीचा लगाने आदि के लिए जमींदारों से जो जमीन किसान लोग लेते थे, उसका किराया पारिभाषिक रूप में लगान कहलाता था। पर अब जमींदारी प्रथा उठ जाने के कारण इस प्रकार का जो किराया सरकार लेती है, उसे मालगुजारी कहते हैं।

देकर बदले में कुछ समय तक किसी से अपना काम निकाला जाता है। ब्याह-शादी के समय किराये पर खेमे, तम्बू आदि मँगाकर लगाये जाते हैं। ओल ऐसा पुराना शब्द है जिसका प्रचलन अब उठ-सा गया है। यह स० ओड से व्युत्पन्न जान पड़ता है*, जिसका अर्थ है—लाकर पास पहुँचाना। प्राचीन काल में प्राय युद्ध मे कुछ लोग पकड़ लिये जाते थे और बदले मे कुछ धन मिलने पर छोड दिये जाते थे। चोर, डाकू अब भी कहीं-कहीं लडको, बच्चो या स्त्रियों को उठा ले जाते हैं और कुछ धन मिलने पर उन्हें छोड देते हैं। कभी-कभी पराजित राजा अपने विजयी शत्रु को मन-माना धन न दे सकने के कारण अपने किसी सगे-सम्बन्धी को तब तक के लिए उसके हाथ सौंप देते थे, जब तक धन नहीं चुका सकते थे। दक्षिण के टीपू सुलतान ने अपने दोनो लड़को को इसी प्रकार कुछ समय के लिए लार्ड कार्नवालिस के पास भेज दिया था। इस प्रकार धन के बदले मे किसी को अपने पास रोक रखना या किसी के हाथ किसी को सौंप देना तो ओल कहलाता ही है; उसके बदले मे दिया और लिया जानेवाला धन भी ओल कहलाता है।

---

* हिन्दी शब्द-सागर मे इसे स० क्रोड से व्युत्पन्न कहा गया है, और इसी लिए उदाहरण सहित इसका एक अर्थ क्रोड़ या गोद भी दिया गया है। पर न तो यह व्युत्पत्ति ही ठीक जान पडती है और न उदाहृत पद के ओल का अर्थ ही क्रोड़ या गोद है। यथा—सूरदास ताकौं डर का कौ हरि गिरिवर के ओले। यहाँ ओल शब्द आड़ या ओट का वाचक है, अथवा यह भी अर्थ हो सकता है—जो गिरिवर के हाथ सौंपा हुआ हो, अर्थात् उनकी सपुर्दगी में हो। इस प्रकार यहाँ भी ओल का वही अर्थ या आशय है, जो ऊपर बतलाया गया है।

मन (Mind)

अन्तःकरण (Conscience) प्रज्ञा (Wisdon)
आत्मा (१. Soul, २. Spirit*) बुद्धि (१. Intellect, २. Wisdon)
चित्त=मन मस्तिष्क (Brain)
चेतना (Consciusrness) विवेक (Conscience)
तर्कणा (Reasoning) समझ (Intelligence)

अर्थ, आशय और प्रयोग सभी के विचार से **मन** बहुत ही व्यापक शब्द है। शास्त्रीय दृष्टि से यह हमारे शरीर मे रहनेवाला वह विशिष्ट तत्त्व या उन शक्तियों का समाहार है, जिनके द्वारा हम सब प्रकार के सकल्प-विकल्प करते, सब बातें सोचते-समझते और याद रखते तथा सब प्रकार के काम करते हैं। इच्छा, प्रयत्न, राग, विराग, सवेदन आदि इसी के द्वारा जाने भी जाते हैं और क्रियात्मक रूप मे प्रयुक्त भी होते हैं। अनुभूति भी इसी को होती है और ज्ञान भी इसी मे आता और रहता है। यह आत्मा, शरीर और हृदय तीनो से भिन्न और **अन्तःकरण** की एक वृत्ति के रूप मे माना जाता है। वैशेषिक दर्शन मे इसे अप्रत्यक्ष द्रव्य तथा बौद्ध दर्शन मे छठी इन्द्रिय माना है, और योग शास्त्र मे इसी को **चित्त** कहा गया है। इधर हाल के पाश्चात्य विद्वानों ने इसे अ-भौतिक परन्तु शरीर से सम्बद्ध तत्त्व माना है, क्योकि शरीर के नाश के साथ ही इसका भी अन्त हो जाता है; पर वे इसे **आत्मा** का गुण मानते हैं। हिन्दी मे प्रयोग की दृष्टि से **चित्त** और **मन** मे कोई विशेष अन्तर नहीं है। अनेक अवस्थाओ मे **चित्त** और **मन** पर्याय ही रहते हैं, केवल कुछ अवस्थाओं मे वे स्वतन्त्र अर्थ या भाव के

*** अँगरेजी मे प्रयोग की दृष्टि से 'सोल' और 'स्पिरिट' में जो सूक्ष्म अन्तर है, उसके विचार से हमारे यहाँ दो अलग-अलग शब्द नहीं हैं। दोनों के लिए एक आत्मा से ही काम चलता है। हाँ प्रेतात्मवाद के विचार से हम सोल को आत्मा और स्पिरिट को लिंग शरीर कह सकते है।**

सूचक होते हैं। हम कहते हैं—(क) इस काम मे हमारा **मन** नहीं लगता, (ख) आपसदारी मे कोई बात **मन** मे छिपाकर रखना ठीक नहीं, (ग) यह बात हमारे **मन** की नही हुई, (घ) उन्होंने अकारण हमसे **मन** मोटा कर लिया है, आदि। ऐसे प्रसंगों मे यद्यपि **मन** के कई अलग-अलग अर्थ (प्रवृत्ति, विचार, विवेक, हृदय आदि) जान पडते हैं, पर मूलत वे सब अर्थ उसी एक तत्त्व के सूचक होते हैं, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है। केवल स्थितियों, क्रिया-प्रयोगो और मुहावरों की छाया के कारण इनमे कुछ अर्थ-भेद दिखाई देता है। **बुद्धि, प्रज्ञा और समझ** एक वर्ग के शब्द हैं, फिर भी इनके अर्थो मे थोडा-बहुत अन्तर है। बुद्धि शब्द उस बुध् धातु से बना है, जिसका मूल अर्थ जागना है और जिससे बोध, बुद्ध, प्रबुद्ध आदि शब्द बने हैं। साख्यकार ने कहा है कि जिस समय जगत् पहले-पहल सुषुप्तावस्था से उठा (अर्थात् जागा) था, उस समय सबसे पहले महात्तत्त्व (जिसे बुद्धि-तत्त्व भी कहते हैं) का आविर्भाव हुआ था। बुद्धि को भी हमारे यहाँ **मन** की ही तरह अन्त करण की चार वृत्तियों मे से एक माना है, पर पाश्चात्य विद्वान् मस्तिष्क को इसका अधिष्ठान (रहने की जगह) मानते हैं। प्राय लोग इसका प्रयोग **मन** के स्थान पर भी कर जाते हैं, जैसे—यह बात हमारे **मन** मे नही बैठती, और यह बात हमारी बुद्धि मे नहीं आती। ऐसे अवसरों पर दोनों का आशय भी बहुत-कुछ एक होता है। पर दार्शनिक दृष्टि से **मन** और **बुद्धि** अलग-अलग चीजे हैं। **बुद्धि** वस्तुत वह तत्त्व या शक्ति है जिसके द्वारा मनुष्य किसी उपस्थित वस्तु या विषय के सम्बन्ध मे आवश्यक ज्ञान प्राप्त करता है। दूसरो से सुन, समझ या सीखकर अथवा कार्य कारण आदि के सम्बन्ध का ध्यान रखते हुए हम जो ज्ञान या बोध प्राप्त करते हैं, वह इसी बुद्धि के सहारे होता है। **प्रज्ञा** यो तो बुद्धि का पर्याय ही है, फिर भी है यह बुद्धि का कुछ विकसित और सस्कृत रूप। यह मनुष्य की वह शक्ति है जो अध्ययन, अभ्यास आदि के द्वारा सम्पादित की जाती है और जिसकी सहायता से वह सब बातों का आगा-पीछा और ऊँच-नीच सहज में समझकर अपने सब कार्य करता है। यह अनुभव, पाडित्य और विचार-शीलता का प्रकाशमान् सम्मिश्रण है—यह गढी, तराशी और खराद पर चढाकर तैयार की हुई बुद्धि है। इसमे

साधारण बुद्धि की तुलना मे अधिक गम्भीरता और गहनता है। **समझ** स० सबुद्ध (प्रा० समुज्झ, समुझ) से व्युत्पन्न है। यद्यपि इस सम्बुद्ध मे का बुद्ध भी बुद्धि से ही सम्बन्ध रखता है, तो भी बुद्धि और **समझ** मे कुछ अन्तर है। यो कुछ अशों मे बुद्धि और **समझ** समानक तो हैं ही*, फिर भी आगे चलने पर दोनो का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। तात्त्विक दृष्टि से बुद्धि तो सामान्य और सार्विक शब्द है, जो हमारी विशिष्ट मानसिक शक्ति का वाचक है, पर **समझ** विशिष्ट रूप से उसका वह वैयक्तिक अभिव्यजन है, जो प्राय कार्य-क्षेत्र मे सबके सामने आता है। हम अपनी बुद्धि का उपयोग करके जितनी बाते जानते हैं, उनसे हमारा ज्ञान बढता है, और उस ज्ञान के बल से हम मे अच्छी तरह काम करने की जो योग्यता आती है, वही **समझ** कहलाती है। यह हमारी बुद्धि का क्रियात्मक और व्यावहारिक रूप है। इसके सिवा कोई बात समझना बुद्धि के बहुत-से कामों मे से एक काम है। इसी लिए बुद्धि से **समझ** कुछ छोटे और हलके दरजे की चीज मानी जाती है, और इसका क्षेत्र कुछ परिमित होता है (दे०—'बुद्धिमान्' के अन्तर्गत 'समझदार')। **तर्कणा** यों तो इसी बुद्धि का एक धर्म या व्यापार है, पर हम इसे **मन** का कार्य भी कह सकते हैं। सस्कृत मे तर्क का अर्थ है—कुछ जानने या पता लगाने का प्रयत्न करना, चाहे यह प्रयत्न कल्पना के आधार पर हो, चाहे बुद्धि के द्वारा। वस्तुतः यही प्रयत्न **तर्कणा** है। प्रस्तुत प्रसग मे **तर्कणा** हमारे **मन** की वह शक्ति है, जिसके आधार पर हम कार्य कारण आदि के स्वरूप देखकर और सोच-समझकर कुछ निष्कर्ष निकालते या सिद्धान्त स्थिर करते हैं। इसकी सहायता से हमे नई-नई बातो का बोध होता और हमारा ज्ञान बढता है। इसके द्वारा हम सत्य का स्वरूप भी देख सकते हैं और अपने विरोधियों की बातों या मतों की त्रुटियाँ या दोप देखकर उन्हे ठीक रास्ते पर भी ला सकते हैं। **मस्तिष्क** स० मस् से बना है, जिसका अर्थ है—नापना या परिमाण स्थिर करना। इसी मस् के आधार पर गरदन का ऊपरी भाग मस्तक

*** हम यह तो कहते ही है—जरा बुद्धि से काम लिया करो, पर ऐसे अवसरो पर बुद्धि की जगह समझ का भी प्रयोग करते ही है।**

कहलाता है; और मस्तक के अन्दर जितने अवयव या यन्त्र हैं, उन सबका सामूहिक नाम **मस्तिष्क** है। बुद्धि और विचार से सम्बन्ध रखनेवाले जितने काम हम करते हैं, उन सबका उद्गम यही **मस्तिष्क** है—यही हमारी बुद्धि का अधिष्ठान है। जो पाश्चात्य विद्वान् **मन** और बुद्धि को बहुत-कुछ एक समझते हैं, वे **मस्तिष्क** को बुद्धि के सिवा **मन** का भी अधिष्ठान मानते हैं। शरीर के इसी अग को सब बातो का बोध होता है, यहीं सारी कल्पनाएँ और विचार उत्पन्न होते तथा निश्चय अपना रूप प्राप्त करते हैं। **चेतना** उसी चित् धातु से बना है, जिससे चित्त, चित्र, चिकित्सा, चेतन, चैतन्य आदि शब्द बने हैं। चित् का अर्थ है—ध्यान या मन लगाकर देखना, समझना आदि। यह हमारे मन की वह वृत्ति है जो मुख्यत ज्ञान से सम्बद्ध है। हम जो कुछ देखते, जानते, सोचते, समझते, चाहते या अनुभव करते हैं, उन सबका ज्ञान हमे इसी शक्ति से प्राप्त होता है। यह शक्ति मनुष्य मे भी होती है और जीव-जन्तुओ मे भी। इसी के नष्ट या अक्रिय होने पर हम अचेत या बेहोश होते हैं। **विवेक** हमारे मन की वह आन्तरिक वृत्ति या शक्ति है, जिसके द्वारा हम यह विवेचन करते हैं कि हमारे सामने जो चीजे या बातें हैं, उनमें से अच्छी कौन है और बुरी कौन। भले और बुरे, सत्य और मिथ्या, सार और असार आदि की पहचान या विचार ही इसका मुख्य काम है। हम बातो या वस्तुओं के वर्गीकरण भी इसी शक्ति के आधार पर करते हैं। यह बुद्धि, विचार, शिक्षा आदि से परिष्कृत भी होता है। हम कहते हैं—आपकी बात तो हमें ठीक मालूम होती है, फिर भी हमारा **विवेक** (अन्त करण या मन) हमे यह काम करने से रोकता है। आशय यही होता है कि आपकी बात तर्क-सगत और बुद्धि-ग्राह्य होने पर भी हमारी आत्मा इसे ग्रहण या मान्य नहीं करती। यह भी माना जाता है कि **विवेक** सदा शुद्ध और सत्य के पक्ष मे रहता है। वह न तो कभी बुरी बातों के पक्ष में होता है, न उनका समर्थन करता है। हम कहते हैं—उसने अपने **विवेक** की हत्या कर डाली है। आशय यही होता है कि उसने अपनी आत्मा या वह आत्मिक शक्ति अक्रिय कर दी है जो मनुष्य को सन्मार्ग दिखलाती और उस पर चलाती है। **अन्तःकरण** का शब्दार्थ है—अन्दर की इन्द्रिय। पर प्रयोग के विचार से यह पूर्णत **विवेक**

का और अशत **मन** का भी वाचक होता है। **अन्तःकरण** हमारी विशुद्ध **मन** नामक इन्द्रिय का वाचक है; उसके अभिलाषा, इच्छावाले अर्थों का इसमे अन्तर्भाव नही है। **विवेक** के द्वारा हम विवेचन का जो काम करते हैं, वह इसी **अन्तःकरण** की प्रेरणा और शक्ति से करते हैं। **आत्मा** (सं० आत्मन्*) की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वानों मे मत-भेद है। कुछ लोग इसे अन् (साँस लेना) से, कुछ लोग अत् (निरन्तर गति मे रहना या चलना) से और कुछ लोग त्मन् (प्राण वायु) से व्युत्पन्न मानते हैं। दार्शनिकों मे इसके स्वरूप के सम्बन्ध मे भी दो मत हैं। कुछ लोग इसे प्रकृति से भिन्न रखते और ब्रह्म के अश के रूप मे इसकी स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। ऐसे लोग आत्मवादी कहलाते हैं। पर कुछ लोग इसके विपरीत इसे प्रकृति का ऐसा विकार मात्र मानते हैं जो शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है और अन्त मे उसी के साथ नष्ट भी हो जाता है। आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता न मानने के कारण ही ऐसे लोग अनात्मावादी कहलाते हैं, जिनमे आज-कल के नये वैज्ञानिकों की सख्या ही अधिक है। पर अब इनमे मे भी बहुतेरे आत्मावादी होते जा रहे हैं। फिर भी दोनों के मत से यह ऐसी शक्ति है जो शरीर मे रहने पर उसे जीवित रखती और उससे सब काम कराती है और जिसके नष्ट हो जाने पर (या शरीर मे न रह जाने पर) शरीर मर जाता है। प्राय धार्मिक क्षेत्रों मे (जहाँ यह शरीर से पृथक् सत्ता और ब्रह्म का अश मानी जाती है) यह विश्वास है कि **आत्मा** एक अतीन्द्रिय और अभौतिक तत्त्व या पदार्थ है, जिसका कभी नाश नहीं होता। शरीर के सभी व्यापार इसी के अस्तित्व के कारण और फल-स्वरूप होते हैं। लाक्षणिक रूप मे इसका प्रयोग किसी वस्तु या विषय के उस आन्तरिक, गूढ और मूल तत्त्व के लिए होता है जो उसका सार-भाग होता है और जिस तत्त्व तक साधारण लोगों की पहुँच नहीं होती —

*** सस्कृत में आत्मा (आत्मन्) पुलिग है। हिन्दी में यद्यपि इसके सभी यौगिक रूप (जैसे—धर्मात्मा, परमात्मा, पुण्यात्मा, महात्मा आदि) पुलिग ही माने जाते है, फिर भी स्वय आत्मा का प्रयोग अधिकतर स्त्री-लिंग रूप में ही होता आ रहा है।**

केवल विचारशीलों की पहुँच होती है। जैसे—कविताएँ पढ जाना या शब्दों का प्रयोग कर लेना और बात है; पर उनको आत्मा तक पहुँचनेवाले विरले ही होते हैं।

महक (Scent)

खुशबू=सुगन्ध | **वास** (Odour)
गन्ध (Smell) | **सुगन्ध** (Aroma)
परिमल (Perfume) | **सौरभ** (Fragrance)
बू=गन्ध, वास, महक

महक स० महक* से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है—दूर तक फैलनेवाली सुगन्ध। यद्यपि इसका प्रयोग अधिकतर अच्छी गन्ध के लिए होता है, फिर भी कुछ अवस्थाओं मे यह हर तरह की गन्ध या वास के लिए भी प्रयुक्त होता है। हमे इत्र या फूलो की तो **महक** आती ही है; कपडे के जलने की भी **महक** आती है और मरे हुए चूहे या बिल्ली की भी। और इस दृष्टि से यहाँ यह **गन्ध** और **वास** दोनो का वाचक और पर्याय बन गया है। **गन्ध** अच्छी और बुरी सब तरह की हो सकती है। हमारे यहाँ जो बहुत-से गन्ध-द्रव्य गिनाये गये हैं, वे सबके सब सदा सुगधित ही नहीं होते, उनमे से कुछ की गन्ध अप्रिय, उग्र या कटु भी होती है। इसी लिए इसके इष्ट, अनिष्ट, मधुर, कटु, स्निग्ध, रूक्ष आदि नौ-दस भेद माने गये हैं, पर व्यवहारत मुख्य भेद दो ही हैं—इष्ट और अनिष्ट, अर्थात् सुगन्ध और दुर्गन्ध। सस्कृत में यह **सुगन्ध** का भी वाचक है, इसी लिए देवताओं को सुगन्धित द्रव्य अर्पित करने के समय कहा जाता है—

---

* हिन्दी शब्द-सागर मे इसे स० गमक से व्युत्पन्न माना गया है, जो ठीक नहीं है।

गन्धा पान्तु। पर परियों आदि की कहानियों में बच्चों को सुनाया जाता है कि जब उनके आस-पास मर्त्य लोक का कोई आदमी पहुँच जाता है, तब वे आपस में 'मानस-गन्ध, मानस-गन्ध' कहकर नाक-भौं सिकोडने लगती हैं। अर्थात् ऐसे अवसरो पर यह अप्रिय दुर्गन्ध का भी वाचक हो जाता है। शिकारी कुत्ते शिकार की गन्ध के आधार पर उनका पीछा करते हैं, और जगल मे गौ-बकरियो आदि को शेर या चीते की गन्ध आने पर वे विकल होने लगती हैं। यद्यपि उनकी यह विकलता स्वभावत प्राण-भय से होती है, फिर भी शेर या चीते की गन्ध होती सबके लिए अनिष्ट या अप्रिय ही है, और उसकी गिनती दुर्गन्ध मे ही होती है। हमारे यहाँ सड़ायँध आदि की तरह के जो कई शब्द प्रचलित हैं, उनमे का 'यँध' इसी गन्ध का विकृत रूप है। तो भी **गन्ध** शब्द साधारण **वास** का ही वाचक है, और इसी लिए इससे **सुगन्ध** और **दुर्गन्ध** दोनों शब्द बनते हैं। फारसी का **बू** शब्द भी स० गन्ध या वास का समानक ही है। यद्यपि कहीं-कहीं यह खुशबू या सुगन्ध का भी अर्थ देता है*, तो भी यह है साधारण गन्ध या वास ही, और इसी लिए इससे भी **सुगन्ध** और **दुर्गन्ध** की तरह **खुशबू** और **बदबू** शब्द बनते हैं। हम कह सकते हैं कि **गन्ध, वास, महक** और **बू** चारो शब्द अर्थ या भाव के विचार से अमर्यादित हैं, और इनका प्रयोग सभी प्रसगों मे बिना किसी विशेष विचार के होता है। अच्छा या बुरा भाव सूचित करने के लिए इनके आरम्भ मे उस प्रकार के उपसर्ग लगाने पडते हैं। पर **महक** शब्द तत्सम नहीं, बल्कि तद्भव है, इसलिए उसके पहले कोई उपसर्ग नहीं लगता। **वास** शब्द के अर्थ मे एक और भाव भी लग गया है, और वह है किसी चीज को किसी दूसरी चीज की **गन्ध** या **महक** से युक्त करने का। कई तरह की लकडियों, जानवरों या उनके कुछ अगो और अधिकतर अच्छे फूलों मे तो स्वयं **सुगन्ध** होती है, पर कपड़े सदा इत्र और फूलों से **सुवासित** किये जाते हैं, **सुगन्धित** नहीं किये जाते। प्राचीन काल मे रानी-महारानियाँ अपने सिर के

*** गुलिस्ताँ में जाकर हर एक गुल को देखा।**
न तेरी सी रगत, न तेरी सी बू है॥—कोई शायर।

बाल अगरु आदि के धूएँ से सुवासित ही करती थीं, सुगन्धित नहीं। आशय यही है कि **सुगन्ध** तो पदार्थों मे स्वय ही होती है; पर **सुवास** उनमे हो भी सकती है और बाहर से लाकर युक्त भी की जा सकती है। **परिमल** मुख्यत फूलों से निकलनेवाली वह प्रिय **सुगन्ध** है जो कुछ ही दूर तक पहुँचती है। **सौरभ** स० सुरभि से बना है और **सुरभि** का भी एक अर्थ है—सुगन्ध। पर **सौरभ** मुख्यत वृक्षो और वनस्पतियों की फूल-पत्तियों से निकलनेवाली वह हलकी सुगन्ध है जो हवा के साथ मिलकर बहुत दूर-दूर तक फैलती है।

माध्य (Average)

औसत=माध्य — **मध्यक** (Mean)

पड़ता=माध्य — **माध्यिका** (Median)

प्रसमा*(Norm) — **सम** (Par)

इस वर्ग के शब्द ऐसे मान, सख्या, स्थिति आदि के सूचक हैं जो औरो के बीच में या उस (बीच) के आस-पास पडती हैं। **माध्य** सं० मध्य से बना हुआ विशेषण है; पर प्रस्तुत प्रसग मे यह अपने वर्ग के और शब्दो की तरह सज्ञा रूप मे ही प्रयुक्त होता है। हाँ, एक **प्रसमा** को छोडकर प्रसंगवश शेष

---

* यद्यपि डा० रघुवीर ने नॉर्म (Norm) और (Normal) के लिए क्रमात् 'सामान्यक' और 'सामान्य' शब्द सुझाये है, पर ये शब्द इसलिए ठीक नहीं है कि सामान्य अँ० कॉमन (Common) के लिए चल गया है। हमारी समझ में नॉर्म के लिए 'प्रसमा' और नॉर्मल के लिए 'प्रसम' रखना ठीक होगा। इससे प्रसमतः (नॉर्मली), प्रासमिक (नॉर्मेटिव), अप्रसम (एबनॉर्मल) अ-प्रसमतः (एबनार्मली), अनुप्रसम (सब-नॉर्मल) और अनुप्रसमतः (सब-नार्मली) सभी रूप सहज मे बन जाते हैं।

सब शब्दों का प्रयोग विशेषण रूप मे भी हो सकता है। **माध्य** के लिए उसके अरबी समानक **औसत** का भी हिन्दी मे प्रचलन है। हमारे यहाँ की महाजनी बोल-चाल मे इसे **पड़ता** कहते हैं, और इसके साथ निकालना तथा बैठाना क्रियाओ का प्रयोग होता है। यह मुख्यत गणितीय क्षेत्र का शब्द है, और उस भाग-फल के लिए प्रयुक्त होता है जो कई सख्याओ के जोड को उतने से भाग देने पर प्राप्त होता है, जितनी सख्याएँ गिनती मे होती हैं। मान लीजिए कि किसी वर्ग या श्रेणी मे १०, किसी मे १५, किसी मे २०, किसी मे २५ और किसी मे ३० विद्यार्थी हैं। इस प्रकार कुल ५ श्रेणियो मे सब मिलाकर १०० विद्यार्थी हुए। इन पाँचों श्रेणियों के विद्यार्थियो का माध्य निकालने के लिए विद्यार्थियों की सख्या १०० को श्रेणियो की सख्या ५ से भाग देने पर भाग-फल २० निकलेगा; और तब हम कहेगे—इस विद्यालय की पाँचो श्रेणियों में विद्यार्थियो का **माध्य** (या औसत) २० है। यदि किसी बस्ती के १० आदमियों की मासिक आय १००), १० की ८०), १० की ६०), और १० की ४०) हो तो इन ४० आदमियों की मासिक आय कुल मिलाकर २८००) होगी। २८०० को ४० से भाग देने पर भाग-फल ७० निकलेगा, और तब कहा जायगा—इस बस्ती के रहनेवालों की **माध्य** आय ७०) मासिक है। अर्थात् जहाँ मान, सख्या आदि में बहुत-सी अ समानताएँ होती हैं, वहाँ उन सबका समान मोटा हिसाब लगाने के लिए उसका **माध्य** निकाल लिया जाता है। प्राय इस प्रकार के पुराने आँकड़ों या **माध्यो** के आधार पर भावी घटनाओं या उनकी सम्भावनाओ का भी अनुमान या कल्पना की जाती है। यदि काशी की वार्षिक वर्षा का **माध्य** ४० इंच है, तो हम कह सकते हैं कि यहाँ साधारणत हर साल ४० इंच पानी बरसता है। हाँ, विशेष अवस्थाओं मे कभी इससे कुछ कम और कभी कुछ अधिक पानी भी बरस सकता है। **मध्यक** विपरीत दिशाओं मे स्थित दो विन्दुओं, सख्याओं आदि के ठीक बीच का विन्दु या संख्या है। यदि २४ घण्टों मे किसी स्थान का तापमान उतरकर ६५ अश हो जाय और बढकर १०५ अश तक पहुँच जाय तो ताप-मान का **मध्यक** १०० होगा। ८ और १६ का **मध्यक** १२ होगा, २० और

४० का मध्यक ३० होगा* । बीच का विन्दु या स्थिति ही **मध्यक** कहलाती है। **माध्यिका** ठीक बीच का वह विन्दु है जिसके ऊपर और नीचे दोनों ओर सख्या के विचार से बराबर इकाइयाँ हों। इसमे केवल क्रमिक दृष्टि से ठीक बीचवाले अक, विन्दु या स्थिति के सिवा और किसी बात का विचार नहीं होता। इसे निकालने के लिए ऊपर और नीचे की इकाइयाँ भर गिन लेनी पड़ती हैं, गणित की और कोई क्रिया नहीं करनी पडती। १, २, ३, ४ और ५ की **माध्यिका** ३ होगी, ७, ८, ६, १०, ११, १२, १३, १४ और १५ की **माध्यिका** ११ होगी। **माध्य, मध्यक** और **माध्यिका** के पारस्परिक अन्तर एक और प्रकार से सहज मे समझे जा सकते हैं। मान लीजिए कि किसी जगह ५ आदमी रहते हैं। उनमे से एक ३०), दूसरा ४०), तीसरा ५०), चौथा ८०) और पाँचवाँ १००) मासिक वेतन पाता है। पाँचों मिलकर ३००) मासिक पाते हैं। ३०० को ५ से भाग देने पर भाग-फल ६० निकलता है। अत पाँचो आदमियों की मासिक **माध्य** आय ६०) हुई। अब एक आदमी तो सबसे कम ३०) पाता है और एक सबसे अधिक १००) पाता है। अब यदि हम ३० और १०० का **मध्यक** निकाले तो वह ६५ होगा, क्योकि ३० और १०० के ठीक बीच मे ६५ ही पडता है। पर यदि हम इन्हीं ३०, ४०, ५०, ८० और १०० की **माध्यिका** देखेंगे तो वह ५० ही ठहरेगी, क्योंकि वही पाँचो इकाइयो या सख्याओ के ठीक मध्य मे है। **प्रसमा** (दे० 'नियमित' के अन्तर्गत 'प्रसम') नया बनाया हुआ शब्द है। पहले सम में प्र उपसर्ग लगाकर प्रसम (विशेषण) बनाया गया है, और तब इस प्रसम से सज्ञा बनाने के लिए उसके अन्त मे ा की मात्रा लगा दी गई है। यह भी है तो एक प्रकार का **माध्य** (या औसत) ही, पर इसकी विशेषता यह है कि यह सदा ठीक उस प्रकार की गणितीय क्रिया के आधार पर स्थिर नही की जाती, जिस प्रकार की क्रिया से **माध्य** स्थिर किया जाता है। **प्रसमा** बहुधा अनुमान, कल्पना,

* पाटी गणित में तो ४ और १६ का मध्यक १० होगा, पर इन्ही ४ और १६ का ज्यामितिक मध्यक ८ होगा; क्योंकि ४ × १६=६४ होता है, और ६४ का वर्ग-मूल ८ होता है।

पर्यवेक्षण आदि के आधार भी स्थिर होती है। मान लीजिए कि किसी स्थान पर १०० लडकों की, किसी स्थान पर २०० लडकों की और किसी स्थान पर ५०० लडकों की धारणा शक्ति की जाँच हुई। सब जगह की जाँच करके यह स्थिर किया गया कि १० वर्ष की अवस्था के लडके इतनी बाते, १२ वर्ष की अवस्था के लडके इतनी बाते और १६ वर्ष की अवस्था के लडके इतनी बाते जान या सीख सकते हैं। यही उन अवस्थाओ के शेष सभी लडकों की अलग-अलग **प्रसमा** मान ली जायगी। जब सब का **माध्य** नही निकाला जा सकता और केवल कुछ का माध्य निकालकर शेष सबके सम्बन्ध मे कोई मानक या मान-दड स्थिर कर लिया जाता है, तब वही मानक या मान दड **प्रसमा** बन जाता है। समाज-शास्त्र मे चोरों, डाकुओ, हत्यारों और दूसरे प्रकार के अपराधियों की इस प्रकार जाँच करके उनके सम्बन्ध मे **प्रसमा** स्थिर कर ली जाती है; और इसी आधार पर कहा जाता है—अमुक व्यक्ति की मानसिक स्थिति **प्रसम** है, अमुक की अ-प्रसम (प्रसम से कुछ ऊँची) और अमुक की अनुप्रसम (प्रसम से कुछ नीची)। जहाँ वार्षिक वर्षा का माध्य ४० इच होता है, वहाँ प्रसमत प्राय ३७-३८ से ४२-४३ इच तक वर्षा होती है। यदि वर्षा ३०-३२ इच होकर रह जाय तो इसे अनुप्रसम कहेगे, और यदि वह बढकर ४८-५० इच तक पहुँच जाय तो वह अप्रसम कहलावेगी। **सम** सस्कृत का प्रसिद्ध विशेषण है, जिसके अर्थ हैं—तुल्य, बराबर, समान आदि। प्रस्तुत प्रसग मे इसका प्रयोग मुख्यत व्यापारिक क्षेत्रों मे किसी वस्तु का मौलिक मूल्य सूचित करने के लिए होता है। जैसे—अमुक कम्पनी (व्यापारिक मडली) के हिस्से आज-कल **सम** पर बिक रहे हैं। आशय यही होता है कि प्रत्येक हिस्से पर जितना मूल्य लिखा है अथवा जितने पर वह मूलत सब लोगों के हाथ बेचा गया था, उतने ही मूल्य पर वह अब भी बाजार मे बिक रहा है। यदि उसका दाम बढ जाय तो कहेगे—वह 'अधि मूल्य पर' (एबव पार) बिक रहा है; और यदि घट जाय तो कहेगे—वह 'अव मूल्य पर' (बिलो पार) बिक रहा है। पर ये आज-कल के नये गढे हुए पद हैं। हमारे यहाँ की पुरानी महाजनी बोल-चाल में '**सम** मूल्य पर' की जगह 'बराबर (या बराबरी) से,' 'अधि मूल्य पर' की जगह 'बढती से' और 'अव मूल्य पर' की जगह 'बट्टे

से' पद बहुत दिनों से चले आ रहे हैं। लाक्षणिक रूप मे भी **सम** का प्रयोग प्राय **माध्य** और **माध्यिका** के अर्थ मे होता या हो सकता है। हम कह सकते हैं—आज-कल हमारा स्वास्थ्य **सम** (या सम पर) है। आशय यही होता है कि वह साधारणत जैसा रहता आया है, वैसा ही है, न अधिक अच्छा है, न अधिक बुरा।

मानक (Standard)

आदर्श (Ideal) **प्रतिमान** (१ Model, २ Pattern)

कसौटी (१. Touchstone, २. Criterion) **मान-दंड=माप-दंड**

माप-दंड (Yardstick)

गज=माप-दंड

सस्कृत मे मान के अनेक अर्थ हैं, जैसे—नाप, तौल, लम्बाई-चौडाई, आकृति की समानता आदि। प्रस्तुत प्रसंग मे मान शब्द इन सब बातों का सामूहिक वाचक माना गया है; और इसी अर्थ के विचार से उसमे क प्रत्यय लगाकर **मानक** बनाया गया है*। किसी वस्तु की नाप-तौल, रूप-रग, आकार-प्रकार अथवा किसी बात के गुण, महत्त्व, विशेषता आदि जाँचने और स्थिर रखने

---

* प्राय ८-१० वर्ष पहले मैंने 'अच्छी हिन्दी' के किसी आरम्भिक सस्करण में अ० स्टैण्डर्ड (Standard) के लिए मानक शब्द सुझाया था। उस समय कुछ लोगो ने इस पर कड़ी टीका-टिप्पणी की थी। पर अब यह शब्द अच्छी तरह चल गया है, और भारत सरकार तक ने इसे मान लिया है, और दिल्ली में 'भारतीय मानक सस्था' (Indian Standard Institute) के नाम में इसे स्थान मिला है।

के लिए प्राय आधिकारिक रूप से जो मान या माप सब जगह चलता और ठीक माना जाता है, वही **मानक** कहलाता है। इसी **मानक** के विचार से चीजों या बातों के बढिया-घटिया और अच्छे-बुरे होने का अनुमान तथा निर्णय किया जाता है। इस दृष्टि से हम इसे आदर्श माध्य (दे०—माध्य) भी कह सकते हैं। जैसे—आज-कल **मानक** सेर ८० तोले का और **मानक** गज ३६ इचों का माना जाता है। इसी आधार पर रासायनिक क्रियाओं से तेल, मद्य आदि का भी **मानक** इसलिए स्थिर कर लिया जाता है कि उनकी उपयोगिता, गुण आदि स्थिर रहें—मिलावट आदि के कारण कम न होने पावे। इसी तरह हम कुछ अमूर्त्त बातों के लिए भी अपने मन मे कुछ **मानक** स्थिर कर लेते हैं, और कहते हैं—(क) आज-कल अमुक पत्र या पत्रिका अपने **मानक** से गिर गई है; अथवा (ख) वे अपनी साहित्यिक रचनाओं का **मानक** दिन पर दिन ऊँचा करते चलते हैं। आशय यही होता है कि साधारणत जो अच्छी स्थिति होनी चाहिए या रहती आई है, उससे (क) पत्रिका नीचे गिरती जा रही है या (ख) रचनाएँ ऊपर उठती जा रही हैं। यह गुण-दोष आदि की परख का एक स्थिर **प्रतिमान** ही होता है। **आदर्श** का शब्दार्थ तो है—आँखों से देखना, पर साधारणत यह दर्पण या शीशे का वाचक है। प्रस्तुत प्रसग मे और हिन्दी मे विशेष प्रचलित रूप मे **आदर्श** वस्तुत किसी बात की वह श्रेष्ठतम अवस्था या स्थिति है जिस तक हम आगे बढते हुए अन्त तक पहुँचना चाहते हैं। **आदर्श** वस्तुत अवास्तविक और प्राय काल्पनिक होता है। हम पहले किसी बात या वस्तु की पूर्णता का जो रूप अपने मन मे बना लेते हैं, वही हमारा **आदर्श** कहलाता है; और उसी की सिद्धि के लिए हम प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार **आदर्श** हमे सदा आगे बढते रहने की प्रेरणा करता है। कुछ अवस्थाओं में **आदर्श** वास्तविक भी होता है। महात्मा गान्धी ने राम-राज्य को अपना आदर्श मान रखा था, और अनेक देश-भक्तों ने स्वय महा० गान्धी को अपना आदर्श मान लिया था। **प्रतिमान** का शब्दार्थ है—जोड़ की या बराबरी करनेवाली चीज या बात। पर हिन्दी मे यह मुख्यत दो अर्थों मे चलता है। एक तो वह चीज होती है, जिसे हम नमूना मानकर उसके अनुरूप कोई दूसरी चीज तैयार करते हैं। दूसरे, वह चीज भी होती है

जो हम पहले नमूने के तौर पर बनाकर रख लेते हैं, और तब उसके अनुसार दूसरी बहुत-सी चीजे बनाते हैं* । **प्रतिमान** इन दोनो तरह की चीजों का वाचक है। इसमे मुख्य भाव यही है कि कोई चीज नमूना मान ली जाय, और तब उसके अनुरूप और चीज या चीजे बनाई जायॅ । **प्रतिमान** किसी बनाई जानेवाली चीज का वह आदर्श रूप होता है, जिसकी सहायता से और अनुकरण पर उस वस्तु की दूसरी प्रतियाँ या प्रतिकृतियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। कारीगरों को जब कोई मकान या मूर्ति बनानी होती है, तब वे पहले उसका एक **प्रतिमान** बना लेते हैं, जिससे उसके आकार-प्रकार, रूप-रग, गुण-दोष आदि का पहले से विवेचन कर लेने का अवसर मिलता है। जब वह **प्रतिमान** हर तरह से ठीक हो जाता है, तब उसी के अनुकरण और आधार पर वास्तविक मकान या मूर्त्ति बनती है। यदि पहले से बनी हुई कोई अच्छी चीज सामने होती है और उसी के अनुकरण पर कोई और चीज या कुछ और चीजे बनने को होती हैं, तो वह पहली चीज भी **प्रतिमान** ही कहलाती है। हर तरह से **प्रतिमान** वह नमूना है जिसके अनुकरण पर कोई चीज बनती है। **कसौटी** स० कष-पट्टिका से व्युत्पन्न है, और मूलत विशिष्ट प्रकार के उस काले पत्थर की वाचक है, जिस पर कस (या रगड) कर सोने या उसके आभूषणों आदि के खरे-खोटे होने की परीक्षा की जाती है। लाक्षणिक रूप मे **कसौटी** मे मुख्य भाव गुण-दोषो की जाँच या परख का है, और इसका प्रयोग यही जानने या सूचित करने के लिए होता है कि कोई चीज किसी नियम, सिद्धान्त आदि के विचार से कहाँ तक पूरी या अधूरी है। ऐसी जाँच वस्तुओं की भी हो सकती है, विचारों की भी और व्यक्तियों की भी। इससे उनके गुण, प्रकार, रूप और विशेषता का पता चलता है। हर चीज या बात की **कसौटी** हमे उसके सम्बन्ध मे उचित और ठीक निर्णय करने मे सहायता देती है। हम कहते हैं—सत्यता (या सौजन्य) मनुष्य की सबसे बडी **कसौटी** है। आशय यही होता है कि जिसमें पूरी-पूरी सत्यता (या सौजन्य) न हो, वह वास्तविक दृष्टि से

*** ॲंगरेजी मे इन दोनों भावों के सूचक दो अलग-अलग शब्द (मॉडल और पैटर्न) है, पर हमारे यहाँ इनका काम अकेले प्रतिमान से ही चलता है ।**

मनुष्य नहीं है। **गज** (फारसी गज) हिन्दी का प्रसिद्ध शब्द है। यह लकडी, लोहे, फीते आदि की वह चीज है जिससे लकडियाँ, पत्थर, कपडे आदि नापे जाते हैं। **मान-दड** या **माप-दड** भी शब्दार्थ के विचार से वही है, जो **गज** है। किसी वस्तु का मान या माप जानने के लिए जिस दड का व्यवहार किया जाय, वही **मान-दड** या **माप दड** कहलाता है। लाक्षणिक रूप मे ये तीनों शब्द भी बहुत-कुछ उसी अर्थ मे प्रचलित हैं, जो ऊपर **मानक** का बतलाया गया है। हम कहते हैं—आप हमे अपने **गज** (या माप-दड) से नापने का प्रयत्न न करें। आशय यही होता है कि व्यावहारिक क्षेत्र मे आप हमे उस तरह का आदमी न समझें, जिस तरह के स्वय आप हैं। पहले हिन्दी मे **मान-दड** का ही अधिक प्रयोग होता था; पर अब इसके स्थान पर **मानक** शब्द चलने लगा है।

मिलान

तुलना (Comparison) **मेल=मिलान (आंशिक रूप में)**
परितुलन (Collation) **व्यतिरेक** (Contrast)

मिलान हिन्दी की सकर्मक क्रिया मिलाना का भाव-वाचक रूप है। मिलाना के कई अर्थ हैं, जैसे—मिश्रित करना, सयुक्त करना, सम्मिलित करना, साथ लगाना या सटाना आदि, और साधारणत इन सभी क्रियाओं का भाव **मिलान** से निकलता या निकल सकता है। फिर भी यह शब्द कुछ ऐसे विशिष्ट भावों से युक्त है, जो मुख्यत **तुलना** के वर्ग के हैं। हम प्रायः गुण-दोष, न्यूनता-विशेषता आदि परखने के लिए चीजों का आपस मे **मिलान** करते हैं। कहा जाता है—इन कपडो (या पुस्तको) का **मिलान** करके देख लीजिए, आप ही पता चल जायगा कि कौन रखने योग्य हैं और कौन लौटाने योग्य। किसी मूल लेख की प्रतिलिपि के ठीक होने की जाँच भी सदा **मिलान** करके ही की जाती है। आय-व्यय आदि की सब मदों की रकमों के जोड और बाकी का **मिलान** करके

देखा जाता है कि हिसाब मे क्यों और कहाँ फरक पडता है। यहाँ **मिलान** मे मिलाकर देखने का ही भाव है। बढई, राज आदि इस बात की जाँच करते हैं कि लकडियो या दीवार के कोनों का ठीक **मिलान** हुआ है या नही। ऐसे प्रसगों मे **मिलान** ठीक तरह से मिले या सटे हुए होने का वाचक होता है। इस प्रकार **मिलान** उस क्रिया का वाचक है, जिससे किसी चीज के ठीक होने अथवा जैसी चाहिए, वैसी होने का पता चलता है। हाँ मिलाने का जो मिश्रित या सयुक्त करनेवाला अर्थ है, उसका भाव-वाचक रूप **मिलान** नहीं है*। हम यह नहीं कह सकते—इस दूध मे पानी का मिलान है, अथवा इसी स्टेशन पर दोनों गाडियों का **मिलान** होगा। ऐसे अवसरों पर **मेल** का प्रयोग ही ठीक होगा।

तुलना सं० तुल् धातु से बना है, जिसके अर्थ हैं—ऊपर उठाना, भार का पता लगाना आदि। इसी तुल् से सस्कृत के तुला, तुल्य, तोलन आदि शब्द और हिन्दी के तौल, तौलना, तौलाई आदि शब्द बने हैं। सज्ञा रूप मे **तुलना**† मुख्यत ऐसा अन्वेषण या विचार कहलाता है, जिससे पता चलता है कि सामने आई हुई दो या अधिक चीजों मे से कौन-सी भारी और कौन-सी हलकी है, अथवा कौन सी अच्छी और कौन-सी बुरी है। अर्थात् चीजों के गुण, महत्त्व, मान आदि का विचार करके ठीक पता लगाना ही **तुलना** का उद्देश्य होता है। **तुलना** उन्हीं चीजों मे या उन्हीं चीजों की होती है, जिनमे आकार, प्रकार, गुण, धर्म आदि की थोडी-बहुत समानता होती है। यों रूप-रग या रहन-सहन के विचार से तो आदमी और शेर की **तुलना** नहीं हो सकती, पर बल, मनोवृत्ति आदि के विचार से **तुलना** हो सकती है। हम कहते हैं—वह तो पूरा राक्षस है, उससे हमारी क्या **तुलना** हो सकती है! आशय यही होता है कि गुण, धर्म

* इस अर्थ की दृष्टि से मिलना का भाव-वाचक रूप मिलन या मेल और मिलाना का भाव-वाचक रूप मिलाई या मलावट होता है।

† हिन्दी में तुलना का प्रयोग अकर्मक क्रिया के रूप में भी होता है, जिसका अर्थ होता है—तौला जाना। पर यह अर्थ और रूप प्रस्तुत क्षेत्र के बाहर का है।

आदि के विचार से उससे हमारा कोई सादृश्य नहीं है। ऐसे प्रसगों मे **तुलना** शब्द प्राय बराबरी या समानता का वाचक हो जाता है। विद्यार्थियों से कहा जाता है—सूर के विनयवाले पदों की तुलसी के विनयवाले पदों से **तुलना** कीजिए। आशय यही होता है कि बतलाइए कि दोनों मे कहाँ कहाँ समानताएँ हैं और कहाँ कहाँ क्या अन्तर तथा विशेषताएँ हैं। **तुलना** तो सदा समान गुण-धर्मों के विचार से होती है, पर जब विपरीत अथवा विरोधी बातों का परस्पर मिलान किया जाता है, तब उसे **व्यतिरेक** कहते हैं*। **व्यतिरेक** के मुख्य अर्थ हैं—अन्तर या भेद, पार्थक्य, विरोध आदि। हम कहते हैं—जो शब्द एक दूसरे के पर्याय जान पडते हैं, उनका ठीक ठीक अन्तर और प्रयोग **व्यतिरेक** के द्वारा ही बताया जा सकता है। आशय यही होता है कि हम दोनों शब्दो का ठीक अन्तर तभी जान सकते हैं, जब दोनों को (वाक्यों मे) एक दूसरे के सामने रखकर उनका पार्थक्य या विरोध दिखलावें। यदि हम किसी बड़े पहलवान और बिलकुल दुबले-पतले तथा ककाल सरीखे भिखमगे को सामने रखकर दोनों के सम्बन्ध की कुछ बातों का विचार करें, तो यह **व्यतिरेक** कहा जायगा, **तुलना** नही। अर्थात् जो **तुलना** केवल विरोधी तत्त्वो के आधार पर की जाती है, वही **व्यतिरेक** कहलाती है। **परितुलन** स० तुलन मे परि उपसर्ग लगाकर नया बनाया हुआ शब्द है, और इसका सम्बन्ध मुख्यत साहित्यिक क्षेत्र से है। किसी प्राचीन ग्रन्थ के लेखों, विवरणो, सस्करणों आदि की समानताओं और विरोधों का ठीक तरह से विचार करते हुए जो **तुलना** की जाती है, वही पारिभाषिक क्षेत्र मे **परितुलन** कहलाती है। इसमे यह पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है कि किसी चरण, पद्य, प्रयोग आदि का मूल रूप क्या था अथवा

*** इसी आधार पर हमारे यहाँ साहित्य मे व्यतिरेक एक अलकार भी माना है। जहाँ (क) उपमान की अपेक्षा उपमेय में कुछ उत्कर्ष या विशेषता अथवा (ख) उपमान मे कुछ अपकर्ष या न्यूनता दिखाई जाती है, वहाँ व्यतिरेक अलकार का अस्तित्व माना जाता है। जैसे—तुम्हारा निष्कलक मुख चन्द्रमा से कहीं बढ़कर है (क्योंकि चन्द्रमा तो कलक से युक्त है)।**

क्या होना चाहिए। अधिक विचारशील तथा सुयोग्य सम्पादक प्राय प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन करते समय इसी प्रकार का **परितुलन** करते हैं। हम कह सकते हैं—सूर सागर का सम्पादन करते समय रत्नाकर जी को पचीसों-पचासों पुरानी प्रतियों का **परितुलन** करना पडा था।

मूर्त्त (Concrete)

गोचर (१. Perceptible, २. Sensible) धार्य (Tangible)

मूर्त्त (विपर्याय अमूर्त्त) वह कहलाता है, जिसकी कोई मूर्त्ति, रूप या शकल हो। जिसका कोई आकार या शरीर हो, वह तो **मूर्त्त** है ही, परन्तु पारिभाषिक क्षेत्र और लाक्षणिक रूप मे वह भी **मूर्त्त** कहलाता है, जो इतना स्पष्ट हो कि हम सहज मे उसका अनुभव कर सके या उससे परिचित हो सके। कपडा, घर, बरतन आदि तो मूर्त्त हैं ही, क्योंकि उनकी स्पष्ट आकृति या मूर्त्ति होती है, पर जब कोई कथन या योजना कुछ उदाहरणो का रूप-रेखाओं आदि से युक्त होकर इस प्रकार हमारे सामने आती है कि हम उसके सभी अगो और उपागों तथा ब्योरे की बातों से सहज मे परिचित हो जाते हैं, तब वह कथन या योजना भी **मूर्त्त** के वर्ग मे आ जाती है। यदि हम यों हो किसी बालक से कहे—'सदा सच बोलना चाहिए।' तो यह हमारे सामने उपदेश या शिक्षा का कोई **मूर्त्त** रूप न होगा। पर यही बात उसे उदाहरण सहित और कथा-कहानी के रूप मे सच बोलने का अच्छा परिणाम (और हो सके तो झूठ बोलने का बुरा परिणाम भी) दिखलाते हुए बतलाई या समझाई जाय, तो यह हमारे उपदेश का **मूर्त्त** रूप कहा जायगा। **गोचर** (विपर्याय अगोचर) का साधारण अर्थ है—जिसका ज्ञान हमें इन्द्रियों के द्वारा हो सके या होता हो। यो साधारणत जिन चीजो या बातों का हमे आँख, कान, नाक, जीभ या त्वचा से ज्ञान होता है, वे तो **गोचर**

है ही, पर हमारे यहाँ मन को भी छठी इन्द्रिय माना है, इसलिए हमे मन या बुद्धि से जिन बातो का ज्ञान होता है और जिन्हें हम बाहरी लक्षणो की सहायता से देख और पहचान सकते हैं (फिर चाहे वे मूर्त्त हो और चाहे अमूर्त्त), उन्हे हम **गोचर**※ कहते हैं। हम कहते हैं—(क) उनके व्यवहारों मे अब **गोचर** परिवर्त्तन होने लगा है, अथवा (ख) आप लोगों की बातो मे कोई **गोचर** अन्तर नहीं दिखाई देता। ऐसे अवसरों पर **गोचर** का अर्थ होता है—जो सहज मे ध्यान अथवा समझ मे आ सके। **धार्य** (विपर्याय अधार्य) का साधारण अर्थ है—जिसे धारण किया जा सके। यों तो हम वस्त्र भी धारण करते हैं और शस्त्र भी, परन्तु लाक्षणिक रूप मे **धार्य** का भी बहुत-कुछ वही अर्थ होगा, जो ऊपर **गोचर** का बतलाया गया है। तो भी **गोचर** की अपेक्षा धार्य के अर्थ मे कुछ विशेषता है। साधारणत **धार्य** वही वस्तु होती है, जिसे हम हाथ से पकड़ सके। पर लाक्षणिक रूप मे **धार्य** ऐसी वस्तु भी कही जायगी, जिसे हमारी धारणा शक्ति सहज मे ग्रहण कर सके और जिसका अस्तित्व प्रमाणित किया जा सके। पारिभाषिक क्षेत्र मे वही चीज **धार्य** कही जायगी, जिसकी कोई वास्तविक और स्वतत्र भौतिक (दे०—'शारीरिक' के अन्तर्गत 'भौतिक') सत्ता हो, फिर चाहे वह हाथ से छूई या पकडी जा सकती हो और चाहे न छूई या न पकडी जा सकती हो। हमारे प्रति आप की शुभ कामना या सद्भावना वास्तविक होने पर भी इस-लिए **धार्य** नही मानी जायगी कि उसकी कोई भौतिक सत्ता नही है। पर आप का परामर्श या सम्मति हमारे लिए इस दृष्टि से **धार्य** हो सकती है कि हम उस पर विचार करके उसका ऊँच-नीच समझ सकते और उससे भौतिक लाभ उठा सकते हैं। व्यापारिक क्षेत्र मे देने-पावने की रकमे भी **धार्य** हो सकती हैं, पर व्यापारिक जगत मे आप की साख **धार्य** नहीं हो सकती। सूर्य की किरणों या उनके कारण पडने-

---

※ सस्कृत मे मुख्य रूप से गोचर का अर्थ है—इन्द्रियों से ज्ञात होने-वाला। कर्ण-गोचर का अर्थ होता है—कान से सुनाई पडनेवाला, और दृष्टि-गोचर का अर्थ होता है—आँख से दिखाई पडनेवाला। पर यहाँ गोचर शब्द अधिक विस्तृत और व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

वाली किसी वस्तु की छाया तो इसलिए **धार्य** नहीं होगी कि हम उसे नहीं पकड सकते; पर बिजली इसलिए **धार्य** मानी जाती है कि उसे हम किसी न किसी रूप मे पकड रखते और मन-माने ढग से उससे कई तरह के काम ले सकते हैं। **गोचर** और **धार्य** मे एक और अन्तर है। जो **गोचर** होगा, वह बहुधा सबके लिए समान रूप से **गोचर** रहेगा, पर **धार्य** का ज्ञान प्राय सम्बद्ध लोगों को ही होगा। किसी बहुत बडे विवाद का परिणाम प्राय सभी लोगों के लिए बहुत कुछ समान रूप से **गोचर** होगा, पर उसका **धार्य** परिणाम (या हानि-लाभ) उन्हीं लोगों को जान पडेगा जो विशिष्ट रूप से उस विवाद से सम्बद्ध होंगे।

———

मूर्त्ति (Idol)

आकृति (Figure)	**प्रतिमा** (Image)
चेहरा=वर्णक	**वर्णक** (Mask)
पुतला (Effigy)	**विग्रह** (Statue)

प्रतिमा, **मूर्त्ति** और **विग्रह** तीनों एक ही प्रकार की प्रतिकृतियों (दे०—प्रतिकृति) के सूचक हैं, और हमारे यहाँ के धार्मिक क्षेत्रों मे प्रायः एक ही अर्थ मे और समानक के रूप मे प्रचलित हैं। हम जिसे देवता की **प्रतिमा** कहते हैं, उसी को **मूर्त्ति** और **विग्रह** भी कह लेते हैं। ये तीनों शब्द प्रायः कल्पित अथवा वास्तविक व्यक्तियों के आकार और रूप के अनुकरण पर बनी हुई ऐसी प्रतिकृतियाँ होती हैं, जो सदा आदर-भाव और पूज्य बुद्धि से धातु, पत्थर, लकडी आदि से प्रस्तुत की और देखी जाती हैं। तो भी व्युत्पत्ति और व्यवहार की दृष्टि से इनमे कुछ अन्तर है, और स्पष्टता के विचार से कुछ अन्तर होने भी चाहिएँ। इस वर्ग के मुख्य शब्द **मूर्त्ति** का एक स्वतत्र वर्ग और विस्तृत क्षेत्र है, जिसमे **प्रतिमा**

और विग्रह के सिवा मिट्टी, लकडी आदि के खिलौने तक आ जाते हैं*। दूसरे, इसमे पशु-पक्षियों तक की प्रतिकृतियों का अन्तर्भाव होता है। जैसे-गौ या गरुड की **मूर्त्ति**। लौकिक व्यवहार मे हम इन्हें **प्रतिमा** या **विग्रह** नहीं कहते। यों **मूर्त्ति** शब्द स० मूर्त्त (दे०-मूर्त्त) का भाव-वाचक रूप है, और इसका अर्थ मूर्त्त वस्तु की अथवा उसके अनुकरण पर बनी हुई प्रतिकृति है। फिर भी **मूर्त्ति** का प्रयोग अधिकतर देवी-देवताओं के सम्बन्ध मे ही होता है। जैसे-राम, कृष्ण, दुर्गा, पार्वती या विष्णु की **मूर्त्ति**। यों शब्दार्थ के विचार से **प्रतिमा** भी बहुत-कुछ वही है, जो प्रतिमान (दे०-'माध्य' के अन्तर्गत 'प्रतिमान') है, और इसी लिए यह **मूर्त्ति** का पर्याय भी बन गया है। तो भी इसमें किसी अनुकृति या नकल का भाव ही मुख्य है; स्वय उस वस्तु का नहीं, जो किसी की अनुकृति या नकल पर बनती है। **विग्रह** का पहला अर्थ है—देह या शरीर, और दूसरा अर्थ है—देव-मूर्त्ति। पर अपने विस्तृत अर्थ मे **विग्रह** किसी जीवित या मृत व्यक्ति की (चित्र से भिन्न) वह प्रतिकृति है जो उसके प्रति आदर या करने और उसकी कीर्त्ति तथा स्मृति स्थायी करने के लिए बनाई जाती है। आज-कल यह प्राय किसी ऐसे प्रमुख और सार्वजनिक स्थान पर स्थापित किया जाता है, जहाँ सब लोग उसे देखकर उससे प्रभावित हो सकें। **मूर्त्ति** बहुधा आराधन, पूजन आदि के लिए, **प्रतिमा** प्रदर्शन के लिए और **विग्रह** आदरपूर्वक स्मृति बनाये रखने के उद्देश्य से बनता है। **आकृति** का मुख्य अर्थ है—किसी चीज या आदमी का वह रूप या शकल जो उसकी गठन या बनावट के कारण हमे ऊपर या बाहर से दिखाई देती है। जैसे—पशु या मनुष्य की **आकृति**। **आकृति** की कल्पना बाह्य रेखाओं के आधार पर होती है। हम कहते हैं—उसकी **आकृति** अभी तक हमारी आँखों के सामने बनी है। आशय यही होता है कि उसके शरीर का आकार-प्रकार, रूप-रग, बनावट आदि हम अभी तक नही भूले हैं। जो अनुकृति इस

---

* यहाँ तक कि साधुओ और विरक्तो के समाज में व्यक्तिगत रूप से उन के सब सदस्य भी आ जाते है। साधु लोग प्रायः कहते हैं—हम लोग यहाँ दस मूर्त्तियाँ हैं। आशय यही होता है कि हम लोग दस आदमी हैं।

आकृति के आधार पर बनाई जाती है, वह भी **आकृति** ही कहलाती है, चाहे वह धातु, पत्थर आदि की मूर्त्तियों के रूप मे हो, चाहे कागज पर अकित रेखाओं आदि के रूप मे। किसी वस्तु के रूप, आकार-प्रकार आदि का परिचय कराने के लिए ही अनुकृति के रूप मे **आकृति** प्रस्तुत भी की जाती है। ज्यामिति आदि मे केवल रेखाओं की सहायता से जो रूप बनाये जाते हैं, उन्हें भी **आकृति** कहते हैं, जैसे—त्रिकोण या चतुष्कोण आकृति। इसका उद्देश्य केवल आकार और रूप बतलाना होता है। **पुतला** भी अपने प्राथमिक अर्थ मे है तो बहुत-कुछ वही, जो **मूर्त्ति** या **विग्रह** हैं, पर बाद मे इसका प्रयोग कुछ दूसरे अर्थ मे होने लगा। हिन्दुओ मे घर के किसी प्राणी का पचकों (धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वा भाद्रपद, उत्तरा भाद्रपद और रेवती नाम के अन्तिम पाँच नक्षत्रों) मे मरना इसलिए अशुभ माना जाता है कि लोगों का विश्वास है कि इसके बाद घर के और पाँच आदमी भी मरते हैं। ऐसे व्यक्ति के शव-दाह के समय घास-पात के पूलों के पाँच **पुतले** भी इसलिए बनाकर उसके साथ जलाये जाते हैं कि पचकों मे मरने के दोष का परिहार हो जाय। कुछ और प्रसगो में अपना घोर असतोष या विरोध प्रकट करने के लिए भी किसी का **पुतला** बनाकर अपमानित किया या जलाया जाता है। **पुतला** प्राय किसी की ठीक प्रतिकृति के रूप मे तो नहीं होता, फिर भी वह उस व्यक्ति का सूचक प्रतिनिधि अवश्य माना जाता है, जिसका **पुतला** बनाया जाता है। भारत में स्वतत्रता आन्दोलन के विकट दिनों मे प्राय ब्रिटिश शासन, अत्याचारी अँगरेज अधिकारियों और कठोर राज-नियमों के **पुतले** बनाकर जलाये जाते थे। कुछ ही दिन पहले डोम, भाँड, भाट, मीरासी आदि ऐसे कजूसों के **पुतले** बनाकर बाजारो में लाते थे, जिनसे उन्हे अभीष्ट धन नही मिलता था। उन **पुतलो** को ही वे जनता के सामने अनेक प्रकार की हास्यजनक बातों से अपमानित करके अपना असन्तोष प्रकट करते थे। प्राचीन भारत मे **वणक** प्राय मिट्टी का बना हुआ ऐसा आवरण होता था जो अभिनय आदि के समय अपनी आकृति छिपाकर दूसरों की आकृति प्रकट करने के लिए माथे और मुँह पर लगाया जाता था। इसमे आगे की ओर मस्तक, मुँह, नाक, आँखें आदि बनी होती थीं, जिनमे

कई तरह के रंग* भरे होते थे। काली, हनुमान आदि देवी-देवताओं तथा खर, दूषण, रावण आदि राक्षसों की आकृतियोंवाले ऐसे **वर्णक** या **चेहरे** अब भी बाजारों मे मिलते हैं, जो या तो बच्चों के खेलने के काम आते हैं या राम-लीला, रास लीला आदि के समय स्वाँग भरने के लिए। इससे असल चेहरा तो छिप जाता है, और नकली चेहरा सामने रह जाता है। इसी लिए लोक मे इसे **चेहरा** भी कहते हैं। पर पाश्चात्य देशों मे **चेहरे** या **वर्णक** का रूप भी बहुत-कुछ बदल गया है और उपयोग भी। वहाँ प्राय मखमल, रेशम आदि के ऐसे **चेहरे** या **वर्णक** बनते हैं जिनमे आँखों की जगह दो छेद तो होते हैं, परन्तु जिन पर कोई आकृति नहीं बनी होती। प्राय चोर, डाकू अपराध करने के समय अपनी पहचान छिपाने के लिए और नृत्य, स्वाँग आदि के समय भले आदमी केवल मनोविनोद के लिए मुँह पर ऐसा चेहरा या **वर्णक** लगा लेते हैं।

मृत्यु (Death)

निधन (Demise)	**मरण = मृत्यु**
निर्वाण	**स्वर्ग-वास, काशी-वास, गंगा-लाभ आदि**
प्रमीति (Decease)	

मृत्यु सार्विक शब्द है जो इस बात का सूचक है कि किसी जीव या प्राणी, विशेषत मनुष्य, के जीवन का अन्त हो गया, अर्थात् शरीर से उसके प्राण निकल गये हैं। इसका प्रयोग एक के सम्बन्ध मे भी होता है और अनेक के सम्बन्ध मे भी, और प्राय इसके साथ कारण का भी उल्लेख होता है। जैसे—मकान गिरने से दस आदमियों की मृत्यु हो गई। **निधन** का प्रयोग मुख्यत बडे

---

*रंग का एक संस्कृत पर्याय वर्ण भी है, और अनेक प्रकार के वर्णों से युक्त होने के कारण ही यह आवरण वर्णक कहलाता था।

और महत्त्व के लोगों की मृत्यु के सम्बन्ध मे होता और उनके प्रति विशिष्ट आदर या श्रद्धा का सूचक होता है। जैसे—लोक-मान्य तिलक या माहत्मा गान्धी का **निधन**। **निर्वाण** मुख्यत उन बौद्धो का शब्द है जो आत्मा का स्वतत्र अस्तित्व उस रूप मे नहीं मानते, जिस रूप मे हिन्दू मानते हैं। **निर्वाण** का प्राथमिक अर्थ है—ज्योति, लौ आदि का अन्त हो जाना या बुझना, जैसे—ज्वाला या दीपक का **निर्वाण**। इसी लिए जीवन-ज्योति का अन्त भी **निर्वाण** कहलाता है। **प्रमीति** मुख्यत भाव-सूचक सज्ञा है, अर्थात् उससे **मृत्यु** की क्रिया का व्यापार का भाव मात्र सूचित होता है। **मरण** यद्यपि है तो **मृत्यु** का पर्याय ही, फिर भी इसमे मुख्यता **प्रमीति**वाले भाव-वाचक तत्त्व की है, अर्थात् यह भी भाव-प्रधान शब्द है। हम कहते हैं—(क) जन्म के साथ **मरण** भी लगा हुआ है, अथवा (ख) कुछ क्रियाएँ या सस्कार भी **मरणोत्तरक** होते हैं। **स्वर्ग-वास** है तो मुख्यत हिन्दुओ का शब्द, पर इसका प्रयोग आदरार्थक रूप मे ऐसे सभी लोगों के सम्बन्ध में होता है, जिनकी **मृत्यु** हो चुकी है। कहा जाता है आज अमुक सज्जन का **स्वर्ग वास** हो गया है। आशय यही होता है कि उनके इस लोक के जीवन का अन्त हो गया, और अब वे पर-लोक या स्वर्ग मे जाकर रहेंगे। ऐसा प्राय इसी लिए कहा जाता है कि मृत व्यक्ति के प्रति आदर भाव दिखलाना सभी जातियों मे शिष्टता और सौजन्य का आवश्यक अग है। **काशी-वास** और **गगा लाभ** केवल हिंदुओ में प्रचलित पद हैं; और इनका प्रयोग आस्तिक तथा धार्मिक हिन्दुओं मे ही होता है। साधारणत माना यह जाता है कि काशी मे मनुष्य के मरने से उसकी मुक्ति हो जाती है; और इसी लिए काशी मे शरीर छोडने के उद्देश्य से प्राय लोग वृद्धावस्था मे दूर दूर से आकर रहने लगते हैं। इसी प्रकार यह भी माना जाता है कि मरने पर मनुष्य का मृत शरीर या उसकी राख, हड्डियाँ आदि गगा जी मे डालने या बहाने से उस आदमी की मुक्ति हो जाती है। और इसी लिए इन पदों का भी **स्वर्ग-वास** की तरह आदरार्थक प्रयोग होता है।

मौलिक (Original)

आदि, आदिक (Initial) प्राथमिक (Primary)
आरम्भिक (Elementary) प्रारम्भिक (Preliminary)
प्रधान (Principal) मूल-भूत (Fundamental)
मुख्य=प्रधान

मौलिक स० मूल से बना हुआ विशेषण है, जिसका साधारण अर्थ है—मूल में होनेवाला या मूल-सम्बन्धी। प्रस्तुत प्रसग मे यह मुख्यत या तो (क) ऐसी चीज या बात के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता है, जो सबके आरम्भ मे हुई हो या रही हो, या (ख) जिसके आधार पर या देखा-देखी उसी तरह की और चीजें या बाते निकली, बनी या विकसित हुई हो, या (ग) जो ऐसा अनोखा और नया हो, जैसा पहले कभी देखने-सुनने मे न आया हो, या (घ) जिसमे किसी का अनुकरण या नकल न की गई हो। सक्षेप मे यह भी कहा जा सकता है कि जो किसी दूसरे से व्युत्पन्न न हुआ हो, बल्कि स्वय उत्पन्न हुआ अथवा किया गया हो, वही मौलिक है। फिर भी अधिकतर अवस्थाओं मे इसके साथ (बाद मे) अनुकृत, विकसित आदि होने का भाव भी लगा रहता है। कुछ अवस्थाओं में इसके स्थान पर मूल शब्द का भी प्रयोग होता है (दे०—'प्रतिकृति' के अन्तर्गत 'मूल')। हम कहते हैं—(क) त्याग का मौलिक अर्थ छोड़ना है; (ख) न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का मौलिक सिद्धन्त ढूँढ निकाला था, (ग) इस पुस्तक मे बहुत से मौलिक विचार भरे पड़े हैं, और (घ) जो अच्छा मौलिक ग्रन्थ निकलता है, उसके अनुवाद अनेक भाषाओ मे हो जाते हैं। ऐसे अवसरों पर मौलिक का आशय होता है—जो बिलकुल नया हो या नयेपन से युक्त हो और साथ ही जिसमें कोई उत्कृष्टता या विशेषता हो। आदि का सज्ञा (पुं०) रूप मे अर्थ है—आरम्भ। पर कुछ अवस्थाओं मे यह शब्द सज्ञाओं के

पहले लगकर विशेषण का भी काम देता है*। जैसे—आदि कारण। प्रस्तुत प्रसग मे भी इसका प्रयोग विशेषण रूप मे ही होता है। इसी **आदि** मे क प्रत्यय लगने से इसका **आदिक** रूप बनता है। यहाँ इसका आशय है—कोई कार्य आरम्भ या चलता करने के लिए पहले होनेवाला। कोई कार्य आरम्भ करने के लिए जो क्रियाएँ या बातें होती हैं, वही **आदि** या **आदिक** कहलाती हैं। दो दलों मे कुछ झगडा या तना-तनी होती है, पर उसका अन्त करने के लिए जब किसी दल की ओर से आरम्भ मे कुछ बाते होने लगती हैं, तो वे **आदिक** बातें कहलाती हैं। हम कोई बहुत बडा और व्यय-साध्य काम करना चाहते हैं, पर उसकी आरम्भिक व्यवस्था करने मे हमारा जो थोडा बहुत व्यय हो जाता है, वह भी **आदिक** व्यय कहा जायगा। न्यायालय में कोई अभियोग उपस्थित करते समय आरम्भ मे होनेवाला व्यय भी **आदिक** व्यय होगा। यहाँ तक तो **आदिक** और **आरम्भिक** बहुत-कुछ एक ही हैं, परन्तु **आरम्भिक** में **आदिक** की अपेक्षा कुछ और भाव भी लगे हैं। किसी बडे काम के आरम्भ का अश या भाग भी **आरम्भिक** कहलाता है। **आरम्भिक** विद्यालय वह कहलाता है, जिसमे शिक्षा का आरम्भ करनेवाले ही कुछ दरजे या वर्ग हों, और **आरम्भिक** विज्ञान वह कहा जायगा, जिसमे विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाली वे बाते हों, जिन्हे आरम्भ मे ही जान लेना आवश्यक होता है। पारिभाषिक क्षेत्रों के सिवा, सार्विक क्षेत्रों मे **आरम्भिक** का सीधा-सादा अर्थ होता है—आरम्भ का या आरम्भ में होनेवाला। हम कहते हैं—'प्रसाद' जी की **आरम्भिक** कृतियो मे उर्वशी चम्पू मुख्य है। आशय यही होता है कि उन्होंने पहले-पहल जो साहित्यिक रचनाएँ प्रस्तुत की थीं, उनमे उर्वशी चम्पू का भी अच्छा स्थान है। **आरम्भिक** और **प्रारम्भिक** मे उसी प्रकार कोई अन्तर नहीं है,

---

* **अव्यय के रूप में और वगैरह के अर्थ मे आदि का जो प्रयोग होता है (जैसे—पत्थर, लकड़ी, लोहा आदि) वह भी इसके आरम्भवाले अर्थ से लिया गया है। आशय यही होता है कि जिस तालिका (दे०—सूची) या वर्ग से यहाँ हमारा अभिप्राय है, उसका आरम्भ अमुक अमुक चीजो या बातों से होता है।**

जिस प्रकार आरम्भ और प्रारम्भ मे नहीं है*। तो भी **आदिक** मे उन बातों का भाव प्रधान है, जो कोई काम आरम्भ करने या छेडने के समय या उससे कुछ पहले करनी पडती हैं, और **आरम्भिक** मे कार्य के उस अश का भाव प्रधान है, जो आरम्भ मे होता है, परन्तु **प्रारम्भिक** मे उस तैयारी, प्रबन्ध या व्यवस्था का भाव मुख्य है जो कोई काम चलाने के समय या उससे कुछ पहले करनी पडती है, अथवा उस **आरम्भिक** अश का भाव मुख्य है जो हमे अपने उद्दिष्ट कार्य या विषय की ओर अग्रसर करता है। **प्राथमिक** स० प्रथम से बना हुआ विशेषण है; इसी लिए इसमे गणना या गिनती के विचार से आरम्भ मे या पहले पडने या होने का भाव मुख्य है। प्रगति, विकास आदि के क्रम या शृ खला मे जो अश सबसे पहले पडता या सामने आता हो, वही **प्राथमिक** है। कहीं कहीं यह शब्द **आदिक** और **आरम्भिक** वाले तत्वो या भावों से भी युक्त हो जाता है। **प्राथमिक** विद्यालय तो वह कहलावेगा, जिसमे पहले, दूसरे आदि दरजों की शिक्षा का प्रबन्ध हो, परन्तु जब हम कहेगे—'शिक्षा का **प्राथमिक** उद्देश्य मनुष्य को ज्ञान देकर उसे शिष्ट और सभ्य बनाना है।' तब **प्राथमिक** का अर्थ पहला हो जायगा। **प्रधान**, **मुख्य** और **मूल-भूत** उक्त सब शब्दों से कुछ भिन्न प्रकार के शब्द हैं, और आशय के विचार से एक स्वतंत्र वर्ग मे आते हैं। प्रस्तुत प्रसग में **प्रधान** और **मुख्य** मे कोई अन्तर नही है। उपयोगिता, महत्त्व, मान, स्थिति आदि अथवा विचाराधीन तत्त्व या विषय की दृष्टि से जो सबसे अच्छा या बढकर हो, जिसके बिना काम न चल सकता हो अथवा जिसके सामने और सब बाते घटकर या दबी हुई हों, वही **प्रधान** या **मुख्य** कहलाता है। हम कहते हैं—(क) शान्तिपूर्वक सब बातों का निपटारा करना हमारा **मुख्य** उद्देश्य है, (ख) देश को उन्नत और सम्पन्न करना शासन का **प्रधान** लक्ष्य है, (ग) **प्रधान** अधिकारी की आज्ञाओं का पालन करना अधीनस्थ कर्मचारियो का **मुख्य** कर्त्तव्य है, आदि। ऐसे सभी अवसरों पर **प्रधान** या **मुख्य** का अर्थ होता है—सबसे बढकर। कुछ

*** यहाँ इन दोनों शब्दों में जो अन्तर दिखलाया गया है, वह मुख्यतः इनके अँगरेजी समानको के आधार पर और विचार से ही है।**

अवस्थाओं में केवल प्रयोग के विचार से प्रधान और मुख्य में कुछ अन्तर भी हो जाता है। जैसे—मुख्य मंत्री का प्रधान कार्यालय प्रायशः उनके साथ चलता है। मूल-भूत मे के मूल और भूत पद ही यह सूचित करते हैं कि इसका आशय उस भूत या तत्त्व (व्यापक अर्थ मे) से है, जो किसी वस्तु या विषय के मूल मे रहता और उसके सब कार्य सचालित करता हो। इसका प्रयोग प्राय भौतिक या अमूर्त्त और भावात्मक बातों, वस्तुओ आदि के सम्बन्ध मे ही होता है। यहाँ तक कि आलकारिक प्रसगों में भी वह कारण, भाव या विचार मूल-भूत कहलाता है, जो किसी बात की तह में हो और उसको जड या मूल के रूप मे काम करता हो। जैसे—(क) प्रकाश और शब्द की गति मे मूल-भूत सिद्धान्त एक ही है; (ख) हमारे और आपके विचारों मे कई मूल-भूत अन्तर हैं; (ग) इधर-उधर की और व्यर्थ बातों का विचार छोड़कर हम लोगों को मूल-भूत प्रश्न (या समस्या) पर ध्यान देना चाहिए, और (घ) जब तक मनुष्य के विचारों मे मूल-भूत परिवर्त्तन न हो, तब तक वह सच्चा त्यागी या विरक्त नहीं कहा जा सकता। ऐसे अवसरों पर मूल-भूत का अर्थ होता है—सब के मूल मे रहनेवाला और प्रधान या मुख्य तत्त्व।

———

यंत्र (Machine)

इंजन (Engine)
उपकरण (Implement)
उपस्कर (Apparatus)
औजार(Tool)
करण* (Instrument)
कल=यंत्र
कल-पुरजे=यंत्रांग
प्रयंत्र† (Appliance)
यंत्रांग (Mechanism)
हस्तक=औजार

इस वर्ग के शब्द ऐसे साधनों के सूचक हैं जो कोई चीज बनाकर तैयार करने (अर्थात् रचना के काम) मे प्रयुक्त और सहायक होते हैं। आरी, करनी, गज, छेनी, निहाई, बसूला, रेती, हथौड़ी आदि ऐसी चीजे हैं, जिनके बिना बढई, राज, लोहार, सुनार आदि अपना काम नहीं कर सकते। घड़ीसाजों, जुलाहों, रँगरेजों आदि को भी अपने अपने काम के लिए ऐसी कई तरह की चीजों की आवश्यकता होती है। ऐसी सभी चीजें **औजार** या **हस्तक** कहलाती है। इनके प्रयोग से काम जल्दी भी होते हैं और कम परिश्रम से या सहज मे भी। इनकी मुख्य विशेषता यही है कि ये छोटे और हलके होते हैं, इनमे पेचीले कल-पुरजे नहीं होते, और ये प्राय साधारण एक दो काम देते हैं। **उपकरण** भी देते तो इसी प्रकार के काम हैं, पर वे अपेक्षया कुछ बडे और कई अंगों से युक्त तथा

---

* डा० रघुवीर ने अ० इन्स्ट्रूमेन्ट के लिए उपकरण शब्द रखा है; परन्तु इन्स्ट्रूमेन्ट का प्रयोग इस यांत्रिक क्षेत्र के सिवा और कई क्षेत्रों (जैसे-विधि, व्याकरण आदि) में तथा सात्विक रूप से भी और लाक्षणिक रूप से भी होता है, जहाँ 'करण' शब्द ही चलता या चल सकता है। इसी लिए प्रामाणिक हिन्दी कोश में मैंने इन्स्ट्रूमेन्ट के लिए 'करण' ही रखा था; और वही यहाँ भी लिया गया है।

† एप्लायन्स में प्रयोग का भाव मुख्य है, इसी लिए यहाँ यंत्र में प्रयोग का वाचक "प्र" उपसर्ग लगार प्रयंत्र शब्द बनाया गया है।

अपनी बनावट के विचार से कुछ पेचीले होते हैं। जुलाहो का करघा या परेता अथवा किसानो का हल या हेंगा **उपकरण** ही कहलावेगा, **औजार** नहीं। शेर का पंजा भी उसका **उपकरण** तो कहला सकता है, पर **औजार** नही। औजारो के उपयोग मे मुख्यत हाथ ही काम देता है*, पर **उपकरणो** के उपयोग मे हाथों के सिवा पैर भी अथवा कुछ दूसरी शक्तियाँ भी काम आ सकती हैं। **औजार** किसी काम का एक ही अंग पूरा करता है; पर **उपकरण** उसके एक से अधिक अग भी पूरे कर सकता है। किसी काम मे कई तरह की जो बहुत-सी चीजे लगती हैं, वे भी (उनके) उपकरण ही कहलाती हैं। खेती-बारी के काम मे आनेवाले छोटे-बड़े औजार (कुदाल, फावडे आदि) अथवा युद्ध के लिए गोले गोलियाँ, तोपें और उन्हे लादकर ले चलनेवाली गाडियाँ और दूसरी सब तरह की चीजे भी सामूहिक रूप से **उपकरण** कहलाती हैं। **उपस्कर** बहुत-कुछ व्यापक तथा सार्विक (पर साथ ही बहुत कुछ अनिश्चित अर्थवाला) शब्द है। तो भी इसमे छोटे-मोटे कल-पुरजो से युक्त होने के सिवा बनावट के कुछ अधिक पेचीलेपन का भी भाव मुख्य है। यह प्राय छोटे **यन्त्र** के रूप मे होता है। इसका उपयोग भी सहज मे किया जाता और सीखा जा सकता है। रेडियो कुलक (सेट) भी **उपस्कर** है, और तरह तरह की चीजें तौलने के लिए बने हुए छोटे **यन्त्र** भी। जिन कमानियों की सहायता से दरवाजे आप से आप बन्द हो जाते हैं या एक जगह से बैठे बैठे खोले और बन्द किये जा सकते हैं†, वे भी **उपस्करो** मे ही गिने जाते हैं। शरीर मे बिजली या अनेक प्रकार की किरणों का संचार करने के लिए जो यंत्र-युक्त डिब्बे आदि होते हैं, वे भी **उपस्कर** ही हैं। **करण** वह है जो किसी प्रकार की शक्ति के योग से कोई उद्दिष्ट कार्य सिद्ध करता है, और यही **करण** का वास्तविक शब्दार्थ भी है। यह भी होता तो प्राय एक प्रकार का **औजार** या **हस्तक** ही है, पर इसकी बनावट भी साधारण औजारो की बनावट की अपेक्षा

---

* इसी दृष्टि से इसके लिए यहाँ 'हस्तक' शब्द रखा गया है।

† पाश्चात्य देशो में इस प्रकार के अनेक उपस्कर होते हैं, जिनका अभी हमारे यहाँ प्रचलन नहीं हुआ है।

बहुत पेचीली होती है; और प्रयोग की क्रिया भी कुछ ऐसी सूक्ष्म होती है जिसे समझने-सीखने मे कुछ समय लगता है। इसके द्वारा प्राय निपुण और विशेषज्ञ लोग बहुत हलके हाथ से, बारीक काम करते हैं। अनेक प्रकार के **औजार** भी पारिभाषिक क्षेत्रों और शिष्ट समाज मे **करण** कहलाते हैं। चीर-फाड करनेवाले चिकित्सकों, ग्रहों का वेध करनेवाले ज्यौतिषियों, दन्तकारो, कलाकारो आदि के जो **औजार** बहुत बारीक और बिलकुल सटीक काम करते हैं तथा ताप मापक, वायु-भार-मापक तथा ऐसे ही और बीसियों प्रकार के मापक **करण** के ही अन्तर्गत आते हैं। विधिक क्षेत्र मे **करण** वह लेख्य कहलाता है, जो किसी कार्य, व्यवहार, सविदा, प्रक्रिया आदि का सूचक हो और जिसके द्वारा कोई अधिकार या दायित्व उत्पन्न, अतरित, परिमित, निर्वापित, विस्तृत या अभिलिखित होता है। साधारण बोल-चाल मे इसी को दस्तावेज या साधन पत्र भी कहते है। लाक्षणिक रूप मे इसका प्रयोग अच्छे अर्थ मे ऐसे व्यक्तियो के सम्बन्ध मे होता है जो कोई विशिष्ट शुभ कार्य करते या कराते हैं। जैसे—बड़े बड़े राष्ट्रीय नेता युग-परिवर्तन के **करण*** होते हैं (अर्थात् वे नये युग का प्रवर्त्तन करते हैं)। प्रयत्र भी है तो **उपस्कर** और **करण** के वर्ग की ही चीज, पर इसका परिचालन प्राय किसी शक्ति (जैसे पानी, बिजली, भाप, हवा आदि) के द्वारा होता है। इनकी बनावट बडे यत्रों की अपेक्षा सरल होती है और ये प्राय हाथ से उठाकर एक जगह से दूसरी जगह ले जाये जा सकते हैं। पन-चक्की, पवन-चक्की, बिजली की इस्तरी आदि इसी वर्ग मे आती हैं। **यत्र** वह विशिष्ट रचना है जिसमें बहुत-से कल-पुरजे होते हैं और जिन्हें बैठाने, चलाने और काम मे लाने के लिए कुछ विशिष्ट ज्ञान या दक्षता अपेक्षित होती है। छोटे **यत्र** प्राय हाथ से और बडे **यत्र** बिजली या भाप की शक्ति से चलाये जाते हैं। इन्हीं को **कल** भी कहते हैं। जैसे—छापने, कपडे बुनने या सीने, चाकू, छुरी आदि

* इसके विपरीत कठ-पुतली का प्रयोग बुरे अर्थ मे ऐसे लोगो के सम्बन्ध में होता है, जो विना भला-बुरा सोचे किसी दबाव या लोभ मे पड़कर दूसरों का दुष्ट उद्देश्य सिद्ध करने में सहायक होते है।

बनाने, दीया सलाई बनाने की कल या यंत्र। इसका काम भी और बनावट भी जन-साधारण के लिए आश्चर्यजनक होती है। इसकी विशेषता यह होती है कि इसके द्वारा थोडे-से आदमी, कम समय मे बहुत-सा माल तैयार कर सकते हैं और इनसे तैयार होनेवाला माल बहुत-कुछ एक-रूप होता है। **इजन** भी है तो एक प्रकार की कल या यत्र ही; पर इसका काम बड़े बडे यत्रो को गति मे लाना या चलाना ही होता है, ये स्वय स्वतंत्र रूप से (इसके सिवा) और कोई काम नहीं करते। इनसे जो बिजली या भाप पैदा होती है, वही यत्रो के लिए गति-दायक शक्ति का काम देती है। सभी बडे बड़े कारखानों के यत्र, रेलें, जहाज आदि किसी न किसी प्रकार के इजन से ही चलते हैं। कलों या यंत्रो मे जो छोटे-छोटे अग या पुरजे होते हैं, वही **कल-पुरजे** कहलाते हैं; और इन्हीं के सामूहिक रूप का वाचक **यंत्राग** है। अर्थ की दृष्टि से यह बहुत व्यापक शब्द है। किसी यत्र के सब यंत्राग मिलकर ही कोई कार्य सम्पन्न करते हैं, यत्र से अलग होने पर ये प्राय निरर्थक होते हैं। कोई कल या यत्र चलाने अथवा उसकी मरम्मत करने के लिए उसके यंत्राग की जानकारी होनी चाहिए।

यात्रा (Journey)

अभियान (Expedition) | **भ्रमण** (Tour)
ओठ (Picnic) | **विहार** (Outing)
जल-यात्रा (Voyage) | **व्रजन** (Trip)
तीर्थ-यात्रा (Pilgrimage) | **सफर=यात्रा**
नौ-यात्रा-जल-यात्रा | **समुद्र-यात्रा** (Sea Voyage)
पर्यटन (Travel) | **सैर** (Excursion)

यात्रा का मुख्य अर्थ है—एक स्थान से चलकर दूसरे स्थान तक जाना; पर इसका आशय है—अपने रहने के स्थान से किसी दूर के स्थान तक (या पर) जाना।

यदि हम अपने घर से चलकर अपने पड़ोस में या अपनी बस्ती मे ही चलकर किसी मित्र से मिलने जायँ, तो इसे यात्रा नहीं कहेंगे। पर यदि हम काशी से प्रयाग या लखनऊ जायँ तो हमारा वह जाना अवश्य यात्रा कहलावेगा। यही **सफर** (अरबी) है। हम कहते हैं—रेल मे कलकत्ते की यात्रा १२ घन्टों में होती है; अथवा हवाई जहाज से विदेश-यात्रा बहुत सहज हो गई है। **यात्रा** मे आगे चलकर एक विशेष अर्थ और लग गया है; और वह है—देवता के दर्शनों के लिए जाना। काशी, प्रयाग, मथुरा आदि तीर्थ-स्थानों मे अब भी धार्मिक हिन्दू स्त्रियाँ नित्य प्रात काल अनेक देव-मन्दिरों मे देव-दर्शन के लिए जाती हैं; और उनका इस प्रकार जाना भी **यात्रा** ही कहलाता है। यदि हम धार्मिक दृष्टि से किसी तीर्थ या तीर्थों मे स्नान, दर्शन, दान-पुण्य आदि करने के लिए जाते हैं, तो हमारा इस प्रकार का जाना **तीर्थ-यात्रा** कहलाता है। नाव या जहाज पर चलकर जल-मार्ग से कहीं जाना **जल-यात्रा** या **नौ-यात्रा** कहलाता है। यदि हम नाव पर गगा के रास्ते प्रयाग से पटने जायँ तो यह **जल-यात्रा** कहलावेगी। यदि हमारी यात्रा नदियों, नहरों आदि से नहीं, बल्कि समुद्र के मार्ग से हो, तो वह **समुद्र-यात्रा** कहलावेगी। **भ्रमण** का मुख्य अर्थ है—घूमना या चक्कर खाना। चक्कर लगाना भी इसी लिए **भ्रमण** कहलाता है। इस प्रसग मे **भ्रमण** वह है, जिसमे हम कही से चलकर और अनेक स्थानों पर घूमते-फिरते हुए फिर अपने स्थान पर लौट आवे। यों तो **पर्यटन** भी बहुत-कुछ वही है, जो **भ्रमण** है; फिर भी दोनों मे कुछ अन्तर है। **भ्रमण** प्राय किसी विशिष्ट कार्य के लिए अथवा किसी विशेष उद्देश्य से होता है, और उसका कार्य-क्रम भी बहुत-कुछ निश्चित होता है। परन्तु **पर्यटन** मुख्यत सैर-सपाटे और भिन्न-भिन्न स्थानों के दृश्य देखने और उनसे परिचित होने के उद्देश्य से होता है; और इसका कार्य-क्रम प्राय पहले से निर्धारित या निश्चित नहीं होता। बडे-बड़े राजकीय अधिकारी अपने क्षेत्रों का कार्य देखने के लिए उनमे **भ्रमण** करते हैं, और बड़े-बड़े धनी रईस यो ही युरोप, अमेरिका आदि का **पर्यटन** करने निकलते हैं। **अभियान** सैनिक ढंग की विशिष्ट यात्रा है जो किसी निश्चित उद्देश्य से अथवा किसी विशेष कार्य के लिए और सदा पूरे दल बल सहित होती है। किसी

छोटे मोटे शत्रु को दबाने या किसी उपद्रवी वर्ग का उपद्रव शान्त करने के लिए जो सैनिक दल भेजे जाते हैं, उनकी यात्रा भी **अभियान** कहलाती है। बडे बड़े पर्वतों की चोटियो पर चढने या दुर्गम वनों की भीतरी बातों का पता लगाने के लिए जो दल निकलते हैं, उनकी यात्रा भी इसलिए **अभियान** कहलाती है कि इसमे उन पर्वतो, वनो आदि पर विजय प्राप्त करने का भाव होता है। **गोठ, विहार, व्रजन** और **सैर** चारो एक ही वर्ग की चीजे है, क्योंकि इनका एक मात्र उद्देश्य मनोविनोद या आमोद-प्रमोद होता है। **गोठ** * (स० गोष्ठ) वह है, जिसमे कुछ लोग प्राय नगर के बाहर किसी बगीचे या दूसरे रमणीय स्थान मे जाकर खाने-पीने की तरह तरह की चीजे बनाते और खाते हैं। **विहार** में केवल मन-बहलाव मुख्य उद्देश्य होता है, और इसके लिए कुछ मित्र प्राय बस्ती के बाहर निकल जाते और उसकी सीमा के आस-पास कहीं थोडा समय बिताते हैं। यह प्राय बडे बडे नगरों के व्यग्र तथा व्यस्त जीवन से कुछ समय के लिए छुटकारा पाने और निश्चिन्त होकर थोडा समय बिताने के उद्देश्य से होता है। **सैर** अरबी भाषा का शब्द है। इसका उद्देश्य किसी अच्छे स्थान की शोभा देखकर मन बहलाना और अवकाश का समय बिताना होता है। **सैर** आस-पास के स्थानो की तो होती ही है कभी कभी दूर के स्थानो की भी होती है। सवेरे-सन्ध्या लोग किसी बगीचे की तरफ या नदी किनारे भी **सैर** करने जाते हैं, और बड़े आदमी गरमी के दिनो मे नैनीताल, दारजिलिंग या कश्मीर की **सैर** करने भी चले जाते हैं। शहर के लोग देहात मे और देहात के लोग शहर मे **सैर** करने जाते हैं। **व्रजन** का साधारण अर्थ है—चलना, घूमना-फिरना या टहलना। पर छोटी मोटी ऐसी यात्रा भी, जिसमे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना होता है, **व्रजन** कहलाती है। इसका उद्देश्य भी मुख्यत मनोविनोद या स्वास्थ्य-सुधार होता है। अधिक विस्तृत अर्थ मे यह एक बार मे होनेवाली ऐसी पूरी यात्रा का भी सूचक होता है, जिसमे एक स्थान से चलकर

* व्रज और राजपूताने में यह शब्द इसी अर्थ मे बहुत दिनो से प्रचलित है।

दूसरे ऐसे स्थान पर पहुँचते हैं, जहाँ से फिर लौटकर पहले स्थान पर आना होता है। इस प्रकार हर बार का जाना और लौटना एक स्वतंत्र **व्रजन** कहलाता है।

योग्यता (Ability)

अधिगम (Attainment)	**सक्षमता=सामर्थ्य**
कार्य-कुशलता (Efficiency)	**समाई** (Capacity)
धारिता (Capacity)	**सामर्थ्य** (Capability)
परिगुण (Qualification)	**सिद्धि** (Attainment)
पात्रता (Capacity)	**सुयोग्यता** (Competency)
बिसात=समाई (आंशिक रूप में)	**सुविज्ञता** (Proficiency)

योग्यता सं० योग्य (विशेषण) का भाव-वाचक संज्ञा रूप है। योग्य सं० युज् धातु से व्युत्पन्न है, जिसके मूल अर्थ हैं—किसी के साथ जोड़ना, लगाना, संयुक्त या सम्मिलित करना आदि। योग्यता का साधारण अर्थ है—जो किसी काम में आ सके या लगाया जा सके। पर विस्तृत अर्थ में इसका प्रयोग ऐसी वस्तु या व्यक्ति के लिए होता है जो अपने गुणों, विशेषताओं आदि के कारण किसी काम के लिए उपयुक्त हो सके—ठीक और पूरा काम दे सके। प्रस्तुत प्रसंग में इसी अर्थ के विचार से **योग्यता** किसी वस्तु या व्यक्ति की वह गुण-युक्त विशेषता है जो उसे किसी काम के लिए उपयुक्त और समर्थ बनाती है। मुख्य रूप से इसका प्रयोग अधिकतर व्यक्तियों के सम्बन्ध में, और वह भी उनकी कार्य-कुशलता, जानकारी, विद्या आदि के विचार से ही होता है। हम कहते हैं—(क) इस काम के लिए आपकी योग्यता निर्विवाद रूप से सिद्ध है, अथवा (ख) आपने नये पद पर पहुँचकर अपनी योग्यता का अच्छा परिचय दिया था। ऐसे अवसरों पर इसका आशय होता है—अच्छी तरह काम

कर सकने का गुण या विशेषता। इसी योग्यता मे सु उपसर्ग लगने से **सुयोग्यता** शब्द बनता है, जो उच्च या उत्कृष्ट कोटि की योग्यता का वाचक है। फिर भी यह शब्द विद्या, बुद्धि आदि की श्रेष्ठता के अतिरिक्त कर्त्तव्य-पालन, कार्य सचालन आदि के कौशल या दक्षता का भी परिचायक है। **कार्य-कुशलता** भी इसी वर्ग का शब्द है। जैसा कि स्वय इस शब्द से सूचित होता है, यह अपने कार्य मे कुशल या दक्ष होने का परिचायक है। जो काम सामने आवे, उसे अच्छी तरह पूरा करने की योग्यता ही कार्य-कुशलता है। **सुविज्ञता** का आशय है—ज्ञान, विज्ञान सम्बन्धी किसी विषय या शास्त्र की अच्छी और पूरी जानकारी रखना। इसका सम्बन्ध केवल ज्ञान से है, क्रिया या उसे सम्पन्न करने के कौशल से नहीं। स० गुण मे परि उपसर्ग लगाकर **परिगुण** नया बनाया हुआ शब्द है*। **परिगुण** मुख्यत ऐसे गुण या योग्यता का वाचक है जो शिक्षा, प्रशिक्षा आदि के द्वारा अर्जित या प्राप्त की जाती है और जिसमे मनुष्य ज्ञान आदि के किसी नियत मानक तक पहुँच जाता है, और बहुधा उस मानक तक पहुँचने का प्रमाण-पत्र भी प्राप्त कर चुका होता है। **परिगुणी** चिकित्सक (या चित्रकार) का अर्थ होगा—ऐसा चिकित्सक (या चित्रकार) जिसने अपने विषय या शास्त्र की ठीक और पूरी शिक्षा और योग्यता प्राप्त की हो। सब अवस्थाओं मे किसी **परिगुण** के लिए प्रमाण-पत्र प्राप्त करना आवश्यक तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी अनेक अवस्थाओ मे **परिगुणी** होने के लिए प्रमाण-पत्र की भी अपेक्षा होती ही है। **अधिगम** और **सिद्धि** भी हैं तो इसी वर्ग के शब्द, पर ये कुछ और प्रकार के आशय से युक्त हैं। **अधिगम** का मूल अर्थ है—आगे बढ़ना या ऊपर पहुँचना; पर यह साधारणत ऐसे गुण, योग्यता, शक्ति आदि का वाचक है, जो

*** संस्कृत में परिगुणन रूप तो होता है, जिसका अर्थ है—बढ़ाकर कई गुना अधिक करना, और इससे भूत कृदन्त गुणित भी बनता है। पर परिगुण सस्कृत में नहीं होता, इसी लिए आवश्यकता-वश यह नया रूप स्थिर किया गया है। इससे विशेषण रूप परिगुणी (Qualified) बनेगा; पर भूत कृदन्त रूप वही परिगुणित रहेगा, जो परिगुणन का है।**

अपने अध्यवसाय और प्रयत्न से अर्जित या प्राप्त की गई हो। इसमे अपने प्रयत्न का भाव प्रधान है। कला, राजनीति, विज्ञान आदि के प्रसंगों में इसका विशेष रूप से प्रयोग होता है, जैसे—भौतिक विज्ञान सम्बन्धी अपने **अधिगम** के बल से ही वे इतने उच्च पद पर पहुँचे थे। यहाँ तक तो **अधिगम** और **सिद्धि** एक दूसरे के समानक हैं; पर इससे आगे **सिद्धि** मे कुछ और अर्थ या भाव भी लगा है। **सिद्धि** स० सिध् * धातु से बना ह, जिसके अर्थ हैं—पूरा या सम्पन्न करना, सफल होना आदि। सिद्ध, सिद्धान्त आदि शब्द भी इसी, सिध् से बने हैं; और हम **सिद्धि** को सिद्ध का भाव-वाचक सज्ञा रूप भी कह सकते हैं। **सिद्धि** का साधारण शब्दार्थ अर्थ है—कोई काम पूरा या सम्पन्न करने की क्रिया या भाव। इसी लिए हम कहते हैं—उन्हे कई बार प्रयत्न करने पर भी अपने काम मे **सिद्धि** नहीं प्राप्त हुई। आशय यही होता है कि वे अपना काम या उद्देश्य पूरा न कर सके। आगे चलकर यह शब्द ऐसी योग्यता या शक्ति का भी वाचक हो गया था, जो कोई अच्छा और बडा काम करने पर प्राप्त होती है†। प्रस्तुत प्रसग मे इसका अर्थ भी बहुत-कुछ वही है, जो ऊपर **अधिगम** का बतलाया गया है; पर इसमें **अधिगम** की तुलना मे गौरव या महत्त्व का भाव बहुत अधिक है। जब किसी विषय में ऐसी योग्यता दिखलाई या प्राप्त की जाती है, जो साधारणत सब लोगो मे न दिखाई देती हो, तो उसे **सिद्धि** कहते हैं। **धारिता, पात्रता, बिसात, समाई** और **सामर्थ्य** आर्थी दृष्टि से एक वर्ग के शब्द हैं। **धारिता** स० धारण से बनाया हुआ नया शब्द है, और इसका अर्थ होगा—धारण करने की शक्ति या पात्रता। जो पात्र, वस्तु या व्यक्ति जितना कुछ धारण या ग्रहण कर

---

* निरुक्त के विचार से सिध् और वह साध् बहुत-कुछ एक ही हैं, जिससे साधन, साधु आदि शब्द बने हैं। साध् का कुछ हलका रूप ही सिध् माना गया है।

† इसी आधार पर हमारे यहाँ योग के क्षेत्र में ये आठ सिद्धियाँ मानी गई है—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

सकता हो (अर्थात् अपने मे ले सकता हो) वही या उतनी ही उसकी **धारिता** मानी जायगी। व्यक्तियो के प्रसग मे **धारिता** को हम उनकी धारणा शक्ति का भी वाचक कह सकते हैं, परन्तु पदार्थों के सम्बन्ध में **धारिता** का कुछ और अर्थ होगा। 'इस हडे की **धारिता** एक मन पानी से अधिक नहीं है।' का अर्थ होगा—इसमे एक मन से अधिक पानी आ या समा नही सकता, और इसी अर्थ मे यह **समाइ** का पर्याय है। **समाई** हिन्दी समाना क्रिया का भाव वाचक रूप है। इसका साधारण अर्थ है—समाने की क्रिया या भाव। हम कहते हैं—इस कमरे मे १०० आदमियो से अधिक की समाई नही हो सकती। आशय यही होता है कि इसमे १०० आदमियो से अधिक नहीं आ या बैठ सकते। इसका प्रयोग लाक्षणिक रूप मे भी होता है। हम कहते हैं—जिसकी **समाई** हमारे घर मे न हुई, उसकी **समाई** कहीं न होगी। ऐसे अवसरो पर **समाई** का अर्थ होता है—घर मे रहकर निर्वाह करने की योग्यता। पर कुछ अवस्थाओं मे **धारिता** का प्रयोग (इस समाई वाले अथ से भिन्न) कुछ और अर्थो तथा प्रसगों मे भी होता है। हम कहते हैं—(क) इस इजन मे दस हजार मन बोझ खींचने की **धारिता** है, (ख) हममे हजार रुपए खर्च करने की **धारिता** नहीं है, अथवा (ग) उनमे अभी तक बहुत-कुछ काम कर सकने की **धारिता** बची है। ऐसे प्रसगो पर इसका आशय शक्ति या सामर्थ्य से मिलता-जुलता होता है। पात्र का साधारण अर्थ है—बरतन, और **पात्रता** इसी पात्र का भाव-वाचक सज्ञा रूप है। इसमे **धारिता** और **समाइ** के अर्थों का वही अश वर्तमान है, जो अपने मे कोई दूसरी वस्तु भर या ले सकने से सम्बन्ध रखता है। जैसे—किसी से दान (या विद्या) प्राप्त करने के लिए मनुष्य मे **पात्रता** होनी चाहिए। आशय यही होता है कि वह उसके लिए उपयुक्त या योग्य अधिकारी होना चाहिए। **बिसात** अरबी बसात का हिन्दी रूप है, जिसका अर्थ है—बिछाने का कपडा या चटाई *। आगे चलकर

* इसी बिसात से बिसाती और बिसातबाना शब्द बने हैं। पहले जो लोग जमीन पर कोई कपड़ा बिछाकर और उस पर तरह तरह की छोटी मोटी चीजे रखकर बेचने बैठते थे, वही बसाती या बिसाती कहलाते थे। और

यह शब्द उस कपडे, कागज, दफ्ती आदि का भी वाचक हो गया, जिस पर चौपड, शतरज आदि के मोहरे रखकर खेले जाते हैं और जिन पर बहुत-से खाने या घर बने होते हैं। इससे और आगे बढने पर यह शब्द कोई कार्य, विशेषत व्यय कर सकने की शक्ति या सामर्थ्य का वाचक हो गया है। हम कहते हैं—(क) हम तो अपनी बिसात देखकर ही ब्याह के सब काम करेंगे*, अथवा (ख) उसकी क्या बिसात है जो हमारे सामने इस तरह बट-बटकर बोले! **सामर्थ्य** स० समर्थ का भाव-वाचक रूप है; और इसका शब्दार्थ है—सम (समान) अर्थ होने की अवस्था या भाव। पर हिन्दी मे यह साधारणत एक प्रकार की ऐसी शक्ति का वाचक हो गया है, जो **धारिता**, समाई आदि के वर्ग की है। **सामर्थ्य** वस्तुत है तो स्वास्थ्य आदि की तरह पुलिंग ही, पर प्राय लोग इसे भूल से स्त्रीलिंग रूप मे बोल या लिख जाते हैं। **सामर्थ्य** सदा मनुष्यो या अधिक से अधिक जीव-जन्तुओ तक के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होता है, वस्तुओ आदि के सम्बन्ध मे नहीं, क्योकि यह मुख्यत आर्थिक, मानसिक, शारीरिक आदि शक्तियो के लिए प्रयुक्त होता है। किसी विशिष्ट प्रकार का कार्य कर सकने का जो गुण या बल हममे होता है, उसी का सूचक शब्द **सामर्थ्य** है। जैसे—चलने-फिरने का सामर्थ्य, दौडने धूपने का सामर्थ्य; और ताप-शीत आदि सहने का सामर्थ्य। हम कहते हैं—(क) यह काम हमारे **सामर्थ्य** के बाहर है, अथवा (ख) हमारे कानो मे सुनने या आँखो मे देखने का **सामर्थ्य** नही रह गया। ऐसे प्रसगो में यह शक्ति का (कुछ परिमित रूप मे) वाचक होता है। **सक्षमता** का अर्थ भी प्राय वही है, जो **सामर्थ्य** का है, पर उसमे मुख्य रूप से कोई काम कर सकने की शक्ति का भाव ही प्रधान है, और कोई भाव नहीं है।

बिक्री की तरह तरह की छोटी-मोटी चीजो का वर या वर्ग अब तक बिसात-बाना कहलाता है।

* ऐसे प्रसगो में बिसात उसी आशय या भाव का सूचक होता है, जो 'तेतो पाँव पसारिए, जेती लाँबी सौड़।' मे है, और इसी दृष्टि से यह समाई या सामर्थ्य का पर्याय होता है।

लेख (Article)

अभिपत्र (Paper) **मत-बन्ध** (Dissertation)
निबन्ध (Essay) **रचना** (Composition)
प्रबन्ध (Thesis) **विबन्ध** (Treatise)

इस वर्ग के शब्द ऐसे मतों या विचारों के सहत रूपों के वाचक हैं, जो दूसरों के पढने, सुनने और सोचने-समझने के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं। इनमे का **लेख** सबसे अधिक प्रचलित और व्यापक अर्थवाला शब्द है। व्युत्पत्तिक दृष्टि से लेख मे उन सभी बातों का समावेश हो जाता है, जो किसी जगह लिखकर इकट्ठी की गई हों। प्रस्तुत प्रसग मे लेख मुख्यत किसी एक विषय पर प्रकट किये हुए विचारों का वह स्वतत्र रूप है, जो साधारणत समाचार-पत्रों अथवा सामयिक-पत्रों में प्रकाशित होता है। विचार-शील और सुयोग्य लेखक तथा विद्वान् जो अच्छे लेख प्रस्तुत करते है, वे प्राय ग्रन्थों, सकलनों, सग्रहों आदि के रूप मे भी प्रकाशित होते हैं। निबन्ध, प्रबन्ध आदि की तुलना मे लेख प्राय छोटे होते हैं। **अभिपत्र** हिं० पत्र मे अभि उपसर्ग लगाकर बनाया गया है, और अभि यहाँ अभिप्राय का वाचक समझा जाना चाहिए। **अभिपत्र** भी है तो लेख का ही कुछ विस्तृत रूप, परन्तु इसमे किसी विशिष्ट विषय से सम्बन्ध रखनेवाली अच्छी जानकारी की बातो की प्रमुखता होती है; और यह प्राय किसी विशिष्ट सभा-समाज के सामने विचारार्थ पढा या वैज्ञानिक आदि पत्रो मे प्रकाशित कराया जाता है। इस प्रकार यह किसी गहन विषय के सम्बन्ध मे लेखक के गूढ अभिप्राय या मत का दिग्दर्शक होता है। इसका साहित्यिक महत्त्व उतना नहीं होता, जितना वैज्ञानिक या वैचारिक महत्त्व होता है। इसके विपरीत **निबन्ध** (शब्दार्थ=अच्छी तरह गठा या बाँधा हुआ पदार्थ) का स्वरूप मुख्यत साहित्यिक होता है। किसी विषय या उसके किसी अग का अच्छा अध्ययन करके नये और मौलिक ढंग से उसका सक्षेप मे, स्वतंत्र रूप से विवेचन करते हुए जो गम्भीर और अपेक्षया कुछ विवरणात्मक लेख प्रस्तुत किया जाता है, वही पारिभाषिक क्षेत्र मे **निबन्ध** कहलाता है।

इसमे तर्क और उसकी दृष्टि से सब अंगों के विवेचन का पूरा ध्यान रखा जाता है; और इस पर लेखक के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप व्यक्त होती है। इसका रूप गठा हुआ और ठोस होता है। प्राय दार्शनिक, नैतिक, राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि सभी विषयों पर निबन्ध लिखे जाते हैं। मराठी मे श्रीविष्णु शास्त्री चिपूलणकर के और हिन्दी मे प० रामचन्द्र शुक्ल के कतिपय निबन्ध विशेष प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत प्रसग मे और आज-कल की दृष्टि से प्रबन्ध* वह विशिष्ट प्रकार की साहित्यिक रचना है, जो साधारणत होती तो निबन्ध की ही तरह है, पर जिसका उद्देश्य कुछ भिन्न होता है। जब कोई उच्च श्रेणी का विचारशील विद्यार्थी किसी विषय पर स्वतन्त्र रूप से बहुत-कुछ छान-बीन करके कुछ नई बाते ढूँढ निकालता है और अपना नया मत प्रतिपादित और स्थापित करने के उद्देश्य से उन्हें बड़े विद्वानों के सामने विचारार्थ रखता है, तब ऐसा निबन्ध या लेख ही प्रबन्ध कहलाता है। इसमे दो बाते मुख्य होती हैं। एक तो नये मत का अनुसन्धानपूर्ण प्रतिपादन, और दूसरे उसके सम्बन्ध मे औरों के विचार देखते हुए किसी ठीक निष्कर्ष तक पहुँचने की इच्छा या प्रयत्न। इसमे कुछ बातें प्रमाणित या सिद्ध भी की जाती हैं, और उन पर होनेवाले साधारण आक्षेपो का उत्तर भी दिया जाता है। आज-कल प्राय अच्छे स्नातक अधिक उच्च परीक्षाओं मे उत्तीर्ण होने अथवा उच्च शास्त्रीय उपाधियाँ प्राप्त करने के लिए परीक्षको के पास जो निबन्ध लिखकर भेजते हैं, वही विशिष्ट रूप से प्रबन्ध कहलाते हैं। मत-बन्ध नया गढा हुआ शब्द है। इसमें किसी विषय से सम्बन्ध रखनेवाले प्राय सभी मतो या विचारो की गवेषणा करके उनके सम्बन्ध में अपना पुष्ट मत व्यक्त किया जाता है; और इसका उद्देश्य दूसरों को उस विषय का अच्छा ज्ञान कराना होता है। इसमे प्राय विवेच्य विषय के सभी अगो पर क्रमिक विचार होता है; और आलोचनात्मक ढंग से सब बातो का विश्लेषण होता है †। रचना बिलकुल

* प्रबन्ध के पुराने साहित्यिक अर्थ के लिए देखें 'कविता' के अन्तर्गत 'प्रबन्ध'।

† मत-बन्ध प्राय. किसी अवसर पर कोई विवादात्मक प्रश्न उठने पर उसके सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करने के लिए लिखे जाते हैं, और इनका

सार्विक शब्द है; और इसका प्रयोग सभी प्रकार की साहित्यिक कृतियों के सम्बन्ध में होता है। इस वर्ग के और सब प्रकार के लेख तो मुख्यत गद्य में ही होते हैं; पर रचना में गद्य और पद्य दोनों प्रकार की साहित्यिक कृतियों का अन्तर्भाव होता है। अर्थ की दृष्टि से भी यह शब्द बहुत व्यापक है। छोटे बच्चों के लिखे हुए साधारण लेख भी इसमें आ जाते हैं, और वयस्कों के विचारपूर्ण ग्रन्थ भी। इसमे प्रतिपादित विषय या उसकी शैली आदि के महत्त्व का उतना विचार नहीं होता, जितना स्वयं उस साहित्यिक कर्तृत्व का होता है। विबन्ध भी साधारणत है तो बहुत कुछ वही, जो निबन्ध या प्रबन्ध है; पर इसमें जो विवेचन होता है, वह प्रायः अधिक गम्भीर और व्यवस्थित रूप मे होता है। किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर विशेष विचारपूर्वक और वैज्ञानिक तथा शिक्षाप्रद ढग से और मुख्यत लोगो को उस विषय की गहरी जानकारी कराने के उद्देश्य से जो बड़े लेख या ग्रन्थ लिखे जाते हैं, उनकी गिनती विबन्ध मे ही होती है।

वस्तु (Thing)

चीज=वस्तु	**पदार्थ** (Object)
द्रव्य (Substance)	**प्रवस्तु** (Article)
पण्य वस्तु (Commodity)	**माल** (Goods)

वस्तु का शब्दार्थ है—वह जिसकी कोई वास्तविक सत्ता हो। अर्थात् जो कुछ वास्तविक और स्पष्ट रूप में दिखाई पड़े, वही वस्तु है। प्रयोग की दृष्टि से

स्वरूप बहुत-कुछ खंडन मंडनात्मक होता है, और फलतः इनका महत्त्व भी तात्कालिक ही होता है, स्थायी नहीं होता। मत-बन्ध तथा इस वर्ग की अन्य कई साहित्यिक रचनाएँ हमारे लिए पाश्चात्य साहित्य की देन हैं। हिन्दी पाठकों को इनके स्वरूप से परिचित कराने के लिए ही यहाँ इनका विवेचन हुआ है।

इसका अर्थ बहुत व्यापक है। जो कुछ हमे दिखाई दे या परिणाम, प्रभाव, लक्षणो आदि से हमारी समझ मे आवे, वह सब वस्तु के अन्तर्गत है। कपडे-लत्ते, गहने, पुस्तकें, मकान आदि सब कुछ तो वस्तु हैं ही; आपका सद्भाव भी हमारे लिए अभिमान की वस्तु है। फिर भी वस्तु मुख्यत वही मानी जाती है, जिसे हम देख या छू सकें। जैसे—(क) कोठरी में बहुत-सी वस्तुएँ बन्द हैं। (ख) बाजार से कुछ वस्तुएं मँगाई गई हैं, (ग) जो वस्तुएँ तुम ले जाना चाहते हो, वे ले जाओ, आदि। हाँ जीव जन्तुओं, तत्त्वो, विचारो आदि का वस्तु में अन्तर्भाव नहीं होता। चीज इसी का फारसी समानक है। प्रयोग की दृष्टि से चीज में कुछ ऐसे अर्थ भी लग गये है, जो वस्तु में नहीं लगे हैं। जैसे—हमारे सामने वह क्या चीज है! ऐसे अवसरो पर चीज का अर्थ होता है—महत्त्वपूर्ण सत्ता। 'भला यह भी कोई चीजो में चीज है!' का आशय भी यही होता है कि इसकी सत्ता महत्त्वपूर्ण नहीं है। द्रव्य भी साधारणत है तो वही जो वस्तु है, फिर भी तात्त्विक दृष्टि से यह कुछ विशिष्ट भावो से युक्त है। दार्शनिक क्षेत्रो में अथवा पारिभाषिक रूप में द्रव्य वह कहलाता है, जो कुछ विशिष्ट गुणों से युक्त हो और किसी प्रकार की क्रिया करने में समर्थ हो; फिर चाहे वह सावयव हो, चाहे निरवयव। इसी आधार पर वैशेषिक ने ये नौ मुख्य द्रव्य माने हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन (विशेष दे०-'तत्त्व')। पर जैनो ने ये ६ द्रव्य माने हैं—जीव, धर्म, अधर्म, पुद्गल, काल और आकाश। पर आज कल वस्तु की तरह द्रव्य भी वही कहलाता है, जिसकी कोई स्पष्ट और स्वतंत्र सत्ता हो। पर वस्तु की तुलना में द्रव्य में यह विशेषता होती है कि यह कुछ क्रियाएँ कर सकता और गुणो से युक्त होता है; और अनेक प्रकार की वस्तुओं का आधार, आश्रय या प्रवर्त्तक होता है। द्रव्य स्वय भी कुछ विशिष्ट क्रियाओं का परिणाम होता है, और कुछ विशिष्ट क्रियाएँ करता भी है। इसी लिए प्रत्येक द्रव्य तो वस्तु हो सकता है, पर प्रत्येक वस्तु को हम द्रव्य के अन्तर्गत नहीं मान सकते। द्रव्य में, उपयोगिता, क्रियाशीलता, महत्त्व आदि अनिवार्य रूप से होते हैं; पर वस्तु मे इनका होना आवश्यक नहीं है। यों साधारण अवस्था में मिट्टी वस्तु है, पर जब उस मिट्टी का उपयोग हम गमले, घड़े,

मकान आदि वस्तुएँ बनाने मे करते हैं, तब वही मिट्टी इन वस्तुओ का समवायि कारण होकर द्रव्य के वर्ग मे चली जाती है। अपने साधारण रूप में लकडी भी वस्तु है, पर द्रव्य वह इस दृष्टि से (और उस दशा मे) कही जायगी कि (और जब) उससे बहुत-से सामान बन सकेंगे और बनने लगेंगे। पदार्थ स० पद + अर्थ के योग से बना है। इसका व्युत्पत्तिक अर्थ है—पद (या शब्द) का अर्थ। पर आगे चलकर यह शब्द इसी लिए वस्तु या चीज का वाचक हो गया कि हर पद (या शब्द) किसी वस्तु (विस्तृत अर्थ मे) का वाचक होता है। वृक्ष शब्द जिस पदार्थ या वस्तु का वाचक है, वस्तुत वही पदार्थ या वस्तु वृक्ष है, शब्द तो उसका नाम या वाचक मात्र है। आगे चलकर यह दर्शन शास्त्रो मे प्रतिपादित ऐसे विषयों का वाचक हो गया, जिनके वास्तविक ज्ञान से मनुष्य को मोक्ष मिल सकता था। वैशेषिक ने द्रव्य, गुण, कर्म आदि छ पदार्थ माने थे; गौतम ने न्याय सूत्र मे प्रमाण, प्रमेय, प्रयोजन, सिद्धान्त आदि १६ पदार्थ माने थे; और सांख्यकार ने २५ पदार्थ माने थे। परवर्त्ती काल मे इसी आधार पर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पदार्थ माने गये थे। पर लौकिक क्षेत्र मे पदार्थ वह माना जाता है, जिसका कोई दृश्य और बाह्य रूप अथवा कुछ आकार-प्रकार हो और फलत जिसके सम्बन्ध में हम कुछ जान या सोच-समझ सकते हो*। हम अपने दैनिक व्यवहार मे अनेक प्रकार के पदार्थों का

---

* यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि अँगरेजी में ऑब्जेक्ट (Object) का अर्थ जितना अधिक विस्तृत है, हिन्दी में पदार्थ का अर्थ उतना अधिक विस्तृत नहीं है। हिन्दी मे पदार्थ केवल घन और मूर्त्त वस्तुओं का वाचक रह गया है, पर अँगरेजी में ऑब्जेक्ट में अमूर्त्त धारणाओ, विचारो और विषयो का भी अन्तर्भाव होता है। हमारे यहाँ भी पहले पदार्थ का उतना ही व्यापक अर्थ था; पर अब वह परिमित हो गया है। Object of thought को अब हम 'विचार का विषय' ही कहते है, विचार का पदार्थ नहीं कहते। फिर भी मेरा अपना मत यह है कि हमे पदार्थ का अर्थ भी उतना ही विस्तृत कर लेना चाहिए, जितना पहले था, और जितना अं० ऑब्जेक्ट का है।

उपयोग करते हैं, अँधेरे में कोई चलता हुआ पदार्थ देखकर सहम जाते हैं; और अपने मन मे अनेक प्रकार के नये-नये पदार्थों की कल्पना भी करते हैं। परन्तु नये पदार्थों की कल्पना प्राय लोक मे देखे-सुने पदार्थों के आधार पर ही या उनकी सहायता से ही होती है। प्रवस्तु स० वस्तु मे प्र उपसर्ग लगाकर (अँगरेजी के आर्टिकल के स्थान की पूर्त्ति के लिए *) बनाया गया है। यह मुख्यत ऐसी वस्तु का वाचक है जो किसी प्रकार के वर्ग या श्रेणी के अग के रूप मे या अन्तर्गत होती है। जैसे—हमारी खाद्य वस्तुओं (या पदार्थों) मे दूध एक मुख्य **प्रवस्तु** (या पद) है, अथवा ऊन भी **पण्य** वस्तुओं की एक **प्रवस्तु** (या पद) है। **पण्य वस्तु** और **माल** दोनों बहुत-कुछ एक ही हैं, फिर भी दोनो मे कुछ अन्तर है। **पण्य वस्तु** तो मुख्य रूप से वे सब वस्तुएँ कहलाती हैं, जो बाजार मे खरीदी और बेची जाती हैं या खरीदी-बेची जा सकती हैं; और मुख्यत इन्हीं उद्देश्यों से बनाई या पैदा की जाती हैं। अनाज, चमडा, रूई, सोना, चाँदी सभी **पण्य वस्तुएँ** हैं। **माल** अरबी भाषा का शब्द है, जिसका मुख्य अर्थ धन-सम्पत्ति आदि है। प्रस्तुत प्रसग मे **माल** वे सब वस्तुएँ कहलाती हैं, जिनका मनुष्य कुछ उपयोग करता या कर सकता है; और इसी दृष्टि से जिनका कुछ मूल्य होता है। इसमे **पण्य वस्तु** का भी अन्तर्भाव होता है; और दैनिक व्यवहार की वस्तुओं का भी। हर घर मे सैकड़ों हजारों रुपयों का **माल** (गहने, कपडे, बरतन-आदि) रहता है; और हर व्यापारी नित्य सैकडो हजारो रुपयों का **माल** खरीदता, बेचता और बाहर से मँगाता या बाहर भेजता रहता है। **माल** जब तक क्रय-विक्रय के क्षेत्र मे रहे, तब तक तो **पण्य वस्तु** कहा जायगा, पर जब वह क्रय-

* एक दूसरे प्रसग मे अ० आर्टिकल् का एक अर्थ पद भी होता है। अनेक अवसरों पर प्रवस्तु का काम पद से भी चल सकता है। अभी यह विषय कुछ विचारणीय ही है कि प्रस्तुत प्रसंग में भी आर्टिकल् का अर्थ पद ही रहे अथवा नया शब्द प्रवस्तु चलाया जाय। पद को आर्टिकल् मान लेने में एक कठिनता यह भी हो सकती है कि हिन्दी में पद शब्द अ० आइटम (Item) की जगह भी चलता है।

विक्रय के क्षेत्र से निकलकर उपयोग या व्यवहार में आने लगेगा अथवा संचित होकर पड़ा रहे, तब उसकी संज्ञा माल हो जायगी। हम प्रत्येक **पण्य वस्तु** को तो **माल** कह सकते हैं (क्योंकि अन्त मे उसका भी कुछ न कुछ उपयोग या व्यवहार होगा ही); परन्तु प्रत्येक **माल** को **पण्य वस्तु** नहीं कह सकते (क्योंकि उसका क्रय-विक्रय के क्षेत्र मे जाना अनिवार्य या आवश्यक नहीं है)।

वाक्य (Sentence)

पद (Phrase) **व्यंजन** (Expression)

पद विन्यास **शब्द-योजना=शब्द विन्यास**

पदावली (Phraseology) **शब्द विन्यास** (Diction)

भाव व्यंजन **शैली** (Style)

भाषा (Language)

वाक्य का व्युत्पत्तिक अर्थ है—कहना या बोलना। पर लोक-व्यवहार में कुछ कहने या मन का कोई भाव प्रकट करने के लिए जब हम कुछ शब्द कुछ निश्चित नियमों के अनुसार, एक साथ रखकर बोलते (या लिखते) हैं, तब वह शब्द समूह वाक्य कहलाता है। यों साधारणत लिखित व्याकरणों के अनुसार वाक्य में कर्त्ता या कर्म और क्रिया की अपेक्षा होती है। पर वाक्य का इससे अधिक व्यापक लक्षण यह माना जाता है कि उससे मन का कोई एक पूरा भाव प्रकट होना चाहिए। यदि हम किसी से कहे—'चलो।' तो इसके साथ 'तुम' का अध्याहार माना जायगा। अर्थात् इसका वास्तविक रूप समझा जायगा—तुम चलो। यदि हम 'तुम' का प्रयोग किये बिना खाली 'चलो' कहे, तो यह 'चलो' भी वाक्य कहलावेगा, भले ही यह वाक्य केवल एक शब्द का और कर्त्ता तथा कर्म्म से रहित है। पर यदि हम कहे—'जा रहा है' तो यह वाक्य नहीं होगा;

क्योंकि इससे मन का पूरा भाव प्रकट नहीं होता—यह पता नहीं चलता कि आदमी जा रहा है या घोडा; पत्र जा रहा है या वस्त्र। वाक्य के लिए शब्दों का एक निश्चित क्रम से होना भी आवश्यक है। 'घर की दीवार गिर गई है।' तो वाक्य है, पर 'गई की गिर है दीवार घर' वाक्य नहीं है, क्योंकि न तो इसके शब्द नियत और शिष्ट सम्मत क्रम से ही लगे हैं और न इसका कुछ अर्थ ही समझ में आता है। अपने शब्द-विस्तार और भाव-व्यजन की प्रणाली के विचार से व्याकरण मे साधारणत तीन प्रकार के वाक्य माने जाते हैं—साधारण, मिश्र और संयुक्त*। पद के अनेक अर्थ हैं, जैसे—पैर, डग, अश, चौथाई भाग आदि। परन्तु इस प्रसग मे पद का अर्थ होता है—वाक्य का कोई टुकडा या उसमे आया हुआ शब्द। साधारण स्थिति में 'राम' शब्द व्यक्ति-वाचक सज्ञा है। परन्तु जब हम कहेंगे—'राम आया।' तब इसमे का 'राम' भी उक्त वाक्य का पद होगा और 'आया' भी। पद कुछ अर्थ या भाव तो अवश्य प्रकट करता है, पर वह अर्थ या भाव पूरा नहीं, बल्कि अधूरा होता है। 'मेरे पहनने के कपड़े सन्दूक में रख दो।' में 'मेरे पहनने के कपड़े' 'सन्दूक मे' और 'रख दो' ये तीन पद हैं। इन तीनो पदों मे से हर एक कुछ न कुछ अर्थ या भाव तो प्रकट करता ही है; पर वह अर्थ या भाव अपूर्ण है और पूरी तरह से समझ में नहीं आता। पर यदि कोई पूछे—'ये कपड़े कहाँ रखे जायँ?' और उसे उत्तर दिया जाय—'सन्दूक मे।' तो यही शब्द पद न रह जायँगे, बल्कि पूरे अर्थ या भाव के सूचक होने के कारण वाक्य हो जायँगे। वाक्य मे उसके सब पद ठीक तरह और क्रम से रखना ही पद-विन्यास है। यदि कोई कहे—'मेरे पहनने के सन्दूक मे कपड़े रख दो।' या 'मेरे सन्दूक के पहनने मे कपडे रख दो।' तो कहा जायगा कि इन वाक्यों का पद-विन्यास ठीक नहीं है या अशुद्ध है। लेख आदि मे प्रयुक्त होनेवाले समस्त पदों का समूह (उनके रूप और विन्यास दोनों के विचार से) पदावली कहलाता है। हम कहते हैं—इस लेख (प्रबन्ध, भाषण आदि) की पदवाली बहुत ही सुन्दर (अशुद्ध, भद्दी

* इनकी विस्तृत व्याख्या व्याकरण के ग्रन्थों में मिलेगी।

आदि) है। ऐसे अवसरों पर पदावली से हमारा अभिप्राय होता है—पदों की शब्द-योजना का प्रकार या रूप और उनके विन्यास का ढंग। अर्थ और प्रयोग के विचार से भाषा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। यह उन शब्दों का क्रम-बद्ध सार्विक रूप है, जिनका प्रयोग मन के भाव प्रकट करने के लिए होता है। दो हिन्दी-भाषी हिन्दी मे बोलते हुए भी एक ही भाव या विचार अपनी अलग भाषा मे व्यक्त कर सकते हैं। हम कहते हैं—भारतेन्दु और प्रेमचन्द की भाषा (या जयशकर प्रसाद की भाषा)मे बहुत अन्तर है। आशय यही होता है कि इनकी शब्दावलियाँ, पद-विन्यास और भाव-व्यजन के प्रकार एक दूसरे से बहुत-कुछ भिन्न हैं। ऐसे अवसरो पर भाषा शब्द अपने सकुचित या सीमित अर्थ मे प्रयुक्त होता है, और इस प्रसंग में यही अर्थ अभीष्ट तथा सगत है*। मन के भाव दूसरों पर प्रकट करना ही भाव-व्यंजन है। अलग अलग परिस्थितियो मे यह काम अलग-अलग प्रकार से होता है। शब्दों से तो यह काम होता ही है, कभी-कभी केवल मुख की आकृति या मुद्रा से भी होता है। इसमे आवश्यक बात यही है कि जिसपर मन का भाव प्रकट करना हो, वह समझ जाय। पर प्रस्तुत प्रसग मे भाव-व्यजन का अर्थ है—मन का भाव उपयुक्त शब्दों मे और ठीक तरह से दूसरों पर प्रकट करना। इसी को सक्षेप मे व्यजन भी कहते हैं। पर साहित्यिक क्षेत्र मे यह व्यजन साधारण भाव-व्यजन से कुछ अधिक व्यापक अर्थवाला माना जाता है, क्योंकि इसका अभिप्राय होता है—जोरदार शब्दों मे और प्रभावशाली रूप मे होनेवाला भाव-व्यंजन। इसी आधार पर साहित्य-शास्त्र की व्यजना (इसी व्यंजन से) बनी और चली है।

———

* इसका विस्तृत और व्यापक रूप जानने के लिए देखें—'भाषा' शीर्षक स्वतंत्रलेख-माला।

वायु (Air)

अंधड़, आँधी (Windstorm) प्रवात (Hurricane)

अतिवात (Tempest) बगूला=चक्रवात

घूर्णवात, घूर्णा (Tornado) महावात (Storm)

चंडवात, तूफ़ान (Typhoon) वातावर्त्त (Cyclone)

चक्रवात, बवंडर (Whirlwind) वात्या (Gale)

जल-स्तंभ (Waterspout) समीर (Breeze)

झंझा सूँडी=जल-स्तंभ

झोंका (Blast, Gust) हवा=वायु

पवन (Wind)

वायु (संस्कृत) या हवा (अरबी) बहुत व्यापक और अपने वर्ग का सब से अधिक प्रचलित शब्द है। यह अनेक प्रकार के वातो या वातियों (गैसों) का ऐसा मिश्रण है जो हमे दिखाई नहीं देता। यह पृथ्वी के चारों ओर बहुत ऊँचाई तक भरा हुआ और पृथ्वी पर हर जगह व्याप्त है। शरीर के स्पर्श मात्र से हमे इसका अनुभव या ज्ञान होता है। यही वह तत्त्व है जो साँस लेने पर हमारे शरीर के अन्दर फेफडों तक बराबर आता-जाता रहता है। शब्द भी इसी के द्वारा हमारे कानों तक पहुँचता है; और चिड़ियाँ इसी मे उड़ती हैं। इसकी गति कभी तो बहुत मन्द, कभी साधारण और कभी बहुत तेज हो जाती है। इसका जो अंश पृथ्वी के प्राणियो के आस-पास रहकर कभी तेज और कभी धीमे चलता है और जिसका हमारी त्वगिन्द्रिय को ज्ञान होता है, वही पवन है। यही जब बहुत ताजे और स्वच्छ रूप मे बहुत धीरे-धीरे चलता है, और अपनी साधारण शीतलता के कारण प्रिय या मधुर जान पडता है, तब इसे समीर कहते हैं। जब यह एक बार थोडी देर के लिए कुछ तेजी से आकर शरीर मे लगता हुआ जान पडता है, तब

(पवन या वायु का) झोंका कहलाता है। प्राय रह रहकर हवा के ऐसे झोके आते रहते हैं। पर जब यह लगातार कुछ समय के लिए बहुत तेज होकर और अपने साथ सड़कों और खेतों की धूल-मिट्टी आदि लेकर चलता है, तब इसे अंधड या आँधी कहते हैं। जब तेज हवा या आँधी के साथ पानी भी बरसता है, तब उसे झभा कहते हैं। आँधी जब अधिक उग्र रूप धारण करती है, तब वात्या कहलाती है। इसमे वायु की गति एक घण्टे मे ४० से ७५ मील तक हो जाती है। जब यह और अधिक तीव्र होकर तथा प्रबल रूप मे १०० मील प्रति घण्टे तक की गति से चलने लगती है, तब इसे प्रवात कहते हैं। महावात वस्तुत एक सार्विक पद है, जिसमे प्रबल झभा, वात्या और प्रवात तीनो का अन्तर्भाव हो जाता है। पर वैज्ञानिक दृष्टि से जब वायु की गति ६५ से ७५ मील प्रति घण्टे तक रहती है, तब उसे महावात कहते हैं। वात्या और प्रवात के रूप सदा वैज्ञानिक परीक्षाओं या प्रयोगों और यत्रों की सहायता से ही स्थिर होते या हो सकते हैं। पर जन-साधारण ऐसे सूक्ष्म अन्तर नहीं जान सकते; अत वे इन सब को महावात ही मान लेते हैं। चडवात और तूफान भी इसी प्रकार के शब्द हैं। तूफान वस्तुत चीनी भाषा से चला हुआ शब्द है। चीन और फिलिपाइन्स के आस-पास के समुद्रों में एक विशिष्ट प्रकार की बहुत तेज आँधी या वात्या चलती है, जिसे चीनी भाषा मे ताई-फू कहते हैं। अरब के प्राचीन नाविकों ने इसी ताई-फू से अपनी भाषा मे तूफान शब्द बना लिया था, जिससे आगे बढकर अँगरेजी तथा अन्य पाश्चात्य भाषाओं मे 'टाइफून' शब्द बन गया था। हिन्दी मे भी तूफान बहुत प्रचलित है। चडवात, तूफान और महावात साधारणत सभी प्रकार की बहुत तेज और अपेक्षया कुछ अधिक समय तक और कभी-कभी कई दिनो तक चलनेवाली ऐसी आँधियो या तेज हवाओ को कहते हैं, जिनके साथ बीच-बीच मे कुछ तेज वर्षा भी होती है। ऐसी आंधियाँ या तूफान प्राय धन जन के लिए बहुत नाशक सिद्ध होते हैं। इनसे छोटे-मोटे मकान या उनकी छतें उड जाती हैं, बडे-बडे वृक्ष टूटकर गिर पड़ते हैं और नावें या जहाज आपस मे टकराकर या किनारों की चट्टानों आदि से टकराकर टूट-फूट जाते या पानी मे डूब जाते हैं। चंडवात, तूफान और महावात जब बहुत ही उग्र

तथा भीषण रूप धारण करते हैं, तब उसकी सज्ञा अतिवात हो जाती है। यह वेगपूर्ण वायु का सबसे अधिक भयकर और सहारक रूप है।

घूर्णवात या घूर्णा, चक्रवात या बवडर और वातावर्त्त अलग प्रकार के प्रवाह हैं। आँधी, तूफान, प्रवात आदि की गति बहुत सीधी होती हैं। जहाँ से इनका आरम्भ होता है, वहाँ से ये 'प्राय किसी दिशा मे दूर तक सीधे चलते रहते हैं। परन्तु घूर्णा, चक्रवात और बवडर मे विशेषता यह होती है कि ये गोलाकार चक्कर भी लगाते चलते हैं। हिन्दी मे इनके लोक प्रचलित नाम बवडर (सं० वायु मंडल) और बगूला (हिं० बाउ=वायु + गोला) है। इनमे हवा कुछ घेरा बाँधकर, चक्कर लगाती और ऊपर उठती हुई आगे बढती है। नाशक परिणाम, प्रचडता और वेग के विचार से चक्रवात या बवडर प्राय कुछ कम प्रबल तथा विकट होता है, और वातावर्त्त प्राय बहुत उग्र और भयकर होता है। उत्तरी गोलार्ध में वातावर्त्त की चक्करदार गति प्राय वामावर्त्त और दक्षिणी गोलार्ध मे प्राय दक्षिणावर्त्त होती है। गरम देशो मे इसका घेरा या व्यास प्राय १०० से ५०० मील तक का और ठढे देशों मे कभी कभी १५०० मील तक का हो जाता है। प्राय ऐसे बवडरो के चक्कर की गति भी प्रति घण्टे १२५ से १५० मील तक पहुँच जाती है। दक्षिणी एशिया मे इसके साथ बादलों की गरज, बिजली की चमक और वर्षा भी होती है। ऐसे बवडर प्राय वर्षा ऋतु के उत्तरार्ध से शरद् ऋतु के अन्त तक उठते हैं। मुख्यत ऐसे ही बवडर चीन मे तूफान कहलाते हैं। ऐसे सभी वायविक उपद्रव प्राय बहुत अधिक नाशक होते हैं। कभी-कभी समुद्र या जलाशय के तल पर ऐसे बवडर भी दिखाई देते हैं जो स्तंभ की तरह आकाश तक पहुँचते हैं। इसी लिए इन्हे जल-स्तभ कहते हैं। ऐसे जल-स्तभ प्राय नल के आकार के होते हैं और उनके अन्दर बादलों मे से खिंचकर आया हुआ ताजा बढिया पानी भरा रहता है। ये प्राय कुछ मिनटो में ही नष्ट भी हो जाते हैं। साधारण बोल-चाल मे इन्ही को सूँडी (स० शुण्ड, हि० सूँड) कहते हैं।

विचार (१. Idea, २. Thought)

उद्भावना, उपज
कल्पना (Imaignation)
चिन्तन (Pondering, Reflection)
छाप (Impression)
धारणा (१. Conception, २ Notion)
भाव (Concept)
भावना (Conception)
मनन (१. Contempla-tion २.Meditation)
समझ (Understanding)
सूझ

इस वर्ग के शब्द उन सब बातो के वाचक हैं जो हमारे मन मे कुछ सोचने-समझने के समय उठती हैं, सोचने-समझने पर हमारे मन मे आती या होती हैं या हमे सोचने समझने मे समर्थ करती है। इनका सम्बन्ध या तो हमारे भावी कार्यों की योजना आदि से होता है या किमी विपय मे कुछ निर्णय या मत स्थिर करने मे। इसमे का **विचार** शब्द अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से बहुत व्यापक है, और यह अपने वर्ग के दूसरे अधिकतर शब्दों के स्थान पर भी व्यवहार मे आता है। इन्द्रियों के द्वारा किसी चीज या बात का अनुभव या ज्ञान होने पर हमारे मन मे उसका जो चित्र या रूप बनता है अथवा अपनी कल्पना के आधार पर किसी भावी कार्य या विषय के सम्बन्ध में चिन्तन या तर्क-वितर्क करके हम जो चित्र या रूप अपनी मानसिक दृष्टि के सामने रखते हैं, उन सबका अन्तर्भाव इसी **विचार** मे होता है। यह हमारी सभी प्रकार की मानसिक क्रियाओं या व्यापारों का वाचक है। **विचार** अपने मन में छिपाकर भी रखा जा सकता है और दूसरों के सामने प्रकट भी किया जा सकता है। हम कहते हैं—(क) इस समय हमारे मन मे एक नया **विचार** उत्पन्न हुआ है; (ख) इस पुस्तक मे बहुत-से नये नये **विचार** भरे पडे हैं, (ग) मनुष्य को हर काम **विचार**पूर्वक करना चाहिए; अथवा, (घ) आपको निष्पक्ष होकर इस विषय मे अपना **विचार** प्रकट करना चाहिए। इन सभी प्रसगों मे हमारे मन मे उठनेवाली बातों की ओर सकेत है।

जब हम कहते हैं—'इस विषय पर अच्छी तरह से **विचार** होना चाहिए ।' तब भी हमारा आशय यही होता है कि इस विषय मे जितनी बाते हो सकती हैं, या होनी चाहिएँ, वे सब अच्छी तरह सोच और समझ ली जानी चाहिएँ। जब हमारे मन में कोई ऐसी अनोखी, चमत्कारपूर्ण और नई बात या **विचार** उत्पन्न होता है, जो जल्दी औरो को न सूझ सकता हो या अब तक किसी को न सूझा हो, तब ऐसी बात या विचार **उद्भावना** कहलाता है । इसका शब्दार्थ ही है—ऊपर उठा हुआ (नया) **विचार** या भावना । हिन्दी मे इसी को **उपज** (हि० उपजना = उत्पन्न होना) कहते है । प्राय किसी अच्छे कवि की कृति के सम्बन्ध मे कहा जाता है—यह अनेक सुन्दर **उद्भावनाओ** से पूर्ण है। यो साधारण बात-चीत में भी जब कोई अनोखा और नया विचार हमारे सामने रखता है, तब हम कहते हैं—वाह, कैसी अच्छी उपज है ! **सूझ** (हिं० सूझना= दिखाई देना) भी है तो बहुत कुछ वही, जो **उपज** है, पर **उपज** मे नये विचार की उत्पत्ति का और **सूझ** मे उसके सूझने या दिखाई पडने का भाव प्रधान है। **उपज** तो सदा नई होगी, और ऐसी बातो के सम्बन्ध मे होगी, जो केवल कल्पना के क्षेत्र की होती हैं; पर **सूझ** ऐसी बातों के सम्बन्ध मे भी हो सकती है जो किसी न किसी रूप मे वर्त्तमान हों अथवा जिनकी सम्भावना की सहज मे कल्पना की जा सकती हो, फिर भी जिनकी ओर जल्दी किसी का ध्यान न जाता हो या न गया हो । **कल्पना** स० कल्पन से बना है, जिसका अर्थ है—प्रस्तुत करना, बनाना या रचना । **कल्पना** वस्तुत हमारे मन की वह क्रिया और शक्ति है जिससे हम अपनी मानस दृष्टि के सामने अनेक प्रकार के नये रूप और विचार बनाकर खडे करते हैं। ये रूप और बिचार पुराने या देखे सुने रूपों और विचारों के पुनरावर्त्तन भी हो सकते हैं और हमारी उक्त शक्ति के नये गढे हुए भी। जो रूप और विचार हमने कभी देखे सुने न हो या जिनका कभी अस्तित्त्व न रहा हों, उनके चित्र भी यह **कल्पना** हमारे सामने लाकर रख सकती है । हम अपनी बीती हुई बाल्यावस्था की भी **कल्पना** कर सकते हैं और आनेवाली वृद्धावस्था की भी। अपने पुराने अनुभव, ज्ञान, स्मृति आदि की सहायता से बहुत सी बातों के अनेक खण्डों को एक मे जोड या मिलाकर हम बहुत-सी नई चीजों, बातों या विचारों

की भी कल्पना कर सकते हैं। चित्रकार और मूर्त्तिकार अपनी कल्पना से ही नये नये चित्र और मूर्त्तियाँ बनाते हैं; और कवि की सुन्दर रचनाएँ प्राय उसकी कल्पना से ही प्रसूत होती हैं। उद्भावना, उपज और सूझ सब इसी के क्षणिक या तात्कालिक स्फुरण के परिणाम या फल हैं। चिन्तन और मनन प्राय एक वर्ग के शब्द हैं। चिन्तन मे किसी विषय या समस्या के सब अग और सम्भावनाएँ अच्छी तरह सोची जाती हैं; उनका ऊँच-नीच देखा जाता है, और इस बात का विचार किया जाता है कि दूसरी सम्बद्ध बातों की तुलना में उनका क्या महत्त्व है। यह पुरानी बातों या विचारों के सम्बन्ध मे भी हो सकता है और नई बातों के सम्बन्ध मे भी*। चिन्ता इसी चिन्तन का वह दूसरा बढ़ा हुआ रूप है जो मनुष्य को किसी भावी अनिष्ट या अप्रिय कार्य या बात के सम्बन्ध में विकल रखता है। जहाँ तक हम कोई बात सोचते रहते हैं, वहाँ तक तो वह चिन्तन है; पर जब हम उससे आगे बढ़कर उसे समझने का प्रयत्न करते हैं, तब हम मानों उस विषय का (या पर) मनन करते हैं। इसमें कोई बात समझने के लिए उस पर अपना ध्यान अच्छी तरह केन्द्रित करने का भाव प्रधान है। किसी विषय या समस्या से सम्बन्ध रखनेवाली सब बातों का पूरा ज्ञान या परिचय प्राप्त करने के उद्देश्य से उसके सभी अग अच्छी तरह से देखना और तुलनात्मक दृष्टि से तथ्यों का विचार करना ही मनन है। जब हम आध्यात्मिक विषयों का चिन्तन करते हैं, तब हम मानों उनकी सब बातें सोचते हैं; पर जब हम आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करके उन्हें अच्छी तरह जानने या समझने का प्रयत्न करते हैं, तब हम उन विषयों (या ग्रन्थों) का मनन करते हैं। भाव और भावना एक ही वर्ग के शब्द हैं; और आर्थी दृष्टि से विचार की कोटि मे आते हैं। भाव का पहला अर्थ है—अस्तित्व मे आना या सत्तावाला रूप प्राप्त करना; और इस दृष्टि से यह 'अभाव' का विरोध-सूचक शब्द है। इसी आधार पर

---

* पुरानी बातो के सम्बन्ध का चिन्तन अँगरेजी में रिफ्लेक्शन कहलाता है; और नई या भविष्य में होनेवाली बातों का चिन्तन पॉन्डरिंग कहलाता है; पर हमारे यहाँ ये दोनों पक्ष एक माने गये हैं।

अस्तित्व मे लाने या सत्ता के रूप मे उपस्थित करने की क्रिया भावन कहलाती है। इसी भावन से भावना शब्द बना है, जिसका वास्तविक अर्थ है—वह वस्तु या विचार जो अस्तित्व मे लाया गया हो या जिसे सत्ता का रूप दिया गया हो। पर प्रस्तुत प्रसग मे भाव और भावना के इनसे भिन्न और भी कई अर्थ हैं; पर यहाँ यह उस सक्षिप्त चित्र या रूप का वाचक है जो कोई चीज या बात देखकर उसके सम्बन्ध मे हम अपने मन मे साराश रूप मे बनाते हैं। इस चित्र या रूप में ब्योरे की सब बातें तो छूट जाती हैं और केवल काम की मुख्य मुख्य बातें आ जाती हैं। इसी लिए कोई कविता या पुस्तक पढकर अथवा कोई बात या भाषण सुनकर हम अपने मित्रो से कहते हैं सारी कविता (या भाषण) का भाव यही था कि हमे अपनी प्रतिभा का उपयोग अपने समाज की उन्नति करनेवाले कामों में करना चाहिए। इस दृष्टि से यह शब्द आशय, साराश आदि के वर्ग मे चला जाता है। पर है यह वास्तव मे किसी तत्त्व के अस्तित्व का मन पर पड़नेवाला परिणाम ही, और इस विचार से हम इसे सत्ता की आत्मा या वह प्रतिबिम्ब कह सकते हैं, जो देखने-सुननेवालो के मन पर पडता है। हम पत्थर या लोहे का बडा टुकडा देखकर समझ लेते हैं कि यह घन या ठोस भी है और भारी भी; और इसी आधार पर कहते हैं—घनता और भार दो भिन्न भाव हैं। आशय यही होता है कि घनता किसी अलग तत्त्व की सूचक है; और भार किसी अलग तत्त्व का; और इस पत्थर या लोहे मे घनता का भी भाव है और भारीपन का भी। भावना हमारी मानसिक शक्ति की वह क्रिया-शीलता है जो उक्त प्रकार के भाव ग्रहण या धारण* करती और उन्हें मूर्त्त रूप देती है। कोई भाव ग्रहण कर लेने पर जब हम उसे अपने मन मे कोई क्रियात्मक रूप देने लगते या किसी प्रकार उसे व्यक्त करना चाहते हैं, तब वही हमारी

---

* इसी आधार हम इसे 'धारणा' भी कह सकते हैं। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अँगरेजी मे कन्सेप्शन (Conception) का एक अर्थ गर्भ-धारण भी है, और इन दोनों प्रसगों में धारण करने या अपने ऊपर या अपने मे लेने का भाव ही प्रधान है।

भावना हो जाती है। **भावना** हमारे भाव का वह रूप है जिस पर हमारी निजी अनुभूति, कल्पना, प्रवृत्ति या विचारों की कुछ रगत चढती है और उसमे क्रियाशीलता आती है। **विचार** तो बहुत-से लोगों के एक-से हो सकते हैं; पर **भावनाएँ** सब की प्राय अलग-अलग होती हैं*। यहीं आकर **भावना** और **धारणा** दोनों बहुत-कुछ एक हो जाती हैं। फिर भी दोनों मे कुछ अन्तर है ही। पहला अन्तर तो दोनों की अलग-अलग निरुक्तियों से ही स्पष्ट है। **भावना** का उत्पत्ति तो हमारे मन मे स्वय भाव या सत्ता के आधार पर आप से आप होती है, पर **धारणा** मे किसी बाहर से आये हुए तत्त्व या बात को धारण (या ग्रहण) करने का भाव प्रधान है। हम कहते हैं—उनकी बातों से हमारी तो यही **धारणा** हुई कि वे हमारी कोई सहायता नहीं करेंगे। आशय यही होता है कि उनकी बातो का हमारे मन पर ऐसा परिणाम हुआ—हमने उन्हें इस रूप मे देखा या समझा। इस दृष्टि से **छाप** भी बहुत कुछ वही हो जाती है, जो **धारणा** है। परन्तु **छाप** शब्द हि० छापना या छपना का भाव-वाचक रूप है; और छापने की क्रिया मे कुछ जोर या दबाव भी ऊपर से आकर पडता ही है। इस-लिए **छाप** हमारे मन पर पडनेवाले ऐसे प्रभाव की सूचक है जो अपेक्षया अधिक गहरा या प्रबल होता है। **धारणा** तो सहज मे बदल सकती है; पर **छाप** का मिटना उतना सहज नहीं होता—वह कुछ अधिक दृढ और स्थायी होती है। हम कहते हैं—बाल्यावस्था मे जो **छाप** मन पर पड़ती (या बैठती) है, वह प्राय बहुत दिनों तक ज्यों की त्यों बनी रहती है। **समझ** (स० सबुद्ध, प्रा० समुझ) हमारे मन की वह शक्ति (या बुद्धि† का वह अग) है, जिसके अनुसार हम देखी और सुनी हुई बाते ग्रहण या धारण करते हैं। हमें जो कुछ पढाया, बतलाया

---

* जा की रही भावना जैसी। हरि मूरति देखी तिन्ह तैसी।—तुलसी। यहाँ हरि की मूरत तो एक ही थी; पर अपनी अपनी भावना के अनुसार वह लोगों को अलग अलग प्रकार या रूप की जान पड़ती थी।

† बुद्धि और समझ का विशेष अन्तर जानने के लिए दे० 'बुद्धिमान्' वाली शब्द-माला और उसके अन्तर्गत 'समझदार' शब्द।

या सिखाया जाता है, वह इसी के द्वारा हमारे मन में बैठता है। आस-पास की घटनाएँ या बातें देखकर हम उनकी जो तुलना करते या उनमे पारस्परिक तारतम्य स्थापित करते हैं अथवा आवश्यकता पडने पर हम जो उपाय, कर्त्तव्य आदि सोचते या स्थिर करते हैं, वे सब इसी समझ के बल से करते हैं। समझ मनुष्यों में तो होती ही है, पशु-पक्षियों मे भी थोडी-बहुत होती है। यह प्राय वय और अनुभव के अनुसार बढती और कुछ अवस्थाओं मे बदलती भी रहती है।

विरुद्ध (Opposit)

उलटा=प्रतिलोम
प्रतिलोम (Reverse)
प्रतिकारिक (Counter-active,)
प्रतिवादिक (Contradictory)
प्रतिकूल (Adverse)
मारक (Antidote)
प्रतिक्रियक=प्रतिकारिक
विपरीत (Contrary)
प्रतिपक्षीय (Hostile)
विलोम=प्रतिलोम

इस वर्ग के प्राय सभी शब्द ऐसे कार्यों, भावों आदि के सूचक हैं जो किसी दूसरे काम मे बाधक या हानिकारक सिद्ध हो सकते या मेल न रखने के कारण सामने की ओर आकर रुकावट डाल सकते हैं या उलटी दिशा मे प्रवृत रहते हैं। प्रतिकूल, विपरीत और विरुद्ध प्राय एक दूसरे के समानार्थी माने जाते और इसी रूप मे प्रयुक्त भी होते हुए देखे जाते हैं। फिर भी इनमे बहुत-कुछ अन्तर है। विरुद्ध का शब्दार्थ है—सामने आकर रोकनेवाला अथवा मुकाबले मे होने या रहनेवाला। इस दृष्टि से यह साधारण-सी आपत्ति का भी सूचक हो सकता है और घोर वैर या शत्रुता का भी। हम किसी के विरुद्ध अपने विचार प्रकट कर सकते हैं; और युद्ध मे एक राष्ट्र के विरुद्ध अनेक राष्ट्र सम्मिलित हो सकते हैं। राजनीतिक अन्यायों अथवा सामाजिक कु-प्रथाओं के विरुद्ध प्राय आन्दोलन होते रहते हैं। इस प्रकार किसी के उद्देश्य, कार्य या विचार को विफल करने का भाव ही इसमें मुख्य

है। प्रतिकूल का शब्दार्थ है—सामनेवाला कूल या किनारा। जिस छोर या सिरे पर हम हैं, उसके सामनेवाले छोर या सिरे पर जो हो, वही हमारे लिए प्रतिकूल है। इसमे दूरी और मुकाबले पर होने के भाव मुख्य हैं, सामने आकर टकराने या रास्ता रोकने का भाव गौण ही है। यह विरुद्ध की तुलना मे कुछ हलके भाव का सूचक है। विरुद्ध तो प्राय निश्चित रूप से घातक या हानिकारक सिद्ध होता है; पर प्रतिकूल का सदा घातक या हानिकारक सिद्ध होना अनिवार्य या आवश्यक नहीं है। हाँ कुछ अवसरों पर वह थोडा-बहुत घातक या हानिकारक हो भी सकता है। कई प्रकार के खाद्य पदार्थ हमारी प्रकृति के प्रतिकूल होते हैं, और आपके सिद्धान्त हमारे सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो सकते हैं। पर इनसे घात या हानि होना अनिवार्य या आवश्यक नहीं होता। यह अनुकूल का विपर्याय मात्र है। विपरीत अपेक्षया और भी हलका शब्द है। इसका शब्दार्थ है—पीछे की ओर घूमा या मुड़ा हुआ। पर साधारणत जिन चीजो, बातों, भावों आदि मे जल्दी किसी तरह मेल न बैठ सकता हो या जिनसे समझौते का कोई आधार न हो, उन्हें विपरीत कहते हैं। दुष्ट प्रकृति के लोग सामाजिक नियमों के विपरीत आचरण करते हैं; चीते या शेर और गौ या बकरी की प्रवृत्ति और स्वभाव परस्पर विपरीत होते हैं; और वैद्यक मे विपरीत भोजन (मास-मछली या मद्य के साथ दूध आदि) का सेवन वर्जित है। कुछ अवस्थाओं मे यह शब्द स्थिति मात्र का सूचक और निरीह तथा निर्दोष भी हो सकता है। हम कहते हैं—इसके विपरीत ऐसा भी हो सकता है; अर्थात् इसके बदले अमुक बात भी हो सकती है। यद्यपि हिन्दी में उलटा (स उल्लुठ्=लुढकना) का कई अर्थों मे प्रयोग होता है, पर प्रस्तुत प्रसग मे वह प्रतिलोम या विलोम का समानक ही है। इसका प्रयोग नियत, नियमित या स्वाभाविक क्रम, दिशा, सम्बन्ध, स्थिति आदि के विचार से दिखाई देनेवाली विपरीतता सूचित करने के लिए होता है। प्रतिलोम और विलोम वस्तुत अनुलोम* के विपर्याय हैं। यदि हम १ से आरम्भ करके १० तक गिनती गिनें

* अनुलोम का शब्दार्थ है—वह दिशा या स्थिति जो शरीर से निकलनेवाले लोमो (रोओं) की स्वभावतः होती है। इसी लिए यह शब्द नियत और स्वाभाविक क्रम, व्यवस्था आदि का वाचक हो गया है।

तो यह अनुलोम क्रम होगा; पर यदि हम १० से आरम्भ करके ९, ८, ७ आदि कहते हुए १ तक आवें, तो यह प्रतिलोम या विलोम क्रम कहलावेगा। वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का क्रम तो अनुलोम है; पर शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण का क्रम प्रतिलोम या विलोम है। इसी आधार पर यदि ब्राह्मण पुरुष किसी क्षत्रिय या वैश्य कन्या से विवाह करे, तो इसे अनुलोम विवाह कहेंगे, पर यदि कोई वैश्य किसी क्षत्रिय या ब्राह्मण कन्या से विवाह करे, तो वह प्रतिलोम विवाह कहलावेगा। नदी के बहाव के साथ चलना अनुलोम गति है; इसके विपरीत चढाव की ओर चलना प्रतिलोम गति है। जो चीज सदा ऊपर की ओर जाती हो (जैसे—धूआँ) वह यदि ऊपर से नीचे की ओर आने लगे तो उसकी गति प्रतिलोम कहलावेगी; और जो सदा ऊपर से नीचे की ओर आती हो (जैसे—पेड से फल का जमीन पर गिरना) वह यदि किसी कारण या किसी परिस्थिति मे नीचे से ऊपर की ओर जाय, तो उसकी यह विपरीत गति प्रतिलोम या विलोम कही जायगी। अर्थ के विचार से प्रतिकारिक*

* अ० रिएक्शन (Reaction) के लिए हमारे यहाँ बहुत दिनों से प्रतिक्रिया शब्द प्रयुक्त होता आया है, जिसे अब हटाना प्राय. असम्भव है। पर प्रस्तुत अर्थ के विचार से यह ठीक नही है। इसकी जगह अनुक्रिया का प्रयोग ही प्रशस्त होगा। प्रतिक्रिया तो Counter-action का समानक है। यह ठीक है कि हमारे यहाँ सस्कृत उपसर्ग प्रति के अनेक अर्थ हैं, पर Reaction में जो भाव मुख्य है, वह 'प्रति' से नहीं, बल्कि 'अनु' से ही अच्छी तरह सूचित होता है। किसी क्रिया के बाद उसके फल-स्वरूप जो दूसरी क्रिया (चाहे वह अनुकूल हो, चाहे प्रतिकूल) होती है, वही रिएक्शन है। मनोविज्ञान और रसायन शास्त्र की मान्यता में परवर्त्ती क्रिया बहुधा अनुकूल या अभीष्ट ही होती है। पर 'प्रति' प्राय. विरुद्ध या विपरीत भाव का सूचक होता है, अतः प्रतिक्रिया को यदि हम Counter-action मान लें तो प्रत्याक्रमण (Counter-attack) प्रति प्रस्ताव (Counter-proposal) आदि के साथ इसकी ठीक तरह से सगति बैठ जायगी; अत. यह विषय शब्दकारो, भाषाविदों और विद्वानों के लिए विचारणीय है।

(या प्रतिक्रियक), प्रति-पक्षीय और प्रतिवादिक एक वर्ग मे रखे जा सकते हैं। **प्रतिक्रियक** वह है जो किसी कार्य या क्रिया के विरुद्ध हो और उस कार्य अथवा क्रिया मे विघात करे। जब कोई बुरा या हानिकारक प्रभाव दिखाई देता है, तब उसे नष्ट करने के लिए जो अच्छा या लाभदायक प्रभाव उत्पन्न किया जाता है, वह पहले प्रभाव का **प्रतिक्रियक** कहलाता है। चिकित्सक जब रोगी को कोई औषध देते हैं, तब इस बात का ध्यान रखते हैं कि उसमे कोई ऐसी ओषधि न हो, जो किसी दूसरी ओषधि या रोगी के स्वास्थ्य के लिए प्रतिक्रियक हो। **प्रति-पक्षीय** वह है जो सदा विरुद्ध पक्ष मे रहता हो और अवसर पाते ही शत्रुता का आचरण या व्यवहार करता हो। राजनीतिक क्षेत्र मे प्रतिपक्षीय दल, देश या राष्ट्र सदा एक दूसरे को हानि पहुँचाने की ताक मे रहते हैं, और अवसर पाते ही घात करते हैं। प्रतिपक्षीय सदा अशुभ-चिन्तक होता है। **प्रतिवादिक** स० प्रतिवाद से बना हुआ विशेषण है। यदि हमारे सम्बन्ध मे हमारा प्रतिपक्षी किसी अनुचित या मिथ्या बात का प्रचार करे अथवा हमारे सम्बन्ध में कोई भ्रम फैलाना चाहे, तो स्वभावतः हमे कहना पडता है कि यह बात ठीक नहीं है। यही हमारा प्रतिवाद है, और हमारा ऐसा कथन **प्रतिवादिक** कहलावेगा। यहाँ तक तो इसका मूल अर्थ हुआ। पर इससे आगे कुछ विस्तृत अर्थ मे भी इसका प्रयोग होता है। यदि हम अपनी किसी पुस्तक मे एक जगह तो एक सिद्धान्त प्रस्थापित करें, पर आगे चलकर दूसरे स्थान पर कोई ऐसा सिद्धान्त प्रस्थापित करे जिससे उस पहले सिद्धान्त का खडन या विरोध होता हो, तो हमारे दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के प्रतिवादिक कहे जायँगे। यदि हम आज किसी प्रसग मे न्यायालय के सामने एक बात कहे और चार दिन बाद दूसरे प्रसग मे उससे बिलकुल उलटी या विपरीत बात कहे तो हमारी दोनों बातें एक दूसरी की प्रतिवादिक कही जायँगी। इसमे मुख्य भाव अपनी पहली बात नकारकर उसकी जगह दूसरी उलटी बात कहने का है, और इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि हमारी कही हुई दोनों बातों मे से कोई एक बात तो ठीक है और दूसरी गलत। 'मोहन सत्यवादी है।' और 'मोहन सत्यवादी नहीं है।' एक दूसरे के प्रतिवादिक कथन हैं। इनमे से कोई एक बात ठीक हो सकती है, दोनों ठीक नहीं हो सकतीं। या तो हमे कहना

पड़ेगा कि हमारी घडी बिलकुल ठीक समय देती है; या यह कहना पड़ेगा कि वह ठीक समय नहीं देती। यह नहीं हो सकता कि वह ठीक समय दे भी और न भी दे। दोनों बातें एक साथ कहना प्रतिवादिक होगा। मारक का साधारण अर्थ तो है—मार डालनेवाला, पर वैद्यक और रसायन शास्त्रो मे इसका एक मुख्य पारिभाषिक अर्थ होता है। वहाँ मारक उस औषध या पदार्थ को कहते हैं जो किसी विषय या वस्तु का नाश या शमन करे। यदि किसी को साँप काट ले तो उसे प्राय केले के तने का पानी इसलिए पिलाया जाता है कि उसके शरीर मे फैले हुए विष का प्रभाव नष्ट हो। इसी लिए केले का पानी सर्प-विष का मारक कहलाता है। विस्तृत अर्थ मे, चीनी खरबूजे के लिए और दूध आम के लिए मारक माना जाता है। यदि कोई ढेर से खरबूजे या आम खा ले, तो उसका प्रभाव कम करने के लिए चीनी या दूध का सेवन किया जाता है। लाक्षणिक रूप नें, जो काम या बात किसी पहले काम या बात के शुभ या अशुभ परिणाम या प्रभाव करे करे, अथवा उसे विफल और व्यर्थ कर दे, उसे पहले काम या बात का मारक कहेंगे। यदि हमारे साथ कोई धूर्त्तता, धोखेबाजी या विश्वास-घात करे और हमारे हाथ में कोई ऐसा उपाय, प्रमाण या शस्त्र हो जिससे हम सहज मे उसके दुष्कर्मों का भडा-फोड़ करके उसे बेईमान या विश्वास-घातक सिद्ध कर सकें, तो हम कहेगे—उसे दुष्टता कर लेने दो; हमारे पास उसका मारक है। आशय यही होगा कि हम सहज मे उसे विफल कर सकते हैं।

विवाह (Marriage)

एक-विवाह (Monogamy) **बहु-विवाह** (Polygamy)
द्वि-विवाह (Bigamy) **विधवा-विवाह** (Widow-marriage)
पाणि-ग्रहण=विवाह
बहु-पतित्त्व (Polyandry) **स्वयंवर**
बहु-पत्नीत्त्व (Polygyny)

विवाह वह संस्कार है, जिसके सम्पन्न होने पर कोई पुरुष और कोई स्त्री मिलकर पति और पत्नी के रूप मे साथ-साथ रहते हैं। पहले यह सम्बन्ध बिलकुल वैयक्तिक और सामाजिक अनुबन्ध के रूप मे होता था, पर बाद मे स्त्रियों की रक्षा, वंश-वृद्धि, संपत्ति की सुरक्षा, उत्तराधिकार आदि के विचार से इसमे धार्मिक, विधिक और सामाजिक बन्धन लगते गये और इसके अनेक प्रकार, भेद और रूप होते गये। सभी देशों और समाजों मे इसके लिए कुछ अलग-अलग नियम और विधान है। कहीं स्त्रियाँ धन देकर खरीदी जाती हैं, कहीं वे अपने लिए स्वय पति का वरण करती हैं, और कही ऐसी रस्मे होती हैं कि मानो स्त्री लड़ाई में जीत और पकड़कर लाई गई हो। कहीं-कहीं परम निकट सम्बन्धियों या कुछ विशिष्ट कुलों और गोत्रों में विवाह सम्बन्ध वर्जित होता है। हिन्दुओं मे यह १६ संस्कारों मे से एक मुख्य संस्कार माना गया है, और इसके ये आठ प्रकार कहे गये हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, आसुर, प्राजापत्य, गन्धर्व, राक्षस और पैशाच। पर आज-कल इनमे से केवल ब्राह्म विवाह प्रचलित और लोक-विहित है। साधारणत विवाह मे लड़की का हाथ लडके को पकडाने की प्रथा प्रचलित है, जिसका आशय यह है कि लडकी का पिता या अभिभावक उपयुक्त वर के हाथ मे उसे सौप देता है। इसी प्रथा के आधार पर हमारे यहाँ विवाह को **पाणि ग्रहण** भी कहते हैं; क्योकि इसमे वर अपनी भावी वधू का हाथ पकडकर उसे अपने संरक्षण मे लेता है। जब लडकियाँ अपनी इच्छा से अपने लिए आप पति या वर ढूँढ लेती हैं, तब ऐसी प्रथा **स्वयंवर** कहलाती है। अनेक देशों और समाजों में एक व्यक्ति

एक ही समय मे कई स्त्रियों को पत्नी के रूप मे रखता है। पर अधिकतर सभ्य देशों और समाजों मे एक-विवाह की प्रथा ही ठीक और मान्य समझी जाती है। इसमे कोई स्त्री या पुरुष एक समय मे एक ही पुरुष या स्त्री से विवाह-सम्बन्ध रख सकता है। न तो स्त्री को अपने पति के जीवन-काल मे उसके अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुष से और न किसी पुरुष को पत्नी के जीवित रहने पर किसी दूसरी स्त्री से दाम्पत्य या वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार होता है। स्त्री के मर जाने पर प्राय सभी जगह पुरुषों को दूसरा विवाह करने का अधिकार और स्वतन्त्रता होती है; पर अनेक देशों और स्थानों मे स्त्रियों को पति के मरने पर दूसरा विवाह करने का अधिकार नहीं होता। अब स्त्रियों को भी धीरे-धीरे यह अधिकार मिलने लगा है। जब विधवा स्त्रियाँ फिर से अपना विवाह करती हैं; तब उसे विधवा विवाह कहते हैं*। जब कोई पुरुष या स्त्री एक ही समय मे दो स्त्रियों या पुरुषों से विवाह सम्बन्ध स्थापित करे, तब उसे द्वि-विवाह कहते हैं। पर इस प्रकार का विवाह बहुधा पुरुषों का ही होता है, स्त्रियों का नहीं; और अब ऐसे विवाह विधिक दृष्टि से वर्जित होते जाते हैं। बहु-विवाह वह कहलाता है, जिसमें धार्मिक, विधिक या सामाजिक नियमो के अनुसार स्त्री या पुरुष को एक ही समय मे कई पुरुषों या स्त्रियो के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार होता है। बहु-पतित्त्व और बहु-पत्नीत्त्व इसी के दो अलग-अलग भेद हैं। जब एक स्त्री को एक ही समय मे अनेक पुरुषों के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध रखने का अधिकार होता है, तब उसे बहु-पतित्त्व कहते हैं। भारत के कुछ पार्वत्य प्रदेशो तथा तिब्बत के कृषक वर्ग मे और ससार की कई आदिम जातियो मे यह प्रथा अब भी प्रचलित है। इस प्रथा के अनुसार प्राय कई भाइयों का एक साथ एक ही स्त्री से विवाह हो जाता है, और उन सब को उस स्त्री के सम्बन्ध मे पति होने का अधिकार होता है। महाभारत के पाँचो पाडवों और द्रौपदी का विवाह सम्बन्ध हमारे यहाँ बहुत प्रसिद्ध है। इसके विपरीत जब पुरुष को एक ही समय मे कई स्त्रियों

*** विधवा-विवाह का एक और अर्थ यह भी होता है—किसी विधवा के साथ होनेवाला पुरुष का विवाह। पर फलतः दोनों एक ही हैं।**

के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध रखने का अधिकार होता है, तब उसे **बहु-पत्नीत्व** कहते हैं। अफ्रिका के हब्शियों और आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों में यह प्रथा अब तक प्रचलित है। पश्चिमी एशिया की सभी जातियों मे किसी समय यह प्रथा प्रचलित थी, और वहीं से यह इस्लाम धर्म मे आई थी, जो अब तक मुसलमानों में कुछ न कुछ प्रचलित और मान्य है। पर अब धीरे-धीरे इन सब प्रथाओं का अन्त होता जाता है; और केवल एक-विवाह वाली प्रथा न्याय-सगत, विधि-विहित और शिष्ट सम्मत मानी जाती है।

विवेचना (Prudence)

पूर्व-दृष्टि (Foresight) **पूर्व-विवेचन** (Providence)
पूर्व-विचार (Fore-thought) **संविवेक** (Discretion)

ये शब्द मनुष्य के उन गुणों के वाचक हैं, जिनके योग से वह असमजस या कठिनाई के समय समझ-बूझकर ठीक रास्ता निकाल सकता है। **विवेचना** वह गुण या शक्ति है जो हमे सब बातों का आगा-पीछा या ऊँच-नीच समझने के योग्य बनाती और हमे कर्त्तव्य का उचित मार्ग बताती है। इससे हम सावधानता-पूर्वक सब बातों पर विचार करते है, भले ही वह विचार स्वार्थ-पूर्ण और दूसरों के लिए अप्रिय हो। इसमे मुख्य भाव दूर तक देखते हुए ठीक तरह से विचार करने का है। **पूर्व-दृष्टि** वह है जो हमे भविष्य की बाते और उनके सम्भावित परिणाम समझने और उनके लिए तैयार रहने के योग्य बनाती है। बुद्धि यथेष्ट विकसित होने पर ही मनुष्य पूर्व-दर्शी हो सकता है। **पूर्व-विचार** भी बहुत-कुछ वही है, जो पूर्व-दृष्टि है, पर पूर्व-दृष्टि मे जहाँ दर्शिता का भाव मुख्य है, वहाँ पूर्व-विचार मे विचारणा या विवेचना प्रधान है। पूर्व-दृष्टि मे प्राय भावी घटनाओं की अपेक्षा होती है, परन्तु पूर्व-विचार बहुत-कुछ प्रस्तुत प्रसग से सम्बद्ध है, और इसी लिए हम इसे **पूर्व-विवेचन** का पर्याय भी कह सकते हैं। हाँ, **पूर्व-विचार**

की अपेक्षा **पूर्व-विवेचन** अधिक व्यापक शब्द है। **पूर्व-विचार** तो किसी एक घटना या प्रसंग के सम्बन्ध मे ही हो सकता है; पर **पूर्व-विवेचन** वह गुण या शक्ति है जो हमें **पूर्व-दृष्टि** भी प्रदान कर सकती है और जो हमसे **पूर्व-विचार** भी करा सकती है। **संविवेक** शब्द इसलिए सयम और विवेक के योग से बनाया गया है कि ऑंगरेजी मे डिस्क्रीशन (Discretion) का जो अर्थ है, वह संयम और विवेक दोनों के भाव से युक्त है। यह मुख्यत उस गुण का वाचक है जो विकट अवसरों पर हमें सब बाते अच्छी तरह सोच-समझकर और उनके सब अंगों पर पूरा विचार करके भविष्य के सम्बन्ध मे उचित निर्णय करने के योग्य बनाता है। यह हमें सब ओर से सचेत रखकर उतावलापन करने से रोकता है, और आपे से बाहर नहीं होने देता। जब हमारे सामने एक ओर कूआँ और दूसरी ओर खाईं हो अथवा जब हम चारों ओर से घिर गये हो, तब हमें **सविवेक** से काम लेकर कहीं कुछ दबना भी पडता है। यहीं इसमें सयम का भाव दिखाई देता है। पर यह हमे बुद्धिमत्तापूर्वक उचित कार्य या निर्णय करने के योग्य भी बनाता है, इसलिए विवेक के भाव से भी युक्त है। इसी दृष्टि से कहा जा सकता है—न्यायाधीश का विचार तो कुछ और ही जान पडता था, पर जब उनके सामने कानून की धारा निकालकर रख दी गई, तब उनके लिए कोई उपाय (या मार्ग) न रह गया—वे अपने सविवेक से काम न ले सके।

———

वेतन (१. Pay, २. Salary*)

अधिलाभ (Bonus) **भत्ता** (Allowance)
अनुवेतन (Pension) **भृति** (Wage, Wages)
आनुतोषिक (Gratuity) **मजदूरी=भृति**
तनखाह=वेतन **महीना=वेतन**
परिवेतन (Emolument) **मानदेय** (Honorarium)
पारिश्रमिक (Remuneration) **वृत्ति** (Stipend)
फीस=शुल्क **शुल्क** (Fee)

इस वर्ग के शब्द ऐसी धन-राशि के वाचक हैं जो कोई काम या सेवा करने-वालों को विविध दृष्टियों से दी जाती है। **वेतन** सबसे अधिक प्रचलित शब्द है, जिसे **तनखाह** (फा० तनख्वाह) भी कहते हैं। यह प्राय हर महीने दिया जाता है, इसी लिए साधारण बोल-चाल मे इसे **महीना** भी कहते है। इसकी रकम महीने के हिसाब से निश्चित होती है; और प्राय हर महीने के बाद निश्चित समय पर दी भी जाती है। आप तीन सौ रुपए मासिक **वेतन** पर किसी काम के लिए नियुक्त होते हैं; और हम अपनी मजदूरनी को दस रुपए मासिक **वेतन** देते है। **अनुवेतन** वह है जो किसी को बहुत दिनों तक किसी पद पर काम कर चुकने के बाद, उसके वृद्ध और असमर्थ हो जाने पर, उससे बिना कोई काम या सेवा लिये और केवल उसके भरण-पोषण के विचार से उसे दिया जाता है। यह

*** अँगरेजी में पे (Pay) और सैलरी (Salary) मे यह अन्तर है कि 'पे' तो सार्विक शब्द है, और सब जगह प्रयुक्त होता है, पर 'सैलरी' ऐसे व्यक्तियों की होती है जो अपने काम के लिए विशिष्ट रूप से प्रशिक्षित होते हैं, जैसे अध्यापक, सैनिक अधिकारी आदि। पर हमारे यहाँ ऐसा कोई अन्तर नहीं माना जाता और अँगरेजी के उक्त दोनो शब्दों के लिए एक 'वेतन' शब्द ही प्रचलित है।**

प्राय सेवा-काल के वेतन के आधे के लगभग या उससे कुछ कम होता है, और सरकारी सेवाएँ करनेवालों को मिलता है। बडे-बड़े व्यापारी या अमीर भी कभी-कभी अपने पुराने और बुड्ढे नौकरों को कुछ **अनुवेतन** देते हैं। **भृति** वह है जो साधारण शारीरिक श्रम करनेवाले लोगों (जैसे-राज,मजदूर, बढई आदि) को दैनिक या साप्ताहिक काम के हिसाब से दी जाती है। इसे **मजदूरी** भी कहते हैं। **भत्ता** वह है जो कुछ विशिष्ट अवसरों पर खाने-पीने आदि के अतिरिक्त व्यय के विचार से अनुग्रह या सविवेकपूर्वक किसी नौकर को, उसके वेतन के अतिरिक्त, दिया जाता है। यदि कोई नौकर महीने दो महीने के लिए किसी दूसरी जगह काम करने के लिए भेजा जाय, तो वहाँ उसका जो अतिरिक्त व्यय होगा, उसी की पूर्त्ति के विचार से उसे भत्ता दिया जायगा। अथवा यदि किसी से उसकी नियत सेवा के सिवा कुछ और काम भी लिया जाय या खाने-पीने की चीजें अ-स्थायी रूप से बहुत महँगी हो जायँ, तो इस दृष्टि से भी कुछ भत्ता दिया जाता है*। **वृत्ति** भी एक प्रकार का वेतन ही है; पर यह कुछ विशिष्ट वर्ग के लोगों को केवल उनके भरण-पोषण या निर्वाह के विचार से दी जाती है। यह **वेतन** और **भत्ते** दोनों के लिए सम्मान-सूचक शब्द है। वृत्ति पानेवाले के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि वह नियमित और निश्चित रूप से उसी प्रकार कोई काम करे, जिस प्रकार **वेतन** या **भृति** पानेवाले लोग करते हैं। गरीब विद्यार्थियो, वृद्ध और सम्मानित विद्वानों, नि स्वार्थ भाव से बडी-बड़ी सेवाएँ करनेवालों आदि को सरकार या बडे आदमियों के यहाँ से प्रायः वृत्ति मिलती है। **परिवेतन** वह है जो किसी बडे अधिकारी को उसके पद के विचार से वेतन, भत्ते, गाडी या मोटर के व्यय, यात्रा-व्यय आदि के रूप मे मिलता है। इसमे **वेतन** के अतिरिक्त और प्रकार से (घूस या चोरी-बेईमानी आदि के द्वारा नहीं) होनेवाली वह सारी आय भी सम्मिलित है जो उस पद पर होने के कारण उसे होती है। **मानदेय** वह है जो प्राय विशिष्ट रूप से बहुत योग्य व्यक्तियो को उनके सम्मान मात्र के

* इस अन्तिम दृष्टि से जो भत्ता दिया जाता है, उसे **मँहगाई** Dearness allowance कहते हैं।

विचार से किसी ऐसी बड़ी सेवा के लिए दिया जाता है, जो बहुत नियमित रूप से नहीं ली जाती। जिन्हे उनकी योग्यता के अनुसार वेतन नहीं दिया जा सकता अथवा वैतनिक सेवक के रूप मे जिनसे काम लेना या काम कराना अपमान-जनक समझा जाता है, उन्हे विशिष्ट सेवाओं के बदले में जो थोड़ा-बहुत धन (प्रायः नियमित रूप से) अर्पित किया जाता है, वही **मानदेय** कहलाता है। **पारिश्रमिक** वह है जो किसी को उसके परिश्रमपूर्वक कोई काम करने पर एक साथ (वेतन, वृत्ति आदि के रूप मे नहीं) दिया जाता है। लेखक कोई पुस्तक लिखकर प्रकाशक को प्रकाशित करने के लिए देता है, और प्रकाशक उस लेखक को परिश्रम के फल-स्वरूप हजार रुपए **पारिश्रमिक** देता है। कोई हमारा साल भर का बही-खाता या हिसाब लिख देता या उसे जाँच देता है, और उसके इस परिश्रम के बदले मे हम उसे पाँच सौ रुपए **पारिश्रमिक** देते हैं*। **अधिलाभ** और **आनुतोषिक** प्राय व्यापारिक क्षेत्रों के शब्द हैं। स० लाभ मे अधि उप-सर्ग लगाकर **अधिलाभ** (नया शब्द) बनाया गया है। जब किसी व्यापारी या कारखाने के मालिक को विशिष्ट आर्थिक बचत या लाभ होता है, तब वह अपने लाभ का कुछ अश अपने नौकरों को भी (अथवा अपने हिस्सेदारों को भी) उत्साहित अथवा प्रसन्न करने के लिए देता है। यही **अधिलाभ** कहलाता है। यह वेतन, भत्ते आदि के अतिरिक्त होता और प्राय तीसरे या छठे महीने अथवा वर्ष के अन्त में (लाभ का हिसाब हो चुकने पर) दिया जाता है। **आनुतोषिक** स० अनुतोषण से बनाया हुआ शब्द है। अनुतोषण का अर्थ है—किसी को (अपने अनुकूल करने के लिए) सन्तुष्ट या प्रसन्न करना। जब हम किसी के

*** अँगरेजी में Remuneration का भाव हमारे पारिश्रमिक के भाव से बहुत आगे बढ़ा हुआ है। उसमे कार्य की उत्कृष्टता का भी भाव है और उसके कर्ता के आदर-सम्मान का भी। पर हमारे यहाँ इसके लिए 'पारिश्रमिक' चल पड़ा है, जो 'परिश्रम' से बना है, और इसी दृष्टि से यहाँ 'पारिश्रमिक' की व्याख्या की गई है। अन्यथा Remuneration भी तत्वतः पुरस्कार के ही वर्ग की चीज है।**

किसी कार्य या सेवा से प्रसन्न और सुखी होकर उसे कुछ धन यों ही अथवा उसके वेतन आदि के अतिरिक्त उसे सन्तुष्ट करने के लिए देते हैं, तब इस प्रकार दिया जानेवाला धन **आनुतोषिक** कहलाता है (विशेष दे०-'दान' के अन्तर्गत 'पारितोषिक' और 'पुरस्कार')। होटलों मे चाय, भोजन आदि लानेवाले नौकरों, धर्मशालाओं के जमादारों, बडे अधिकारियों के चपरासियो आदि को चलते समय कुछ **आनुतोषिक** देने की प्रथा सी है। इसी रूप मे दिया जानेवाला धन **आनुतोषिक** है। **फीस** या **शुल्क** वह धन है जो गवैयों, चिकित्सकों, वकीलो आदि को उनसे लिये जानेवाले काम के बदले मे दिया जाता है। विद्यार्थियों को विद्यालयों मे पढाई के बदले मे जो धन नियमित रूप से प्रति मास देना पडता है, उसे भी **फीस** या **शुल्क** कहते हैं। पर यदि कोई शिक्षक किसी विद्यार्थी को अपने घर बुलाकर या उसके घर जाकर अलग से कुछ और पढाता है, तो उसके बदले मे उसे मिलनेवाला धन यदि मासिक हिसाब से हो तो वेतन और सब मिलाकर इकट्ठा और एक साथ मिले तो **पारिश्रमिक** कहा जायगा। विद्यालयों मे दी जानेवाली **फीस** या **शुल्क** को छोड़कर बाकी सब प्रकार की **फीसे** या **शुल्क** प्रायः अलग-अलग कामों के लिए अलग-अलग होते हैं। जैसे—वैद्य जी अपने घर रोगी को देखने का **शुल्क** १) और रोगी के घर जाकर देखने का ५) लेते हैं; अथवा हमारे वकील साहब पहले तो हर पेशी का **शुल्क** १०) लेते थे, पर अब १५) लेने लगे हैं।

वैर (Hostility)

विरोध (१ Conflict
२. Opposition)

वैमनस्य

शत्रुता (Enmity)

वैर शब्द स० वीर से बना हुआ उसका भाव-वाचक रूप है, और इस दृष्टि से इसका अर्थ होता है—वीर का काम या वीरता। पर इसका यह व्युत्पत्तिक

अर्थ इसमे से बिलकुल निकल गया है; और इसमे दुश्मनी या शत्रुता के भाव का सूचक एक नया अर्थ आ लगा है। वीर लोग प्राय आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे, अत एक दूसरे के साथ शत्रुता होने पर उसके प्रति मन मे जो विरोधी भाव बना रहता है, वही **वैर** कहलाता है। यह सदा ऊपर से तो प्रकट नहीं होता, पर बीच बीच मे अपना साधारण या उग्र रूप प्रकट करता ही रहता है। ऊपर से देखने पर शत्रुता यदि न भी रह जाय, तो भी मन मे अधिक समय तक **वैर** बना रह सकता है। इससे प्रेरित होकर प्रतिपक्षी को हानि पहुँचानेवाला जो काम किया जाता है, वही लडाई, विग्रह, युद्ध आदि के रूप धारण करता है। यह मनोमालिन्य (दे०-कलह) का उग्रतम और सक्रिय रूप है। **विरोध** स० विरुद्ध से बना है, जिसका अर्थ है—घेरना, रोकना, बाधक होना आदि। हिन्दी मे यह मुख्यतः दो अर्थों मे चलता है। जब एक आदमी कोई काम करता या कोई बात कहता है और दूसरा आदमी उसके सामने खड़ा होकर कहता है—'तुम्हारा यह काम या बात ठीक नहीं है, ऐसा नहीं होना चाहिए; मै तुम्हे रोकता हूँ, मैं तुम्हारा दोष या भूल बतलाता हू, तो उस दूसरे आदमी का ऐसा कहना या इसके अनुसार कुछ करना **विरोध** कहलाता है। यह अच्छा, बुरा, उग्र, कोमल (या हलका) सभी प्रकार का होता है। हम किसी बुरी बात का उचित रूप से भी **विरोध** कर सकते हैं; और केवल दल-बन्दी, राग-द्वेष आदि के कारण किसी अच्छी बात का अनुचित रूप से भी **विरोध** कर सकते हैं। पर ऐसा **विरोध** सदा एक ही विषय से सम्बद्ध होता है, और उस विषय की समाप्ति के साथ ही ऐसा **विरोध** भी समाप्त हो जाता है। पर इसका दूसरा रूप वह होता है जो व्यक्तियों या दलों मे होनेवाली सभी बातों से सम्बन्ध रखता है, और प्राय कुछ दिनों तक चलता रहता है। इसके फल-स्वरूप दोनों व्यक्तियों या दलों मे किसी न किसी रूप मे कुछ सघर्ष होता रहता है। इसमें प्राय दो शक्तियाँ बराबर एक दूसरी से टकराती रहती और विपरीत दिशा में काम करती रहती हैं। इसी दृष्टि से **विरोध** का प्रयोग जीव-जगत मे ही नहीं, निर्जीव जगत मे भी होता है। साँप और नेवले में जो प्राकृतिक और स्वभाविक **विरोध** है, वह उनके वश-गत **वैर** के रूप मे दिखाई देता है। खाने-पीने के क्षेत्र में भी कहा जाता है—

मास और दूध का **विरोध** है। अर्थात् मास खाने के बाद तुरन्त ही दूध नहीं पीना चाहिए, क्योंकि दोनों मे तात्त्विक **विरोध** है, जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है। (विशेष दे०-विरुद्ध)

वैमनस्य शब्द स० विमनस् का भाव-वाचक रूप है, और विमनस् का अर्थ है—जिसका चित्त या मन ठिकाने न हों, या घबराहट, सकट आदि के कारण जो बहुत ही खिन्न और उदास हो रहा हो। इसी **विमनस्** का एक और रूप होता है—अन्यमनस। हिन्दी मे इनके रूप क्रमात् विमना और अन्यमना * होते हैं; और इन्हीं से विमनस्क और अन्यमनस्क रूप बनते हैं। इसी लिए **वैमनस्य** का शाब्दिक अर्थ होता है—मानसिक अवसाद, या ऐसा खेद जिससे मनुष्य का सारा उत्साह ठढा पड गया हो और वह सब बातों से विरक्त-सा हो रहा हो। पर हिन्दी में इस **वैमनस्य** शब्द मे न जाने कहाँ से और कैसे एक नया अर्थ आ लगा है, जिससे यह विद्वेष, वैर-विरोध, शत्रुता आदि शब्दो का पर्याय-सा बन गया है। हिन्दी मे यह मन मे रहनेवाले वैर या शत्रुता के भाव का सूचक हो गया है। हम कहते हैं—दोनों परिवारों मे बहुत दिनों से **वैमनस्य** चला आ रहा है; अथवा—व्यर्थ आपस से **वैमनस्य** बढाना ठीक नहीं है। **शत्रुता** वस्तुत विद्वेष और **वैर** का वह खुला हुआ और स्पष्ट विकास है जो प्रत्यक्ष रूप से क्रियाशील होकर सामने आता है। शत्रुता सदा दुष्टतापूर्ण और नाशक कार्य करती रहती है। यद्यपि यह **वैर** या **विरोध** की तरह दीर्घ-काल-व्यापी नहीं है, फिर भी एक बार आरम्भ होने पर प्राय कुछ दिनों तक चलती रहती है; और यदि अधिक उग्र हो तो कई पीढियों तक भी चल सकती है। पर होती यह सदा व्यक्तिगत कारणों से और वैयक्तिक ही है। जातियों, देशो या राष्ट्रों मे भी शत्रुता होती है, पर उस दशा मे भी उन जातियों, देशों, राष्ट्रों आदि के स्वतत्र व्यक्तित्व का भाव ही मुख्य होता है। **वैर विरोध** आदि की तरह यह भी बीच-बीच मे कुछ दब-

* हिन्दी का अनमना शब्द इसी अन्यमना से बना है, जिसका अर्थ होता है—अवसाद, खेद आदि के कारण जिसका मन किसी काम या बात में न लग रहा हो।

कर फिर सिर उठाती रहती है; और प्राय विशेष विनाश के बाद ही इसका अन्त होता है। यो साधारणत **वैर** और **शत्रुता** मे विशेष अन्तर नहीं माना जाता *; फिर भी शत्रुता की तुलना मे वैर अधिक उग्र, विकट, विनाशक और स्थायी होता है। हमारे यहाँ नीति का वाक्य है—माता वैरी, पिता शत्रु, ये न बालेन पाठित। इसमें वैरी और शत्रु को प्राय समानक माना गया है, पर वस्तुत दोनों मे अन्तर है। हम यह तो कहते हैं—हम इस समय आप ही अपने शत्रु हो रहे हैं; पर यह नहीं कहते—हम इस समय आप ही अपने वैरी हो रहे हैं। कारण यही है कि वैरी बहुत विकट होता और सदा भारी हानि पहुँचाने का प्रयत्न करता रहता है।

शक्ति (Power)

ऊर्जा (Energy)	**प्रभविष्णुता** (Potency)
ओज (Vigour)	**बल** (१. Force, २ Strength)
जीवति (Vitality)	**महाबल** (Might)
ताकत=१. बल, २. शक्ति	**विक्रम=पराक्रम**
पराक्रम (Valour)	**सबलता=प्रभविष्णुता**
पौरुष (Prowess)	

इस वर्ग के शब्द ऐसे तत्त्वों के सूचक है, जिनके कारण पदार्थ, व्यक्ति आदि किसी प्रकार का कार्य या व्यवहार करते अथवा करने के योग्य होते है। इस वर्ग

---

* अँगरेजी में Enemy और Foe दो अलग-अलग शब्द हैं, और हमें इनके लिए हिन्दी मे क्रमात् शत्रु और वैरी शब्द रखने चाहिएँ।

का मुख्य शब्द शक्ति (अर्थ और प्रयोग दोनों के विचार से) बहुत अधिक व्यापक और सार्विक है। यही बात इसके अरबी समानक ताकत के सम्बन्ध में भी है। शक्ति सं० शक्* से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है—कोई काम कर सकने के योग्य होना, कुछ कर सकने मे समर्थ होना। साधारणत कुछ कर सकने की योग्यता या सामर्थ्य ही शक्ति है। हम कहते है—रोग (अभाव, चिन्ता, वृद्धावस्था आदि) के कारण उनकी शक्ति बहुत क्षीण हो गई है; अथवा—अब तो उसमें उठकर खड़े होने की भी शक्ति नही रह गई। ऐसे प्रसगों मे शक्ति से हमारा अभिप्राय होता है—वह शारीरिक तत्त्व जिसके कारण हम सब काम करते है। मनुष्यों के सिवा सब प्रकार के जीव-जन्तुओ और पदार्थों में भी किसी न किसी प्रकार की ऐसी शक्ति होती है, जिससे उनके सब काम और उपयोग होते है। यह वस्तुत पदार्थों का वह गुण या धर्म है जो अनेक रूपो मे काम करता है। इस शब्द का प्रयोग भौतिक, शारीरिक और नैतिक सभी क्षेत्रों मे होता है। मानसिक या शारीरिक शक्ति तो होती ही है; यत्रों और शब्दों तक की शक्ति मानी जाती है। यहाँ तक कि आर्थिक, दैवी, प्राकृतिक, लौकिक आदि शक्तियाँ भी होती हैं। ओषधियों मे रोग दूर करने की और जल के प्रवाह मे बडी-बडी चट्टानें तोड़ने-फोडने की शक्ति होती है। शक्ति का काम ही है—कुछ कर दिखाना, फिर चाहे वह क्रिया हो, चाहे परिणाम, चाहे विकार, चाहे बिगाड, चाहे सुधार। यह काया या शरीर में स्वाभाविक भी होती है और बाहर से अर्जित या प्राप्त भी की जा सकती है। आज-कल बलवान् और सशक्त देश या राष्ट्र भी अपने बल, वैभव आदि के कारण शक्ति कहलाने लगे हैं। हम कहते हैं—इस समय अमेरिका और रूस ही ससार की सबसे बड़ी शक्तियाँ हैं। आशय यही होता है कि ये सब प्रकार की शक्तियों के अधिष्ठान हैं—जो चाहे, वह कर सकते हैं। ईश्वर सब-कुछ कर सकता है, इसी लिए हम उसे सर्व-शक्तिमान् कहते हैं। बल सं० बल् से बना हैं, जिसका अर्थ है—साँस लेना, जीवित रहना आदि। बल मुख्यत

* इसी से सं० शक्य (किये जाने या हो सकने के योग्य) विशेषण और हिन्दी की 'सकना' क्रिया भी बनी है।

हमारे शरीर की वह शक्ति है जिसके सहारे हम जीवित रहकर चलते-फिरते और सब काम करते हैं। कोई चीज उठाना, खींचना, ढकेलना, फेंकना आदि इसी के काम हैं। यह हमारी शक्ति का क्रियात्मक रूप है। हममे कार्य करने की शक्ति तो होती है, पर कार्य करने के समय हमे उसमे अपना बल लगाना पडता है। उपयुक्त साधन अथवा सहायता मिलने पर हमारा बल बढ जाता है। राज्य की सैनिक शक्ति युद्ध आदि के समय अपने बल का प्रयोग करती है; और जो प्रबल* होता है, वह दुर्बल को दबा या हरा देता है। इसी दृष्टि से इजनों आदि के सम्बन्ध मे हॉर्स पॉवर (Horse Power) की जगह अश्व-बल का प्रयोग होता है; क्योंकि वह बाहर निकलकर या सामने आकर कुछ काम करता है। लाक्षणिक प्रयोग मे भी शक्ति और बल मे कुछ ऐसा ही अन्तर देखने मे आता है। भाषा मे विचार प्रकट करने की शक्ति निहित होती है, पर जब हम ओजपूर्ण भाषा में अपने विचार प्रकट करते हैं, तब उसमे दूसरों को प्रभावित करने का (धार्य और प्रत्यक्ष) बल आता है। हमारी आन्तरिक शक्ति ही हमे बल के प्रदर्शन मे समर्थ करती है। यदि किसी पहलवान को रस्सों से बाँध दिया जाय तो उसकी शक्ति तो शरीर में वर्त्तमान रहेगी, पर यदि उसमें उन रस्सो को तोडने का बल न होगा, तो वह जहाँ का तहाँ पडा रह जायगा। शक्ति और बल

* प्रबल का साधारण अर्थ बलवान् तो होता ही है, फिर भी इसमें तुलना का भाव प्रधान है। प्रबल सदा किसी की अपेक्षा या तुलना में अधिक बलवाला होता है, और इसी लिए वह वस्तुतः अं० स्ट्रागर (Stronger) का समानक है। कुछ मित्रों का सुझाव था ति अ० स्ट्रेंग्थ (Strength) के लिए प्रबलता रखा जाय, पर कई बातो का विचार करके अन्त मे मुझे 'बल' को ही फोर्स और स्ट्रेंग्थ दोनों का समानक मानना पड़ा। अँगरेजी में Strength तो शरीर (व्यापक अर्थ मे) में निहित मानी जाती है;और उसका प्रयोगात्मक, दृश्य तथा बाह्य रूप Force कहलाता है। पर हमारे यहाँ यह अन्तर सूचित करनेवाले दो अलग-अलग शब्द नहीं हैं; दोनों का काम एक 'बल' से ही चलता है।

दोनों का बहुत बढा-चढा रूप ही महाबल है। यद्यपि संस्कृत में यह विशेषण रूप मे और बलवान् के अर्थ मे प्रयुक्त होता है, पर प्रस्तुत प्रसग मे यह सज्ञा रूप मे ही ग्रहण किया गया है। ऊर्जा सं० ऊर्ज से बनाया गया है, जिसका अर्थ है—बल या शक्ति प्रदान करना। ऊर्जा भी है तो हमारी शारीरिक शक्ति ही; पर यह मुख्यत शक्ति का वह रूप है जो कोई काम करने के समय उसमे लगता या व्यय होता है, अर्थात जो कार्य करनेवाले बल के रूप मे परिणत हो सकता और कुछ कर दिखाने के लिए तत्पर या प्रयत्नशील रहता है। भौतिक विज्ञानों मे इस शब्द का बहुत अधिक प्रयोग होता है; और वहाँ यह तत्त्व या द्रव्य (दे०-तत्त्व) का एक अ ग माना जाता है। तत्त्व या द्रव्य की सब क्रियाएँ इसी ऊर्जा के कारण और द्वारा होती हैं। यह यान्त्रिक, रासायनिक, वैद्युत् और शारीरिक सभी प्रकार की होती है। हम कहते हैं—(क) आज-कल हमारी सारी ऊर्जा इसी काम मे लगी है; (ख) वीर रस की कविता हमारे मन या शरीर मे ऊर्जा का संचार करती है, अथवा (ग) दुबला-पतला आदमी भी अपनी ऊर्जा से बड़े बड़े काम कर सकता है। ओज (स० ओजस्) का मौलिक अर्थ तो ऊर्जा या शक्ति ही है; पर यह मुख्यत उस अग्नि या ताप का वाचक है जो हमारे सारे शरीर मे व्याप्त रहकर उसे जीवित रखता और शक्ति या ऊर्जा से सम्पन्न रखता है। हमारे यहाँ के वैद्यक शास्त्र के अनुसार हम जो कुछ खाते हैं, वह पहले रस बनता है, जिससे क्रमश मास, मेद, शुक्र आदि धातुएँ बनती हैं। इसी रस का जो सार भाग हमारे सारे शरीर में फैलता है, वही ओज है, जो हमारी शक्ति का मूल अश है। आवेश, साहस आदि इसी ओज के फल हैं। इसी लिए साहित्य में कविता, भाषण आदि का वह गुण (या विशेषता) ओज कहलाता है, जो पढने-सुननेवाले के मन मे आवेश, साहस आदि का सचार करता है। रौद्र और वीर रस की कविताओं मे इसका होना भी इसी लिए आवश्यक माना गया है। यह प्राय हमारी मानसिक और शारीरिक शक्तियों पर आश्रित होता है। यों साधारणत यह युवास्था मे अपने पूर्ण रूप मे व्यक्त होता है; पर वृद्धावस्था मे इसका क्षीण या नष्ट हो जाना अनिवार्य या आवश्यक नहीं है। जब तक यह हमारे शरीर में रहता है, तब तक हमारी मानसिक और

शारीरिक शक्ति बहुत-कुछ वैसी ही बनी रहती और व्यक्त होती है, जैसी युवावस्था मे होती है या होनी चाहिए। हमारे कार्यों या बातों मे तो ओज प्रकट होता ही है; बहुत अच्छे और बड़े विचारशील को हम ओजस्वी* विचारशील तथा नस नस फड़का देनेवाली कविता या भाषण को ओजस्विनी कविता या ओजस्वी भाषण भी कहते हैं। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो यह ओज ही अपने एक विशिष्ट रूप में जीवति है। पर अँगरेजी मे विगर और वाइटैलिटी दो अलग अलग शब्द हैं; और अ० विगर हमारे यहाँ बहुत पहले से ओज का वाचक माना जाता रहा है; अत वाइटैलिटी के लिए नया शब्द जीवति† बनाया गया है। यह स० जीवत् (विशेषण) से बनाया गया है, जिसका अर्थ है—जीवित या जीता हुआ। इसका प्रयोग यौगिक शब्द बनाने मे होता है; जैसे—जीवत्पतिका=वह स्त्री जिसका पति जीवित हो; अर्थात् सधवा। जीवित प्राणियों मे जो शक्ति मुख्य रूप से काम करती है और जो जीवन का मूल तत्व मानी जाती है, वही वस्तुत जीवति है। वनस्पतियों आदि को भी यही शक्ति जीवित रखती है। सबमे क्रियाशीलता, सहनशीलता आदि गुण इसी शक्ति पर आश्रित होते हैं; और इसी के क्षीण होने पर सबमे दुर्बलता

---

* Vigorous

† जीवति शब्द अभी हाल में स० जीव से बनाया गया है। डा० रघुवीर ने इसे अं० विटैमिन (Vitamin) के लिए उपयुक्त समझा है। पर मेरी समझ में विटैमिन (Vitamin) के लिए हमें जीवतिक्ति शब्द रखना चाहिए। जीवति अ० वाइटैलिटी (Vitality) के लिए ही अधिक उपयुक्त है। इसी आधार पर हम जीवत् विशेषण का भी अ० वाइटल (Vital) के स्थान पर प्रयोग कर सकते हैं। डा० रघुवीर ने Vital air के लिए जीव वायु और Vital Function के लिए जीवन कार्य रखा है; पर इनमें के जीव और जीवन शब्द भ्रामक हो सकते हैं; अत. क्रमात् जीवत् वायु और जीवत् कार्य पद होने चाहिएँ। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अं० फंक्शन (Function) के लिए हमारे यहाँ का समानक 'कार्य' नहीं, बल्कि 'कृत्य' है। कार्य तो सीधा-सादा वर्क (Work) है।

भी आती है और वृद्धावस्था भी। **प्रभविष्णुता** का अर्थ है—सब की तुलना में होनेवाली प्रधानता या सर्व-श्रेष्ठता। पर प्रस्तुत प्रसग में यह किसी वस्तु मे स्थायी रूप से और निहित रहनेवाला वह गुण या तत्त्व है, जिसके कारण उस वस्तु का दूसरी वस्तुओं पर कोई परिणाम होता या प्रभाव पडता है। दूसरों पर किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने की और क्रियात्मक रूप मे कुछ विकसित करने की योग्यता या शक्ति ही **प्रभविष्णुता** है। इसका प्रयोग बहुधा ओषधियों आदि के सम्बन्ध मे होता है। कहा जाता है—(क) बरसात खाने (या बीत जाने) पर भी इस ओषधि की **प्रभविष्णुता** कम नही होती। **सबलता** यों तो साधारण रूप से बलवान् होने के भाव से युक्त है, फिर भी यह अर्थ के विचार से **प्रभविष्णुता** का समानक ही है। **पराक्रम** या **विक्रम** और **पौरुष** एक वर्ग के शब्द हैं। **पराक्रम** का मूल अर्थ है—दृढतापूर्वक आगे बढकर किसी पर आक्रमण करना, और **विक्रम** का अर्थ है—आगे बढना। पर आज-कल ये शब्द मनुष्य के उस गुण या शक्ति के वाचक हो गये हैं जिनके सहारे वह सब प्रकार की कठिनाइयों का सामना करता और उन्हें दूर करता हुआ आगे बढकर अपना कोई सद् उद्देश्य या कार्य पूरा करता है। यह बहुधा शारीरिक बल, **ऊर्जा** और जीवति का परिचायक होता है; और इसमे दृढता, निर्भीकता, साहस आदि के तत्त्व भी सम्मिलित होते हैं। शूर वीर या योद्धा युद्ध-क्षेत्र मे **पराक्रम** दिखलाते हैं; और साधारण मनुष्य भी अपने **पराक्रम** से यथेष्ट धन-सम्पति प्राप्त करता अथवा उच्च पद पर पहुँचता है। **पौरुष*** (विशेषण) का अर्थ है—पुरुष सम्बन्धी; पर सज्ञा रूप मे इसका अर्थ

---

* संस्कृत में पुरुष शब्द की तीन प्रकार की वृद्धियाँ होती हैं—पुरुषता, पुरुषत्व और पौरुष। साधारणतः पुरुषता और पुरुषत्व भाव-वाचक संज्ञा रूप हैं, और इनका अर्थ है—पुरुष होने की दशा या भाव। फिर भी पुरुषता विशुद्ध भाव-वाचक सज्ञा है, और पुरुषत्व मे पुरुषता की अपेक्षा कुछ अधिक भाव लगे हैं। पुरुषत्व एक तो मनुष्य की पुंसत्व शक्ति का भी सूचक है, दूसरे उन विशिष्ट गुणों का भी जो मुख्य रूप से पुरुषों में होते हैं अथवा होने चाहिएँ। पौरुष विशेषण भी है और भाव-वाचक संज्ञा भी। प्रयोग

जा सकती है। मनुष्यों के सम्बन्ध मे इस विशेषण का प्रयोग उनके आध्यात्मिक और भौतिक अस्तित्व से भिन्नता सूचित करता है। यदि हम कहें—'भगवान् का शरीरी रूप देख सकना हमारे लिए असभव है।' तो इसका अर्थ यही होगा कि भगवान् को हम शरीरधारी रूप मे नहीं देख सकते। पर हमारे यहाँ के धार्मिक ग्रन्थों मे राम अथवा कृष्ण की आकृति, रूप आदि के जो वर्णन मिलते हैं, वे उनके शारीरिक वर्णन ही कहे जायँगे, शरीरी वर्णन नहीं। **नैसर्गिक** सं० निसर्ग से बना हुआ और **प्राकृतिक** स० प्रकृति से बना हुआ उसका विशेषण वाला रूप है। निसर्ग का पहला अर्थ है—पहले आना, बनना या होना। शब्दार्थ के विचार से जो कुछ पहले सामने आवे, बने या हो, वही निसर्ग या प्रकृति है। पर हिन्दी मे प्रकृति मुख्यत दो अर्थों मे* प्रचलित है। इसका पहला और सबसे अधिक प्रचलित अर्थ है—वह मुख्य नियामक शक्ति जो भौतिक जगत के सब पदार्थों की रचना या सृष्टि करती है और जो सारे जगत का मूल कारण है। हमारे यहाँ इसे जगत् का मूल बीज या उपादान कारण माना है। इसी अर्थ मे यह निसर्ग का समानक है। हिन्दी मे प्रकृति का दूसरा प्रचलित अर्थ है—मनुष्य या मानव जाति (अथवा किसी पदार्थ) का वह विशिष्ट गुण या विशेषता जो जन्म या रचना के समय से ही उसके साथ आती और अन्त तक प्राय ज्यो की त्यों बनी रहती है। हिन्दी मे इसी का पर्याय **स्वभाव** है; और इस अर्थ के विचार से **प्राकृतिक** का पर्याय **स्वाभाविक** है, और यही स्वाभाविक शब्द लोक मे अधिक प्रचलित है। प्रस्तुत प्रसग मे **प्राकृतिक** का सम्बन्ध मुख्यत प्रकृति शब्द के पहले अर्थ से ही है। इस दूसरे अर्थ के विचार से हम प्रकृति की जगह कभी निसर्ग का प्रयोग नहीं कर सकते। प्राकृतिक वह कहलाता है, जो

*** अगरेजी में भी प्रकृति के समानक नेचर (Nature) के ये दोनों अर्थ समान रूप से प्रचलित हैं, फिर भी मुख्यता उस पहले अर्थ की है, जिसका वाचक हमारे यहाँ का निसर्ग शब्द है। प्रस्तुत प्रसग में प्राकृतिक शब्द का विवेचन भी मुख्यतः इसी पहले अर्थ के विचार से किया गया है। दूसरे अर्थ का सूचक हमारे यहाँ स्वाभाविक शब्द विशेष प्रचलित है।**

अपने ठीक उसी रूप में हो, जिसमे प्रकृति ने उसे उत्पन्न किया है। लाक्षणिक रूप में **प्राकृतिक** वह कहलाता है, जो अपने उसी मूल रूप मे हो, जिसमे प्रकृति ने उसे बनाया था। जिसमे किसी प्रकार की कृत्रिमता या बनावट न हो, जो बाद में किसी तरह बनाया-बिगाडा न गया हो, जिसमे किसी कला या शिल्प का प्रयोग न हुआ हो, वही प्राकृतिक है। इसी अर्थ के विचार से इसका विपर्याय कृत्रिम या अ-प्राकृतिक है। इसी से और विस्तृत होकर यह विशेषण ऐसी चीजों या बातो का भी वाचक हो गया है, जो साधारणत अपने वास्तविक रूप मे हमारे सामने आती हैं। जैसे—सन्तान के प्रति माता का स्नेह सदा प्राकृतिक होता है।
भौतिक स० भूत (विशेष दे०—'तत्त्व' के अन्तर्गत 'भूत') से बना हुआ विशेषण है, जिसके दो अर्थ हैं। एक तो भूतों से सम्बन्ध रखनेवाला, दूसरे, जो भूतों या तत्त्वों* से बना हो। सब प्रकार के जीव-जन्तु, पेड-पौधे, पत्थर-मिट्टी और इनके बने या बनाये पदार्थ भूतो या तत्त्वों से बने होने के कारण भौतिक कहलाते हैं। अपने विस्तृत अर्थ मे वे प्राकृतिक घटनाएँ भी **भौतिक** कहलाती हैं जो इस लोक मे होती या देखने मे आती हैं†। आँधी, बाट, भूकम्प आदि इसी लिए **भौतिक** उपद्रव कहलाते हैं कि इनकी सृष्टि भौतिक तत्वों के सयोग से होती है।

* इस दृष्टि से तात्त्विक भी वही कहलाता है, जो भौतिक है; परन्तु हिन्दी में तत्त्व और तात्त्विक और ही अर्थों मे प्रयुक्त होते हैं, (दे० 'संगत' के अन्तर्गत 'तात्त्विक') अत· यहाँ केवल भूत और भौतिक शब्दों का प्रयोग हुआ है।

† अँगरेजी में फिजिकल (Physical) का अर्थ हमारे यहाँ के शारीरिक के अर्थ की अपेक्षा और भी अधिक व्यापक है। अँगरेजी में वे चीजें या बातें भी फिजिकल कहलाती है, जिनका हमें शरीर या इन्द्रियों से ज्ञान होता है; अथवा जो किसी प्रकार धार्य (दे० 'मूर्त्त' के अन्तर्गत 'धार्य') होती हैं। पर हमारे यहाँ फिजिकल के इस अतिरिक्त अर्थ का अन्तर्भाव 'भौतिक' में ही होता है, 'शारीरिक' में नहीं होता। हमारे यहाँ फिजिकल जियॉग्रैफी (Physical Geography) को भौतिक भूगोल ही कहते है, शारीरिक भूगोल नहीं कहते। दे०—इसी प्रकरण में आगे 'भौतिक'।

साधारण **भौतिक** का प्रयोग आध्यात्मिक, पारलौकिक, मानसिक आदि अथार्य या अमूर्त्त बातों या वस्तुओ से भेद सूचित करने के लिए होता है। हम कहते हैं—नास्तिक और वैज्ञानिक प्राय **भौतिक** जगत् को ही सब कुछ मानते हैं; इससे परे उनके लिए और कुछ होता ही नहीं। आशय यही होता है कि जो बाते या वस्तुएँ उन्हें इस जीवन मे प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देती हैं, उनके सिवा और किसी बात या वस्तु पर उनका विश्वास नहीं होता।



शिष्टता (Courtesy)

नागरता (Civility)	**शालीनता** (Mannerliness)
भल-मनसत=सज्जनता, सौजन्य	**शील** (Disposition)
विनम्रता (Humility)	**सज्जनता** (Gentlemanliess)
विनय (१. Modesty, २. Discipline)	**सौजन्य=१. शिष्टता, २. सज्जनता**

इस वर्ग के सभी शब्द भले आदमियों के उन गुणों और विशिष्टताओं के सूचक हैं, जिनका सम्बन्ध आपस के अच्छे सामाजिक व्यवहारों से है। सबके साथ सदा भले आदमियो का-सा व्यवहार करना और कभी अपनी ओर से किसी को दु खी न होने देना ही शिष्टता है। यह सं० शिष्ट का भाव-वाचक रूप है। शिष्ट का धात्वर्थ है—जिसे अच्छी बातें सिखाई गई हों; या जिसने अच्छा आचार-व्यवहार सीखा हो। शिष्ट का एक अर्थ राज-दरबारी (Courtier) भी है, अत शिष्टता का अर्थ होता है—वैसा आचरण और व्यवहार, जैसा राज-दरबारों मे होता हो। पर भले आदमी इसका आचरण और प्रयोग राज-दरबार के बाहर भी सब जगह करते हैं, और सबकी मान-मर्यादा की रक्षा के विचार से ऐसा

करना आवश्यक भी है। सब लोग सदा सभी अवसरों पर सभी के प्रति शिष्टता दिखला सकते हैं। इसके आचरण के लिए मर्यादा, वय, सामाजिक स्थिति आदि का कोई बन्धन नहीं है। कर्त्तव्य रूप मे इसका पालन सबके लिए आवश्यक है। इसमें मनुष्य को अपना स्वभाव बहुत ही कोमल और विचार बहुत ही उदार रखने पडते हैं। इसका आचरण दूसरों से सीख कर या उनके अनुकरण पर भी किया जाता है, और अपने मन से सोच समझकर भी। नागरता का अर्थ है—उस प्रकार का व्यवहार, जिस प्रकार का नागर या शिक्षित और सभ्य नगर-निवासी आपस मे करते हैं; या जैसा व्यवहार उन्हे आपस मे करना चाहिए। गँवारों और देहातियों का-सा रूखा, मूढता और उजड्डपन का व्यवहार न करके इनके विपरीत कोमल और आदरपूर्ण व्यवहार करना ही नागरता है। सभा-समाजों मे ऐसा व्यवहार करने की विशेष आवश्यकता होती है। विनम्रता यद्यपि शिष्टता का बहुत बडा और आवश्यक अग है, तो भी दोनों के प्रयोग और स्वरूप मे कुछ अन्तर है। विनम्र का अर्थ है—विशेष रूप से झुका हुआ, और विनम्रता तभी सामने आवेगी, जब आदमी दूसरों के आगे कुछ झुकेगा, उनके प्रति विशेष आदर भाव दिखलावेगा। अत इसका उपयोग और प्रयोग उन्ही क्षेत्रों मे हो सकता है, जहाँ पद, मर्यादा, वय, शिक्षा आदि की कुछ समानता होती है। नौकर के सामने मालिक या चेले के सामने गुरु विनम्र (झुका हुआ) नहीं हो सकता। इसका उचित उपयोग मनुष्य की सामाजिक रहन सहन चमका देता है, और यह प्राय शिष्टता से भी कुछ आगे बढ जाती है। शिष्टता मे तो अवसर आने पर ही दूसरों को प्रसन्न या सन्तुष्ट किया जाता है; पर विनम्रता दूसरों को प्रसन्न तथा सन्तुष्ट करने के अवसर ढूँढा करती है। शिष्टता से हम इतना ही कर सकते हैं कि दूसरों को दु खी न होने दे, पर विनम्रता से हम दूसरो को प्रसन्न करने के सिवा अपने उत्कृष्ट मानसिक तथा हार्दिक गुणों का भी परिचय देते हैं। भोजन के लिए अपने यहाँ कुछ मित्रों को बुलाकर उनके खाने-पीने आदि की सब व्यवस्था अपने घर के आदमियों या नौकर-चाकरो से कराना तो शिष्टता है ही, पर हर मित्र के पास बार-बार जाकर उसकी आवश्यकताएँ पूछना, उनकी हर आवश्यकता की पूर्त्ति का स्वयं और व्यक्तिश तत्परतापूर्वक ध्यान रखना आदि बाते इसलिए विनम्रता

के क्षेत्र मे आती हैं कि हम अपना बड़प्पन भूलकर अपने आगत मित्रों के आगे झुकते हैं। यो तो बोल-चाल मे **विनय** भी बहुत-कुछ वही है, फिर भी **विनय** अपेक्षया बहुत व्यापक अर्थ का सूचक पुराना पारिभाषिक शब्द है। **विनय** का व्युत्पत्तिक अर्थ है--अलग या दूर हो जाना। पर आगे चलकर यह मनुष्य की एक विशिष्ट चारित्रिक, मानसिक और व्यावहारिक स्थिति का सूचक हो गया है। अच्छे कुल मे उत्पन्न, गुणी, विद्वान् और सुयोग्य व्यक्ति मे यदि मानवोचित विशेषताओं के साथ साथ इन गुणो का नाम को भी अभिमान न हो, तो इसे विनय कहेगे। व्यवहार मे नम्रता, लज्जा, सकोच आदि इसके मुख्य लक्षण हैं। इसे (पुलिंग रूप मे) लज्जा का पुत्र माना गया है। हिन्दी में यह साधारणत स्त्री० रूप मे और निवेदन, प्रार्थना आदि के अर्थ में प्रचलित है। बौद्धों में यह उन नियमों, विधानों आदि का सामूहिक नाम था, जिनका पालन बौद्ध भिक्षुओं के लिए आवश्यक था। इसी लिए यह आज-कल उन नियमों, विधानों आदि के पालन का सूचक हो गया है, जो वर्गों आदि के लिए विहित होते हैं। कार्यालय के कर्मचारियों, विद्यालय के विद्यार्थियो, सभा-समितियों के सदस्यों, सेना के सैनिकों आदि को नियम-पालन आदि के सिवा आपस मे भी और अधिकारियों आदि के साथ भी जो शिष्ट और सयत व्यवहार करने पडते हैं, उन सबका सामूहिक नाम विनय है। **शालीन** का व्युत्पत्तिक अर्थ तो है—शाला या घर से सम्बन्ध रखनेवाला, पर संस्कृत में मुख्य अर्थ है—वह जो घर-गृहस्थी के सासारिक काम अच्छी तरह और ठीक ढग से करता हो। हिन्दी मे इसका अर्थ रह गया है—अच्छे और उचित व्यवहार करनेवाला; अर्थात् व्यावहारिक रूप मे दिखाई देनेवाला शील ही शालीनता है। इसमे मनुष्य अपनी मर्यादा का भी और दूसरों की मर्यादा का भी उचित और पूरा ध्यान रखता है। उद्दंड, कठोर और सकीर्ण आचार-विचार का त्याग ही शालीनता है। इसका मुख्य सम्बन्ध आचार से है; और इसका क्षेत्र उचित मर्यादा के पालन तक ही परिमित है। **शील** उसी स० शील् धातु से बना है जिससे अनुशीलन आदि शब्द बने हैं। हिन्दी मे शील मुख्यत दो अर्थों मे प्रचलित है। पहला अर्थ तो मनुष्य के स्वभाववाले क्षेत्र से सम्बद्ध है (दे०—'चरित्र' के अन्तर्गत 'शील'), जहाँ यह अपने प्राकृतिक या

जन्म-जात रूप मे रहता है। पर अपने दूसरे अर्थ (प्रस्तुत प्रसग) मे यह बहुत-कुछ अर्जित और शिक्षा तथा शिष्ट समाज के सम्पर्क से गृहीत या प्राप्त होता है। यह हमारे मन की वह भावनापूर्ण वृत्ति है जो विकट प्रसग आने पर भी हमे जल्दी उग्र या उद्धत नहीं होने देती— हमे विनम्रता, शिष्टता और सयम का त्याग नहीं करने देती। **शीलवान्** मनुष्य जल्दी उन लोगो का भी प्रतिकार या विरोध नहीं करना चाहता, जो उसका कुछ अहित करना चाहते या उससे कुछ अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं। ऐसा मनुष्य अपने विरोधियों या शत्रुओ को भी जल्दी अप्रसन्न या रुष्ट नहीं होने देता। व्यवहारत शील के साथ प्राय सकोच भी देखने मे आता है। जिसमे कुछ अधिक शील होता है, वह प्राय उपयुक्त अवसर पर भी ठीक बात कहने मे सकोच करता है। **सज्जनता** और **सौजन्य** हैं तो प्राय एक ही, फिर भी दोनो मे कुछ अन्तर है। सज्जन स० सत् + जन के योग से बना है, जिसका व्युत्पत्तिक अर्थ है—अच्छे या उत्तम कुल मे उत्पन्न। इसी मे पीछे से वह भला आदमीवाला अर्थ लगा है, जिस अर्थ मे वह आज-कल प्रचलित है। **सज्जनता** उन गुणों का सूचक शब्द है, जिनके होने पर मनुष्य साधारणत भला आदमी, उदार, सभ्य और सुयोग्य माना जाता है। किसी के साथ व्यर्थ लडाई-झगडा न करना, जहाँ तक हो सके, दूसरो की कुछ सेवा और सहायता करना, सबके साथ **शिष्टता** का व्यवहार करना आदि इसके विशिष्ट लक्षण हैं। **सौजन्य** स० सुजन का भाव-वाक रूप है, और सुजन का अर्थ है—भला आदमी। इसी लिए **सौजन्य** और **भल-मनसत** एक दूसरे के पर्याय हैं। इसमे सज्जनतावाले व्युत्पत्तिक अर्थ का अन्तर्भाव नहीं होता; पर **सज्जनता** का जो दूसरा लोक-प्रचलित अर्थ है, वही **सौजन्य** का भी है। कुछ अवस्थाओ मे यह **शिष्टता** के पर्याय के रूप में (कदाचित् इसलिए) प्रचलित हो गया है कि जो सुजन होता है, वह साधारणत शिष्ट भी होता ही है।

शोधन (Correction)

संशोधन (Amendment) **परिष्करण** (Embelishing)
अनुशोधन (Modification) **विशोधन** (Purification)
परिशोधन

शोधन का अर्थ है—शुद्ध करना। किसी प्रकार की त्रुटि, दोष या भूल दूर करके उसे ठीक करना ही **शोधन** है। हमारे यहाँ वैद्यक में ओषधियों आदि का जो **शोधन** होता चला आया है, उसमे उनके दूषित और हानिकारक अश ही दूर किये जाते हैं। आज-कल इसका प्रयोग कुछ क्षेत्रों मे मुख्यत भूले दूर करने के प्रसंग मे होता है। छापे, लेख आदि की भूलें दूर करना **शोधन** कहलाता है। **संशोधन** का वास्तविक अर्थ है—अच्छी तरह किया जानेवाला **शोधन;** इसी-लिए इसका प्रयोग प्राय **शोधन** के स्थान पर भी किया जाता और यह उसका पर्याय माना जाता है। पर आज-कल इसका प्रयोग मुख्य रूप से एक विशिष्ट क्षेत्र मे होने लगा है। जब किसी सभा-समिति मे कोई प्रस्ताव उपस्थित होता है या विधान सभा मे कोई विधेयक विचारार्थ आता है, तब अपने अपने विचार के अनुसार उसे ठीक करने या सुधारने के लिए जो सुझाव सदस्य लोग सबके सामने रखते हैं, वे **सशोधन** कहलाते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य यही होता है कि जो निश्चय हो या विधान बने, उसमे त्रुटियाँ, दोष और भूलें न रह जायँ—वह हर तरह से ठीक हो जाय। पर **सशोधन** सदा व्यक्ति-गत दृष्टि-कोण से ही उपस्थित किये जाते हैं; और इसी लिए किसी प्रस्तावित **सशोधन** के सम्बन्ध मे यह नही कहा जा सकता कि वह सदा आवश्यक और उपयोगी ही होता है। हम कह सकते हैं कि अमुक प्रस्ताव के सम्बन्ध में जो **संशोधन** सदन के सामने उपस्थित किये गये थे, उनमे से कई बिलकुल मूर्खतापूर्ण थे। फिर भी साधारणत **संशोधन** के सम्बन्ध मे यही माना जाता है कि वह त्रुटियाँ और दोष दूर करने के उद्देश्य से ही होता है। इसके विपरीत **विशोधन** सभी अवस्थाओं में अच्छा, ठीक और शुभ ही होता है। विशुद्ध उसे कहते हैं जो सब प्रकर से, सभी दृष्टियों से ठीक और शुद्ध हो। जैसे **विशुद्ध** आचरण सदा अनुकरणीय और प्रशसनीय होता है।

जिस चीज मे किसी तरह का खोट या मैल न हो अथवा जिसमे किसी ऐसी-वैसी चीज का मेल या मिलावट न हो, वह भी विशुद्ध कहलाती है। इसलिए किसी चीज या बात को विशुद्ध करना या बनाना ही **विशोधन** है। **परिष्करण** का अर्थ है—अच्छी तरह से शुद्ध और उज्ज्वल या स्वच्छ करना—सब प्रकार के मल या दोष दूर करके आभा, शोभा आदि बढ़ाना। इसमें बाहरी और भीतरी दोनों रूप-रंग अच्छे और आदर्श बनाकर प्रभावोत्पादक बनाने का भाव ही मुख्य है, पर साथ मे सजा-सँवारकर आकर्षक और मनोहर बनाने का भाव भी निहित है। कलाकार जब अपनी कृति प्रस्तुत कर चुकता है, तब उसे और भी अच्छा रूप देने के लिए अनेक प्रकार से **परिष्कृत** करता है, और कुशल लेखक या कवि की रचना अच्छे, नये और सुन्दर वर्णनों, विलक्षण भावों और ओजपूर्ण शब्द-योजना से **परिष्कृत** होती है। यो तो **परिशोधन** का अर्थ भी बहुत कुछ वही है, जो **विशोधन** या **परिष्करण** का है, फिर भी अच्छी तरह किया जानेवाला परिष्करण या विशोधन ही **परिशोधन** कहलाता है। **अनुशोधन** नया शब्द है; और शोधन मे अनु-उपसर्ग लगाकर बनाया गया है। इसका मुख्य आशय है—किसी चीज या बात में कोई ऐसा परिवर्त्तन या सुधार करना, जिसमें उसकी कोई त्रुटि या दोष तो दूर हो जाय, फिर भी उसका आकार या रूप ज्यों त्यों बना रहे—उसकी बाह्य आकृति मे कोई अन्तर न आने पावे। अर्थात् कोई अनुचित, कठोर या हानिकारक अंश ठीक करना या सुधारना ही **अनुशोधन** है। यदि प्रयोग के समय किसी आज्ञा, नियम या विधान में कोई अड़चन या उत्कटता दिखाई दे, तो उसे दूर करके ठीक तरह से व्यवहार्य रूप देना **अनुशोधन** कहलाता है।

श्रम (Labour)

आयास (Exertion) **चेष्टा** (Attempt)
उद्यम (Striving) **परिश्रम**
उद्योग (Endeavour) **प्रयत्न** (Effort)

श्रम शब्द सं० श्रम् से बना है, जिसका अर्थ है—कोई काम इस प्रकार करते रहना कि उससे शरीर थक जाय। आज कल **श्रम** ऐसा शारीरिक काम कहलाता है, जो समाज की कुछ आवश्यकताएँ पूरी करनेवाली चीजें बनाने के लिए किया जाता है। ऐसे काम के लिए दो बातें आवश्यक हैं। एक तो यह कि वह शरीर को थकानेवाला हो; और दूसरे यह कि वह अनिवार्य रूप से अथवा विवश होकर करना पड़े। कल-कारखानों, खेत-खलिहानों, वास्तु-निर्माण आदि के काम **श्रम** के ही अन्तर्गत हैं; इसी लिए ऐसे काम करनेवाले मजदूरों का वर्ग श्रमिक कहलाता है। इसी श्रम में परि उपसर्ग लगने से **परिश्रम** बना है, जिसमें साधारणतः शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के काम आ जाते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि **परिश्रम** भी **श्रम** की तरह अनिवार्य ही हो अथवा किसी प्रकार की विवशता का सूचक हो। हाँ, इसमें **श्रम** अपेक्षया अधिक और व्यापक रूप में होता है। हम कहते हैं—यह पुस्तक बहुत **परिश्रम** से लिखी गई है; अथवा हमारे प्रधान मंत्री को आज-कल बहुत अधिक **परिश्रम** करना पड़ रहा है। अधिक कार्य आ जाने पर कार्यालय के कर्म्मचारियों को और विवाह आदि उत्सवों के समय घर के लोगों को प्रायः बहुत अधिक **परिश्रम** करना पड़ता है। इसमें शरीर की थकावट का भाव मुख्य है, और इसी लिए इसके बाद प्रायः विश्राम की आवश्यकता होती है। **आयास** सं० आयास् से बना है, जिसका अर्थ है—इतना या ऐसा काम करना जिससे शरीर थक जाय, इसी लिए इसमें शरीर की थकावट का भाव प्रधान है, भले ही वह थकावट **परिश्रम** या **श्रम** की अपेक्षा कम हो। यह **उद्योग** और **प्रयत्न** के वर्ग का शब्द है; और इसमें लगातार कुछ परिश्रम करते रहने का भाव मुख्य है। इसका प्रयोग किसी विशेष कार्य के प्रसंग में ही होता है। जैसे—इस विषय की छान-बीन में हमें विशेष **आयास**

करना पडा है। जो काम बिना कुछ भी परिश्रम किये और आप से आप हो जाय, उसके सम्बन्ध मे हम कहते हैं—यह काम अनायास हो गया; अर्थात् इसके लिए हमे किसी प्रकार का **आयास** (उद्योग या प्रयत्न) नहीं करना पडा। जब तक कार्य का प्रसग न हो, तब तक यों ही अथवा व्यक्ति के सम्बन्ध मे इसका प्रयोग नहीं होता। हम यह नहीं कह सकते—आज-कल हम **आयास** कर रहे हैं, या **आयास** मे लगे हैं। **उद्यम** का धात्वर्थ तो है—ऊपर ले जाना या ऊँचाई की ओर उठाना, पर इसका आशय है—ऐसा काम करना जिससे कोई अच्छा उद्देश्य सिद्ध हो या किसी इष्ट फल की प्राप्ति हो। **उद्यम** सदा किसी शुभ और महत्त्व के काम के लिए और विशुद्ध वैयक्तिक रूप से होता है। हमें जीविका-निर्वाह के लिए कुछ उद्यम करना पड़ता है, और जब हमारे पास कोई विशेष कार्य न हो, तब भी किसी **उद्यम** में लगे रहना अच्छा माना जाता है। जो सदा मन लगाकर कुछ न कुछ करता रहता हो, पूरी शक्ति से किसी न किसी कार्य या व्यापार मे लगा रहता हो, उसे हम **उद्यमी** कहते हैं। **उद्योग** सं० उद्युज् से बना है, जिसका अर्थ है—किसी काम या बात मे जुट या लग जाना। यह सदा किसी विशेष कार्य के लिए या किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए होता है। इसमें परिश्रम आदि का कोई भाव या विचार नहीं है, केवल कार्य की सिद्धि का भाव मुख्य है। यह भी प्राय अच्छे और कर्त्तव्य कर्म्मों के लिए होता है। यह किसी विशेष कार्य की सिद्धि के विचार से, वैयक्तिक अथवा सामूहिक रूप से की जानेवाली किसी विशिष्ट क्रिया-शृंखला या कार्यावली का सूचक है। यदि हमारा कोई मित्र किसी मुकदमे मे फँस जाय तो हम यथा-साध्य उसे बचाने का **उद्योग** करते हैं। आशय यही होता है कि हम उसके लिए निरन्तर अनेक प्रकार के उपाय और प्रयत्न करते रहते हैं। **चेष्टा** का प्राथमिक अर्थ है—कोई काम करने के लिए हाथ-पैर हिलाना; इसी लिए इसमें शारीरिक दृष्टि से कुछ करने का भाव मुख्य है। कोई काम पूरा करने के लिए उसमे मन लगाकर या दृढतापूर्वक लगे रहने का जितना भाव **उद्योग** में है, उतना **चेष्टा** मे नहीं है। **उद्योग** की अपेक्षा **चेष्टा** इसलिए कुछ हलके दरजे की चीज है कि **उद्योग** मे कार्य सिद्धि जितनी अधिक अभीष्ट होती है, उतनी **चेष्टा** मे नहीं होती। **चेष्टा** अपनी शक्ति के अनुसार थोड़ा बहुत

उद्योग या प्रयत्न करने की ही सूचक है। **प्रयत्न** स० प्रयत् से बना है, जिसका अर्थ है—कोई कार्य सिद्ध करने के लिए क्रियाशील होना। अर्थ और क्षेत्र दोनो के विचार से यह अपने वर्ग मे सबसे अधिक व्यापक शब्द है, और **उद्योग** तथा **चेष्टा** इसके वर्गी शब्द हैं। **प्रयत्न** अच्छे और बुरे, छोटे और बडे सभी प्रकार के कामों के लिए होता है। चोरी-डाके या हत्या के भी **प्रयत्न** होते हैं और लोक-कल्याण तथा शान्ति स्थापना के भी। कोई उद्देश्य सिद्ध अथवा कार्य सफल करने के लिए आदि से अन्त तक जितनी चेष्टाएँ और उद्योग होते हैं, वे सब प्रयत्न मे आते हैं। इष्ट-सिद्धि के लिए शक्तियो का उपयोग ही **प्रयत्न** है।

संगत (Consistent)

आनुषंगिक (Incidental) **प्रासंगिक** (Relevant)
तात्त्विक (१ Material, २. Substantial) **फलिक** (Resultant)
साकूत (Significant)
परिणामिक (Consequential) **सारवान्** (Essential)

संगत स० सं + गम् से बना है, जिसका अर्थ है—साथ चलना। इस दृष्टि से **संगत** का शब्दार्थ है—साथ आया हुआ या आकर साथ मिला हुआ। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग (और हिन्दी मे प्रचलित अपने मुख्य अर्थ) मे यह ऐसी बात का वाचक विशेषण है, जिसका किसी दूसरी बात (अथवा उसके मुख्य अंगों) से ठीक मेल बैठता हो; किसी दृष्टि से कोई प्रतिकूलता या विरोध न होता हो। जब न्यायालय मे कोई विवाद या विचारणीय विषय उपस्थित होता है या मित्रों मे किसी गम्भीर विषय पर वाद-विवाद होता है, तब इस बात का ध्यान रखा जाता है कि जो कुछ कहा जाय, वह **संगत** हो। आशय यही होता है कि केवल ऐसी बातें सामने आवें जो प्रस्तुत या विचारणीय विषय से सम्बन्ध रखती हों (पृथक् या विरुद्ध न हों) और जिनसे उचित निष्कर्ष निकालने में सहायता

मिले। यदि विचारणीय विषय तो कला या साहित्य से सम्बन्ध रखता हो, पर कोई अपने प्रवास के अनुभवों या अपने घर के झगडों की चर्चा करने लगे, तो ऐसी चर्चा इस दृष्टि से अ-सगत मानी जायगी कि प्रस्तुत विषय से उसका कोई सम्बन्ध न होगा। प्रासंगिक भी प्राय सगत की तरह का ही शब्द है, फिर भी यह अर्थ तथा महत्त्व के विचार से अपेक्षया और आगे बढ़ा हुआ है। प्रासगिक का शब्दार्थ है—प्रसग या घनिष्ट सम्बन्ध से (या के कारण) उत्पन्न होनेवाला, पर यहाँ इसका अर्थ है—प्रसग से सम्बन्ध रखनेवाला। जो बात प्रस्तुत प्रसग से सम्बन्ध रखती हो, वही प्रासगिक है। सगत का तो आवश्यकतानुसार प्रस्तुत विषय से तर्क-सम्मत सम्बन्ध सिद्ध या स्थापित करना पड सकता है, पर प्रासगिक स्वत ऐसा होता हैं, जिसका प्रस्तुत प्रसग के साथ सीधा और स्पष्ट सम्बन्ध होता अथवा दिखाई देता है। प्रासगिक बात हमे ठीक निर्णय तक पहुँचने मे सहायता ही नही देती, बल्कि वह ठीक निर्णय भी करा सकती है। जब कोई बात सामने आती है, तब उससे प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी सभी बातें आप से आप प्रासगिक हो जाती हैं। पर वही बातें दूसरे प्रसगों में अप्रासंगिक होती हैं। आनुषंगिक स० अनुषंग से बना हुआ विशेषण है। अनुषग का अर्थ है—घनिष्ट सम्बन्ध या गहरा सग-साथ, और इस दृष्टि से आनुषगिक का अर्थ होता है—बहुत घनिष्ट या पास का सम्बन्ध रखनेवाला। आनुषगिक ऐसी घटना या बात का वाचक है, जो किसी दूसरी घटना या बात के साथ, किसी प्रकार के विशिष्ट सम्बन्ध के कारण, प्राय आवश्यक रूप से घटित हो। फिर भी पहली या मूल घटना अथवा बात की तुलना मे आनुषंगिक घटना या बात गौण ही रहती है। हम किसी मुख्य उद्देश्य या विचार से कोई काम करते हैं। उसका उद्दिष्ट फल तो होता ही है, उसके साथ आनुषंगिक रूप से किसी और फल की भी प्राप्ति हो सकती है। हम तीर्थ-यात्रा के उद्देश्य से पार्वत्य देशो मे जाते हैं, पर वहाँ आनुषगिक रूप से हम सुन्दर प्राकृतिक दृश्य भी देखते हैं और अपना स्वास्थ्य भी सुधारते हैं। हम अच्छी तरह हिसाब लगा लेते हैं कि अमुक काम मे हमारा १००) से अधिक व्यय न होगा, फिर भी बीच से और साथ लगे हुए कुछ ऐसे छोटे-मोटे काम निकल ही आते हैं, जिनके लिए हमे

दस पाँच रुपए अतिरिक्त व्यय करने पड़ते हैं। ऐसा व्यय भी **आनुषंगिक** कहलाता है। **आनुषंगिक** की मुख्य विशेषता यही होती है कि पहले से उसका ठीक-ठीक अनुमान या कल्पना नही की जा सकती, फिर भी वह बीच मे कहीं से आकर इस प्रकार मूल काम या बात से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है कि हम उसे किसी तरह अलग नहीं कर सकते। प्रस्तुत प्रसग मे, अर्थ के विचार से, **तात्त्विक** और **सारवान्** (मूलत स० सारवत्) एक वर्ग के विशेषण हैं। **तात्त्विक** का शब्दार्थ है—तत्त्व-सम्बन्धी या तत्त्व से युक्त; और **सारवान्** का अर्थ है—सार रखनेवाला या सार से युक्त। यों कुछ अशों मे तत्त्व भी बहुत-कुछ वही है, जो सार है; फिर भी दोनों मे अन्तर है। तत्त्व तो वह है जो मूलत किसी प्रकार की रचना मे काम आता है; और सार वह है जो किसी बात या वस्तु मे से उसके सभी मौलिक अशों मे से सक्षिप्त रूप मे निकाला गया हो या वर्त्तमान को। तत्त्व में रचना करनेवाला भाव प्रधान है; पर सार मे रचित वस्तु के सभी अशों के जाने या निकाले हुए आधारों या तत्त्वों का भाव मुख्य है। सार स्वयं उस तत्त्व का भी हो सकता है जिससे कोई चीज मुख्यत बनी हो, और साथ मे उन दूसरे पदार्थों या वस्तुओं का भी हो सकता है, जो आवश्यक रूप से उसका अग हो या उसमे मिली हों। **तात्त्विक** वह कहलाता है जो प्रस्तुत विषय या तत्त्व के साथ इतना घनिष्ट सम्बन्ध रखता हो कि उससे किसी प्रकार अलग किया ही न जा सके; और जिसके अलग होने या निकल जाने पर उस विषय या वस्तु का स्वरूप ही नष्ट या विकृत हो जाय। हम कहते हैं—इस विवाद से सम्बन्ध रखनेवाली कई **तात्त्विक** बातो पर अभी तक विचार ही नही हुआ है। आशय यही होता है कि अनेक ऐसी बाते छूट या रह गई हैं, जिनके बिना इस विवाद का ठीक-ठीक निर्णय हो ही नही सकता—उन बातो के सामने आने पर ही विवाद का ठीक रूप समझ में आ सकता है और हम ठीक निर्णय कर सकते हैं। **तात्त्विक** तो वस्तु या विषय का निर्मायक (या मूल) अश ही होता है; पर **सारवान्** का महत्त्व इसलिए अपेक्षया कुछ कम होता है कि वह तत्त्व के सिवा दूसरी बातो या विशेषताओ से भी युक्त होता है। **तात्त्विक** का सम्बन्ध तो केवल तत्त्व से होता है; पर **सारवान्** का वस्तु या विषय की सारी प्रकृति और स्वरूप से सम्बन्ध

होता है। तात्त्विक में एक ही बात हो सकती है; पर सारवान् मे कई या बहुत-सी विशेषताएँ हो सकती हैं। भले ही सारवान् का उतना महत्त्व न हो, जितना तात्त्विक का होता है; फिर भी सारवान् होता परम आवश्यक* ही है। अनेक अवसरो पर सारवान् का प्रयोग मूल आधार के अर्थ मे भी होता है। हम कहते हैं—मकान बनाने में पहले उसकी पक्की नींव रखना सारवान् कार्य है। आशय यही होता है कि पक्की नींव रखे बिना अच्छा और मजबूत मकान बन ही नही सकता। परिणामिक और फलिक एक वर्ग के शब्द हैं। परिणामिक का अर्थ है—परिणाम के रूप में होनेवाला; और फलिक का अर्थ है—फल के रूप मे होनेवाला। यद्यपि हिन्दी में परिणाम और फल प्राय समानक माने जाते हैं, पर वस्तुत दोनों मे बहुत अन्तर है। किसी बात और उसके परिणाम मे कार्य-कारण-वाला सम्बन्ध उतना तात्कालिक, प्रत्यक्ष और स्पष्ट नहीं होता, जितना किसी कार्य और उसके फल मे होता है। किसी कार्य और उसके परिणाम के बीच में और भी कई तरह की घटनाएँ या परिवर्त्तन, विकार आदि हो सकते और प्राय होते ही हैं, परन्तु कार्य और उसके फल के बीच मे ऐसी बातें प्राय नहीं होती। किसी दुष्कर्म का फल दण्ड के रूप मे मिल सकता है; पर उसके कारण चरित्र पर जो कलक लगेगा या समाज मे जो हेठी होगी, उसे हम दुष्कर्म का परिणाम ही कहेगे। फल प्राय जल्दी और परिणाम प्रायः देर मे होता है। विद्यार्थियों की परीक्षा का फल निकलता है, और उसके परिणाम-स्वरूप वे योग्य या अयोग्य सिद्ध होते हैं। इसी दृष्टि से जो बात परिणाम के रूप मे हो, वह परिणामिक कही जायगी, और जो फल के रूप मे हो, उसे फलिक कहेगे। साकून (स० स + आकूत) है तो हमारे यहाँ का बहुत पुराना शब्द; पर हिन्दी में अभी तक

---

* अँगरेजी के एसेन्शल (Essential) का दूसरा हिन्दी समानक 'परमावश्यक' भी है। अभी तक हमारे यहाँ एसेन्शल की जगह 'परम आवश्यक' सरीखे पदो से ही काम लिया जाता रहा है। परन्तु अनेक अवसरों पर एसेन्शल के लिए स्वतन्त्र शब्द की भी आवश्यकता होती या हो सकती है; इसी लिए सारवान् विशेषण स्थिर किया गया है।

इसका प्रचलन नही हुआ है। साकूत का मूल अर्थ है—जिसका कुछ अर्थ, आशय या उद्देश्य हो अथवा रहा हो। प्रस्तुत प्रसग मे साकूत वह कहा जायगा, जो बिलकुल व्यर्थ का, सार-हीन या थोथा न हो,बल्कि कुछ विशिष्ट उद्देश्यों,भावो, विचारो आदि से युक्त हो, अर्थात् जिसका कोई स्पष्ट आशय, उद्देश्य ता महत्त्व सहज में दिखाई देता हो, वही साकूत कहा जायगा। साकूत के लिए यह आवश्यक है कि वह आस-पास की बाते, स्थितियों आदि मे रहता हुआ भी अपनी कोई विशेषता या स्वतत्र अस्तित्व व्यक्त अथवा सूचित करता हो। इसका प्रयोग अधिकतर आकृति, इगित, आचार व्यवहार, स्वरूप आदि के प्रसग में होता है। हम कह सकते हैं—आज-कल उनके व्यवहार (बात-चीत या रग-ढग) मे कई साकूत परिवर्त्तन दिखाई देते हैं। आशय यही होगा कि वे परिवर्त्तन ऐसे हैं जो स्पष्ट रूप से देखने मे आते हैं और जिनमे महत्त्व की कोई बात या कई बाते गर्भित जान पडती हैं।

———

संतोष (Contentment)

तुष्टि, तोष (Gratification) परितोष (Satisfaction)

सन्तोष स० तोष मे स उपसर्ग लगने से और **परितोष** उसी तोष में परि उपसर्ग लगने से बना है। इस दृष्टि से इन शब्दो का, उत्कर्ष के विचार से भी और अर्थ या आशय के विचार से भी, इस प्रकार क्रम स्थिर होता है—**तोष, परितोष** और **सन्तोष**। **तोष** स० तुष् धातु से बना है जिसके अर्थ हैं—शान्त या स्थिर होना, किसी से प्रसन्न होना, आदि। मन की कोई अभिलाषा या शारीरिक आवश्यकता पूरी होने पर हमे जो समाधान या सुख होता है, वही **तोष** है। इस प्रकार की कोई साधारण-सी बात होने पर भी हमे **तोष** हो सकता

है—हम तुष्ट हो सकते हैं* । इसमे किसी एकाध चिन्ता से मुक्ति या आवश्यकता की पूर्त्ति का भाव मुख्य रहता है, और मन को होनेवाली प्रसन्नता या सुख का भाव गौण होता है। परितोष इससे कुछ और आगे बढा हुआ होता है। एक तो वह सभी अथवा अनेक प्रकार की आवश्यकताएँ और इच्छाएँ पूरी होने पर होता है, दूसरे, इससे होनेवाली प्रसन्नता, समाधान या सुख कुछ अधिक मात्रा में गम्भीर और अधिक समय तक ठहनेवाला होता है। यह तोष का अधिक विकसित और विशद रूप है। हमारे बाल-बच्चे आज्ञाकारी और सुयोग्य बनकर तथा नौकर चाकर हमारी सेवाएँ करके हमे परितुष्ट करते हैं। ऐसे दुष्टों को उचित दण्ड मिलने पर भी हमें परितोष होता है जिनके दुर्व्यवहारों से हम अथवा और लोग पीडित होते हैं। मतलब यह कि हमारी शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक आवश्यकताओं तथा इच्छाओ की पूर्त्ति ही हमे परितुष्ट करती है। अपने मूल और पहले अर्थ मे सन्तोष इन दोनो से बहुत आगे बढा हुआ है। सन्तोष मे आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्त्ति का भाव प्राय नहीं के समान है, और प्रसन्नता, समाधान तथा सुख की मात्रा उसमें भर-पूर है। सतोष परम सुख वाली प्रसिद्ध उक्ति इसी तत्व की सूचक है। यह मुख्यत. उस मनोवृति का सूचक है जिसमे कोई विशेष कामना या लोभ नहीं होता, और जो कुछ अपने पास होता या सहज मे मिल जाता है, उसी से मनुष्य निश्चिन्त और प्रसन्न रहता है। वस्तुत यही सन्तोष है। पर इधर कुछ दिनो से यह हिन्दी मे भ्रम से अधिकतर उसी अर्थ मे चलने लगा है, जो ऊपर तोष तथा परितोष का बतलाया गया है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि सन्तोष का प्रयोग तोष

---

* इसी आधार पर अँगरेजी में इल्लीगल ग्रैटिफिकेशन (Illegal gratigication) पद बना है जो घूस या रिश्वत का वाचक है। दफ्तर के चपरासी दो-चार आने घूस पाकर (अविधिक रूप से साधारण प्राप्ति होने पर) भी तुष्ट हो जाते है, और बड़े अधिकारियो का तोष सैकडों-हजारो रुपयों से होता है। पर यह किसी एक आवश्यकता या इच्छा की ही पूर्ति है। हिन्दी में हम इसे अवैध तोष कहेगे।

या परितोष के स्थान पर नहीं होना चाहिए; तो भी आर्थी विश्लेषण के विचार से दूसरा अर्थ गौण ही माना जायगा। इसके सिवा सन्तोष का प्रयोग हिन्दी में एक तीसरे प्रकार का आशय या भाव सूचित करने के लिए भी होता है। किसी दुष्ट से त्रस्त और पीड़ित होने पर हम प्राय कहते हैं—हम तो सन्तोष करके बैठ गये हैं, उसके दुष्कर्मों का दड उसे भगवान देगा। ऐसे अवसरों पर भी सन्तोष में बहुत कुछ छाया उसके पहले और मूल अर्थ की ही होती है, पर उसमें कुछ खिन्नता और विवशता का अश भी मिला रहता है।

संशय (Doubt)

अनिश्चय (Uncertainty)
असमंजस (Hesitation)
दुबधा=असमंजस
धोखा=भ्रान्ति
भ्रम (Mistake आंशिक रूप में)
भ्रांति (Confusion)
मति भ्रम (Hallucination)
मरीचिका (Mirage)
मृग-तृष्णा = मरीचिका
विभ्रम (Delusion)
शंका (Question)
शक=१. सन्देह, २. सशय
सन्देह (Suspicion)

इस वर्ग के शब्द ऐसी मानसिक स्थितियो के सूचक हैं जिनमे मनुष्य के लिए यह निर्णय करना या समझना कठिन होता है कि हमारे सामने जो है या हुआ है, वह क्या है और क्या नहीं है, अथवा क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए। अनिश्चय और संशय प्राय एक ही वर्ग में आते हैं। अनिश्चय तो निश्चय का न होना भर है, जो सदा किसी अज्ञात या अनिर्णीत बात के सम्बन्ध में होता है। जहाँ ठीक तरह से हमारी समझ मे यह नहीं आता कि यह वस्तुत क्या है अथवा क्या नहीं है—जहाँ हम कुछ निश्चय नहीं

कर पाते—वहीं **अ-निश्चय** का प्रयोग होता है। इसमें उपयुक्तता, वास्तविकता, सत्यता आदि के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का निश्चय या विश्वास न होने का भाव मुख्य है। इसमे अनुमान, कल्पना आदि के लिए स्थान तो हो सकता है, पर इन बातो के लिए हममें कोई उत्कठा या जिज्ञासा नहीं होती, हमारी वृत्ति उदासीन-सी रहती है। पर **संशय** मे ये सब बाते होने के सिवा कुछ उत्कठा या जिज्ञासा भी लगी रहती है। हम किसी विषय मे अध्ययन, खोज, छान-बीन आदि करते रहते हैं; फिर भी तथ्य या वास्तविकता तक नहीं पहुँच पाते। यहाँ तक **अनिश्चय** और **सशय** दोनों एक हैं। पर **संशय** की अवस्था इससे आगे बढकर यह भी सूचित करती है कि हमारे मन मे जिज्ञासा अभी तक बनी है, और हम उसका शमन करना चाहते हैं। **अनिश्चय** तो प्रायः सभी साधारण अवस्थाओं मे होता या हो सकता है, परन्तु **सशय** बहुधा ऐसी बातों के सम्बन्ध मे होता है, जिन पर पहले कुछ निश्चय या विचार हो चुका हो, फिर भी जिस निश्चय या विचार से हमारा सन्तोप या समाधान न होता हो; अथवा जिनके सम्बन्ध मे हम निश्चय करने में असमर्थ या विफल रहे हों। 'सशयात्मा विनश्यति' मे **संशय** का भाव यही है कि मनुष्य प्रयत्न करने पर भी निश्चय तक नहीं पहुँचा है, पर उसे अपना **संशय** दूर करके सिद्धान्त निश्चित या स्थिर करना चाहिए। **सन्देह** भी है तो बहुत कुछ यही, और इसी लिए लोग प्राय एक की जगह दूसरे का प्रयोग कर जाते हैं। फिर भी **सन्देह** का गूढ भाव कुछ और ही है। हमारे सामने कोई चीज या बात आती है; पर कभी कभी हम यह समझते हैं कि हो सकता है कि यह असल, वास्तविक या सच्ची न हो। वास्तिविकता, सत्यता आदि के सम्बन्ध की अ-निश्चत भावना ही वस्तुत **सन्देह** है। इसके सिवा ऐसी अवस्था मे भी **सन्देह** का तत्त्व आ जाता है, जब हम समझते हैं कि अमुक बात या व्यक्ति ने सम्भवत कोई अनिष्ट या अपकार किया है अथवा उसके द्वारा कोई अनुचित या हानिकारक काम या बात हो सकती है। पुलिस को किसी व्यक्ति पर **सन्देह** हो सकता है कि यह कहीं से चोरी करके या डाका डालकर भाग आया है; अथवा चिकित्सक को यह **सन्देह** हो सकता है कि हमारी कलवाली दवा ने या रोगी के किसी कुपथ्य ने आज रोग बढा दिया है। यदि वस्तुत दोनों बातें हुई तो हों, फिर भी

चिकित्सक रोग बढने का कोई कारण स्थिर न कर सके, तो इसे **अनिश्चय** कहेंगे। पर यदि दोनो मे से कोई बात न हुई हो या किसी बात के होने का ठीक पता न चलता हो अथवा अपनी दवा पर तो उसे विश्वास हो, परन्तु रोगी के सयम तथा पथ्यपूर्वक रहने का उसे निश्चय न हो, तो वह कहेगा—मुझे **सन्देह** है कि रोगी ने कल कोई ऐसी-वैसी चीज खाई होगी। अर्थात् जहाँ कोई ठीक आधार या कारण नही मिलता, पर कुछ सम्भावना-सी जान पडती है, वहीं **सन्देह** के लिए अवकाश होता है। इसका फारसी समानक शक है जो हिन्दी मे बहुत प्रचलित है, पर जिसका प्रयोग **सन्देह** के सिवा **सशय** के लिए भी होता है। यों **शका** का प्रयोग कही **सन्देह** की जगह और कहीं **संशय** की जगह होता तो है; फिर भी **शका** मे इन दोनों से कुछ भिन्न और एक विशिष्ट तत्व है। जब कोई बात निर्णीत या निश्चित रूप मे हमारे सामने आती है और उस निर्णय या निश्चय के सम्बन्ध मे हमारे मन मे कोई आपत्ति, तर्क या जिज्ञासा होती है, तब उसे **शंका** कहते हैं। गीता के किसी श्लोक या रामायण की किसी चौपाई की टीका देखकर उसमे प्रतिपादित अर्थ, मत या सिद्धान्त के सम्बन्ध मे हमारे मन मे **शंका** हो सकती है। आशय यही होता है कि वह अर्थ या मत किसी कारण से हमे ठीक नही जान पडता, और हम समझते हैं कि यहाँ जो कुछ कहा या बतलाया गया है, उसके सिवा कोई और बात ठीक हो सकती है या होनी चाहिए। **धोखा** * या **भ्रम** किसी चीज को कुछ का कुछ समझ लेना है। यह या तो दृष्टि-दोष के कारण होता है या धारणा अथवा विचार के दोष से। यह पहचानने या समझने में होनेवाली भूल है। यदि अँधेरे में कहीं मोटी रस्सी पडी हो तो हमे साँप का **धोखा** या **भ्रम** हो सकता है। आकृति, चाल-ढाल आदि की समानता के कारण किसी अजनबी को देखकर हमे

* एक और प्रसग मे 'धोखा' का अर्थ छल (Deception) भी होता है। वहाँ उसका आशय होता है—अपना कोई काम या मतलब निकालने के लिए ऐसा उपाय करना जिसमें लोग यथार्थ को अयथार्थ अथवा अयथार्थ को यथार्थ समझ लें। इस अर्थ में भ्रम का प्रयोग नही होता।

अपने किसी मित्र का **धोखा** हो सकता है। **भ्रान्ति** का मौलिक अर्थ भी वही घूमना या चक्कर खाना है, जो **भ्रम** का है; और इसी लिए कुछ अंशों मे यह **भ्रम** का समानक ही है। पर इसमे एक अतिरिक्त भाव भी है। जब कोई ऐसा **भ्रम** होता है जो हमें चक्कर या सोच-विचार में डाल देता या उद्विग्न कर देता है, तब ऐसी स्थिति भी **भ्रान्ति** कहलाती है। **मति भ्रम** और **विभ्रम** प्राय एक वर्ग के शब्द हैं और **भ्रम** के प्रकार या भेद मात्र हैं। **मति-भ्रम** का शब्दार्थ ही है—मति (मात्र) के कारण होनेवाला भ्रम, और इसलिए इसका आशय होता है—अ-वास्तविक भ्रम। कभी कभी मानसिक अथवा स्नायविक दुर्बलता के कारण या किसी अज्ञान दैवी अथवा प्राकृतिक सयोग के कारण हमे कुछ ऐसी घटनाओ या दृश्यों का भान होता है जिनका कोई वास्तविक अस्तित्व नही होता। ऐसी घटनाएँ या दृश्य कभी-कभी हमारी कल्पना से भी प्रसूत होते या हो सकते हैं। अँधेरे मे सोकर उठने पर हमे कहीं कोने मे खड़े हुए चोर या भूत का भान हो सकता है। चोर या भूत के न होने पर भी उसका दिखाई पडना **मति-भ्रम** है **विभ्रम** ऐसा भ्रम है जो हमे यह नही समझने देता कि जो बात वस्तुत है, वही ठीक है, या उसका जो रूप हमे ऊपर से दिखाई दे रहा है, वही ठीक है। **विभ्रम** हमारी मानसिक दुर्बलता या विकलता का भी परिणाम हो सकता है और हमारी भावुकता, श्रद्धालुता या स्वाभाविक सरलता का भी। यह हमारे मन मे आप से आप भी उत्पन्न हो सकता है और दूसरों के द्वारा उत्पन्न किया हुआ भी। यदि कोई व्यक्ति सडक पर मोटर के धक्के से गिरकर बेहोश हो जाय, तो अस्पताल मे पहुँचकर होश आने पर उसे **विभ्रम** हो सकता है कि मै अभी तक सडक पर ही गिरा हुआ धूल मे पडा लोट रहा हूँ। आर्थिक और नैतिक दृष्टि से तो हमारे समाज का घोर पतन होता जा रहा हो और नये नये उद्योग धन्धे और ऊपरी ठाट-बाट देखकर हम यही समझते रहे कि हमारा देश बहुत उन्नति कर रहा है, तो यह भी हमारा **विभ्रम** ही होगा। **मरीचिका** (या **मृग-तृष्णा**) भी प्राय इसी वर्ग का शब्द है, जो एक भ्रामक प्राकृतिक घटना के आधार पर बना है। प्राय गरमी के दिनों और बहुत तेज धूप मे वातावरण की विशिष्ट स्थितियों के कारण कभी कभी बहुत दूरी पर कुछ उलटी प्रतिकृतियाँ दिखाई देती हैं, जो यात्रियों तथा पशु-पक्षियों के मन

मे जलाशय, बस्ती, हरियाली आदि का भ्रम उत्पन्न करती हैं। प्राय मैदानों मे बहुत दूरी पर इसी प्रकार का भ्रामक जलाशय दिखाई पडने पर पानी मिलने की आशा से मृग या पशु कोसों दौडते चले जाते हैं। पर ज्यों ज्यों वे आगे बढते हैं, त्यो-त्यों जलाशयवाला वह मिथ्या दृश्य और भी दूर होता जाता है; और अन्त मे वे थककर और हताश होकर बैठ जाते हैं। इसी को **मृग-तृष्णा, मृग-मरीचिका** या खाली **मरीचिका** कहते हैं। लाक्षणिक रूप मे **मरीचिका** का प्रयोग ऐसी स्थिति के सम्बन्ध मे होता है जिसमे मनुष्य झूठी और मन गढन्त आशा अथवा कल्पना के आधार पर किसी क्षेत्र मे आगे बढता चलता है और यह नहीं समझता कि मेरी आशा या कल्पना मिथ्या है—मेरा अभीष्ट सिद्ध नहीं होगा। **असमंजस** (स० अ-सामंजस्य) या **दुबधा** (सं० द्विधा) उस स्थिति का वाचक है जिसमें कोई विकट प्रसग सामने आने पर हम कुछ निश्चय नहीं कर पाते, और यह सोचने के लिए कुछ ठहर या रुक जाते हैं कि अब हमें क्या करना (अथवा कहना) चाहिए और क्या नहीं करना (अथवा कहना) चाहिए। यह **अ-निश्चय** का ऐसा रूप है जिसमे हमे कुछ सोच-समझकर आगे बढने या अपना कर्त्तव्य स्थिर करने की आवश्यकता होती है। हम कहते हैं—आपने जो नई समस्या खडी कर दी है, उसने हमे **असमजस** मे डाल दिया है। आशय यही होता है कि हमारे लिए यह निश्चय करना कठिन हो रहा है कि इस अवस्था मे हमे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए।

संस्था (Institution)

अकादमी (Academy) **संघ** (Union)
ज्ञानालय (Institute) **समवाय** (Guild)
निगम (Corporation) **सहचार** (Association)
निकाय (Assembly)

संस्था स० स्था मे सं उपसर्ग लगने से बना है। **संस्था** का मूल अर्थ है—एक साथ मिलकर खड़े या स्थित होना, और प्रचलित अर्थ है—किसी स्थिति मे होना या वर्त्तमान रहना। प्रस्तुत प्रसग मे सस्था मुख्य रूप से किसी ऐसे सामाजिक या सार्वजनिक सघटित दल, वर्ग या समाज की सूचक है जो कुछ निश्चित नियमों या विधानों के अनुसार किसी आधिकारिक रूप से बना हो। जैसा कि इस शब्द से ही सूचित है, ऐसा सघटन प्राय स्थायी रहने के उद्देश्य से बनाया जाता है। सब प्रकार की सभाएँ, महासभाएँ, सम्मेलन आदि तो **संस्था** के अन्तर्गत आते ही हैं; पुस्तकालयों आदि तक का इसमे अन्तर्भाव होता है। यहाँ तक कि सघटित रूप से व्यापारिक, लोकोपकारक आदि काम करनेवाले दलों या वर्गों के चलाये हुए काम भी **संस्था** कहलाते हैं। बक भी सस्था है और अनाथालय भी। इससे भी अधिक विस्तृत क्षेत्र मे (ॲंगरेजी शब्द इन्स्टिट्यूशन के आधार पर और आशय के अनुसार) अनेक प्रकार की प्रथाएँ, विधान और सस्कार भी **संस्था** कहलाते हैं। जैसे—ब्रह्मचर्य आश्रम या विवाह की प्रथा भी (व्यापक अर्थ में) **संस्था** ही है। **अकादमी** ॲंगरेजी एकेडमी का हिन्दी विकृत रूप है। एकेडमी मूलत यूनान देश के एथेन्स नगर के पासवाले उस उपवन या वाटिका का नाम था, जहाँ सुप्रसिद्ध विद्वान् और दार्शनिक प्लेटो (या अफलातून) अपने अनुयायियों और शिष्यों के साथ बैठकर दार्शनिक विषयों का विवेचन करता था और लोगों को शिक्षा तथा सदुपदेश देता था। प्लेटो के बाद भी कुछ दिनों तक विद्वान् लोग उस स्थान पर एकत्र होकर अनेक प्रकार की शास्त्रीय विवेचनाएँ करते थे, अत आगे चलकर यह शब्द विद्यालय,

विश्वविद्यालय आदि का भी वाचक हो गया था। आज-कल कुछ विशिष्ट प्रकार की शिक्षा देनेवाले विद्यालय या शिक्षा का प्रचार करनेवाली सस्थाएँ **अकादमी** कहलाती हैं। जैसे—सैनिक **अकादमी**, हिन्दोस्तानी **अकादमी** आदि। पर यह शब्द मुख्यत विद्वानों की ऐसी सघटित सस्था का वाचक है, जो किसी कला, विज्ञान, शास्त्र आदि के उन्नयन, प्रचार और विकास के लिए बनती और प्रयत्न करती हैं। **ज्ञानालय** (स० ज्ञान + आलय) का शब्दार्थ ही है—वह स्थान जहाँ ज्ञान सम्बन्धी चर्चा या विवेचन हो, जहाँ से ज्ञान प्राप्त हो सकता हो, अथवा उसका प्रचार और विस्तार होता हो। प्रयोग की दृष्टि से यह भी बहुत कुछ वही है, जो **अकादमी** है। **सहचार** का शब्दार्थ है—साथ मिलकर चलना या रहना। पर प्रस्तुत प्रसग मे यह ऐसी सस्था का वाचक है, जिसमे एक एक ही प्रकार के उद्देश्य, मत, विचार आदि रखनेवाले लोग सदस्य के रूप मे सम्मिलित होकर, सेवा के भाव से, कोई काम चलाते हैं। कभी-कभी कुछ लोग व्यापारिक दृष्टि से अथवा आपस मे एक दूसरे के हित साधन के विचार से भी इस प्रकार के **सहचार** स्थापित कर लेते हैं। लाक्षणिक क्षेत्र मे, हमारे और आपके मतो या विचारो का भी **सहचार** हो सकता है। आशय यही होता है कि या तो (क) हमारे मत या विचार भी वैसे ही हैं, जैसे आप के हैं, अथवा (ख) वे हमारे और आपके मन मे साथ-साथ ही और एक ही रूप मे उत्पन्न हुए हैं। **निगम**, **निकाय**, **संघ** और **समवाय** बहुत कुछ एक ही प्रकार की सस्थाओ के वाचक शब्द हैं; फिर भी इनमे परस्पर कुछ अन्तर हैं। **निगम** हमारे यहाँ का वैदिक-कालीन शब्द है, जिसके पुराने अर्थ हैं—शब्द, पद, शब्दों का मूल या निरुक्ति आदि। आगे चलकर वे ग्रन्थ **निगम** कहलाने लगे थे, जिनमे वैदिक मतों का निरूपण, प्रतिपादन और स्पष्टीकरण होता था। बौद्ध-काल मे **निगम** प्राय नगर का समानक बन गया था, और मुख्य रूप से उस सस्था या जन-समाज का वाचक हो गया था, जो नगर की व्यवस्था और हितों की रक्षा करता था। आज-कल, विधिक क्षेत्र मे, **निगम** राजकीय आज्ञा या विधान से बनी हुई वह सस्था कहलाती है जो स्थायित्व के उद्देश्य और विचार से स्वतत्र शरीर या शरीर-धारी के रूप मे मानी जाती हो और जो एक व्यक्ति या व्यष्टि के रूप मे

सब काम कर सकने के अधिकार रखती हो। आज-कल कुछ विशिष्ट बडे-बड़े नगरों में नगर-पालिका की तरह की जो बड़ी प्रतिनिधिक संस्था होती है, वह भी **निगम** कहलाती है। पर इसके कार्य और अधिकार अपेक्षया अधिक और विस्तृत होते हैं। **निकाय** भी एक प्रकार का सहचार ही है। किसी समय बौद्ध भिक्षुओं का एक विशिष्ट सहचार ही **निकाय** कहलाता था। इसका शब्दार्थ है—ऐसा जन-समाज जो एक शरीर के रूप मे रहकर काम करता हो; और इस दृष्टि से यह यह भी बहुत कुछ **निगम** के समान ही है। पर इसमे मुख्य भाव कुछ लोगों के एक साथ मिलकर कुछ कार्य और विचार करने का है। **संघ** का शब्दार्थ है—लोगो का दृढतापूर्वक साथ मिलकर एक होना। प्राचीन भारत मे धार्मिक, राजनीतिक, व्यापारिक आदि उद्देश्यों से बहुत से लोगों की जो बड़ी संस्था बनती थी, वह **संघ** कहलाती थी। साधारणत जब कई संस्थाएँ या राजनीतिक शक्तियाँ अथवा राष्ट्र मिलकर किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए कोई स्वतंत्र और बड़ी संस्था बनाते हैं, तब वह बडी संस्था **संघ** कहलाती है। इसमे सदस्य संस्थाओं या राष्ट्रों का अपना अलग-अलग अस्तित्व और कार्य-क्षेत्र तो बना ही रहता है, परन्तु कुछ बातों मे या तो वे **संघ** के अधीन होते हैं या उनके निर्णयो, निश्चयो आदि का ठीक तरह से पालन करते हैं। इस समय संसार के प्राय सभी बडे बड़े राष्ट्रों ने मिलकर अपना प्रसिद्ध राष्ट्र संघ स्थापित कर रखा है, जिसकी चर्चा समाचारपत्रो मे प्राय रहा करती है। **समवाय** का शब्दार्थ है—कुछ लोगो का किसी जगह इकट्ठा होना या आकर मिलना। निरन्तर बना रहनेवाला आपस का घनिष्ठ सम्बन्ध भी **समवाय** कहलाता है। जैसे—कपडे और उसके सूतों का अथवा घडे और उसकी मिट्टी का **समवाय** सम्बन्ध होता है; अर्थात् ऐसा सम्बन्ध होता है जो किसी प्रकार तोडा नही जा सकता। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग मे **समवाय** मुख्य रूप से व्यवसायियों, व्यापारियों आदि की उस संस्था का वाचक हो गया है, जो वे अपने व्यवसाय या व्यापार के हितो की रक्षा और वृद्धि के उद्देश्य से बनाते हैं। इसका स्वरूप मुख्यत व्यावसायिक और स्वार्थ-रक्षक या स्वार्थ-साधक ही होता है।

सभा

अधिवेशन (Session)
धर्म-सभा (Synod)
परिषद् (Council)
बैठक (Sitting)
महासभा (Congress)
संगायन (Synod बौद्धों का)
समागम (Convention)
समावर्त्तन (Convocation)
समिति (Committee)
समुदाय (१. Assenblage, २. Gathering)
सम्मेलन (Conference)

सभा शब्द की ठीक व्युत्पत्ति अभी तक निश्चित नहीं हुई है; पर इसका शब्दार्थ इस प्रकार कहा गया है—वह समाज या समूह जिसमे सब लोग साथ मिलकर प्रकाशमान् हों*। प्राचीन काल में जब दस बीस भले आदमी किसी जगह अच्छे उद्देश्य से इकट्ठे होते थे, तब उन लोगों का वह समाज या समूह सभा कहलाता था; और उसका काम चलाने के लिए जो प्रधान अधिकारी चुना जाता था, वह सभापति कहलाता था। इसी से सभ्य (विशेषण) शब्द बना है, जिसका अर्थ है—सभा मे अथवा भले आदमियों के साथ उठने बैठनेवाला, अर्थात् भला आदमी। आगे चलकर वह स्थान भी **सभा** कहलाने लगा था, जहाँ इस प्रकार के लोग इकट्ठे होते थे। वैदिक काल मे न्याय करनेवालों की संस्था या राष्ट्रीय न्यायालय को ही **सभा** कहते थे। पर उन दिनों इसका स्वरूप सार्वजनिक होता था, राजकीय नहीं। आज-कल **सभा** शब्द अपने उसी आरम्भिक और पुराने अर्थ मे चलता है। जब किसी अच्छे काम के लिए आपस मे बात चीत और परामर्श करने के उद्देश्य से थोडे या बहुत-से लोग इकट्ठे होते हैं, तब ऐसा समूह **सभा** कहलाता है। इसी लिए हम कहते हैं—आज सध्या को अमुक स्थान पर दूकानदारों (हड़तालियों, हिन्दी-प्रेमियों आदि) की **सभा** होगी। यह तो केवल इसका अ-स्थायी और सामयिक रूप है; पर जब ऐसे लोग संघटित होकर

* पारस्कर गृह्य सूत्र, ३ १३. १.

अपनी कोई स्थायी संस्था बना लेते हैं, तब उसे भी सभा ही कहते हैं। जैसे—नागरी-प्रचारिणी सभा, सनातन धर्म सभा आदि। परिषद् और समिति भी इसी वर्ग की संस्थाएँ हैं, जो हमारे यहाँ वैदिक युग से चली आ रही हैं। समिति का शब्दार्थ है—सबका एक जगह मिलना या एकत्र होना। वैदिक काल की सभा से समिति कई बातों मे भिन्न होती थी। समिति एक तो निर्वाचित और राजकीय सस्था होती थी; दूसरे, इसमे राज्य या शासन की व्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाली बातों पर विचार होता था। राजा का चुनाव भी समिति ही करती थी, और वही उसे निकाल या हटा भी सकती थी। पर आज-कल समिति का अर्थ होता है—किसी विशिष्ट कार्य, व्यवस्था आदि के लिए थोड़े-से आदमियो की निर्वाचित और नियुक्त छोटी सभा; और इसका निर्वाचन कोई बड़ी सभा (या संस्था) करती है*। वैदिक काल की समिति ही आगे चलकर, सम्भवतः बौद्ध काल मे, परिषद् कहलाने लगी थी। इसी को पहले पर्षत् या परिषत् भी कहते थे, जिसका शब्दार्थ है—बहुत बडा अधिवेशन। आज-कल परिषद् वह सभा या समिति कहलाती है, जो मुख्य रूप से किसी विशिष्ट विषय या अनेक विषयों के सम्बन्ध मे निर्णय, परामर्श और विचार करने के लिए चुनी या बनाई जाती है। कभी-कभी कुछ लोग स्वय भी मिलकर उक्त उद्देश्यों से ऐसी स्थायी सस्था स्थापित कर लेते हैं। जैसे—वगीय साहित्य परिषद्, सगीत परिषद् आदि। इस प्रकार की जो छोटी और प्राय अस्थायी सस्था बनती या बनाई जाती है, वह समिति कहलाती है। इसका कार्य-क्षेत्र भी प्राय सीमित और कार्य-काल भी प्राय परिमित होता है। महासभा और सम्मेलन एक वर्ग की सस्थाएँ हैं। जब भिन्न-भिन्न और छोटी स्थानिक शाखा-सस्थाओं के प्रतिनिधि बराबर नियमित समय पर (प्राय प्रति वर्ष) किसी स्थान पर अनेक विषयों पर विचार-विमर्श और निर्णय करने के लिए एकत्र होते हैं, तब वे या उनका समुदाय, अपेक्षया कुछ छोटा

* जब कोई बड़ी समिति अपने किसी कार्य-विभाग के लिए इसी प्रकार की कोई और छोटी समिति नियुक्त करती है, तब वह छोटी समिति व्यवहारतः उप-समिति (सब-कमेटी) कहलाती है।

होने पर **सम्मेलन** और बहुत बड़ा होने पर **महासभा** कहलाता है। इनका गौरव और महत्त्व इनके प्रतिनिधिक स्वरूप के कारण होता है। इनके निर्णय बहुत विस्तृत क्षेत्र मे मान्य होते हैं, और लोगों के विचारों पर विशेष रूप से प्रभाव डालते हैं। इनका प्रबन्ध और व्यवस्था करने तथा इनके निर्णय आदि कार्यान्वित करने के लिए जो स्थायी सस्थाएँ होती हैं, वे भी इन्हीं नामों से अभिहित होती हैं। जैसे—हिन्दी-साहित्य **सम्मेलन**, हिन्दू **महासभा** आदि। **धर्म सभा** भी है तो इसी प्रकार की सभा, परन्तु यह विशिष्ट रूप से धार्मिक विषयों पर ही विचार करनेवाली सस्था है। इसका उद्देश्य मुख्यतः धार्मिक बातों पर विचार करके उनके सम्बन्ध मे कुछ निश्चित मत और सिद्धान्त स्थिर करना होता है। इसमे धर्म-गुरु, धार्मिक नेता, पुरोहित आदि वर्गों के लोग ही सम्मिलित होते हैं। प्राचीन काल मे भारत मे भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से बौद्धों की ऐसी कई **धर्म-सभाएँ** हो चुकी हैं, और आज-कल भी रगून में एक ऐसी सभा हो रही है, जो अगले वर्ष तक चलती रहेगी। ऐसी सभाओं मे बौद्ध भिक्षु प्राय साथ मिलकर महात्मा बुद्ध के उपदेशों और धार्मिक ग्रन्थो का अध्ययन और पाठ प्राय गाकर कहते थे, इसी लिए इन्हें **संगायन** कहते हैं। युरोप मे ईसाइयों की इस प्रकार की जो कई बहुत बडी-बड़ी **धर्म-सभाएँ** हो चुकी हैं, वे 'सिनॉड' कहलाती हैं। **समागम** का साधारण अर्थ है—बहुत-से लोगों का दूर-दूर से आकर एक स्थान पर एकत्र होना और आपस मे सम्पर्क स्थापित करना या बढाना। जैसे—कुम्भ के अवसर पर प्रयाग, हरद्वार आदि तीर्थों में साधु-सन्तों का अच्छा **समागम** होता है। पर आज-कल **समागम** भिन्न-भिन्न दलों, राष्ट्रों, समाजों, सम्प्रदायों आदि के प्रतिनिधियों का वह सम्मेलन कहलाता है, जो प्राय ऐसे आवश्यक और महत्त्व के विषयों पर विचार करता है, जिनका सम्बन्ध उन सब लोगों से समान रूप से होता है। धार्मिक विषयों पर विचार करने के लिए थियासोफिस्टों का और रेल, डाक, तार, श्रमिक वर्ग का उद्धार, युद्ध-सचालन के नियम आदि विषयों पर विचार करने के लिए ससार के बडे-बडे राष्ट्रो के **समागम*** होते हैं। **समावर्त्तन** हमारे यहाँ का पुराना शब्द है और

*अँगरेजी में ऐसे समागम भी कन्वेन्शन कहलाते हैं और उनके वे

इसका शब्दार्थ है—लौटकर घर आना। प्राचीन भारत मे बालक शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुरुकुलों मे जाकर रहते थे, और नियत समय तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए पूरी शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त जब वे घर लौटने लगते थे, तब इसलिए उनका एक विशिष्ट धार्मिक सस्कार होता था कि वे ब्रह्मचर्य आश्रम के कर्त्तव्य पूरे करके गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होने के योग्य हो जाते थे। उनका यही विशिष्ट सस्कार **समावर्त्तन** कहलाता था, जिसका औपचारिक रूप से अब तक द्विजों मे यज्ञोपवीत सस्कार के समय पालन होता है। आज-कल विश्वविद्यालयों का वह वार्षिक समागम ही मुख्य रूप से **समावर्त्तन** कहलाता है, जिसमे उत्तीर्ण विद्यार्थियों को उपाधियाँ, प्रमाण-पत्र आदि प्रदान किये जाते हैं; और भावी जीवन के सम्बन्ध मे किसी विशिष्ट महापुरुष से कुछ उपदेश दिलवाये जाते हैं। ऐसे ही अवसरों पर बड़े-बडे विद्वानों को, उनका सम्मान करने के लिए, शास्त्रीय योग्यताओं से सम्बन्ध रखनेवाली उपाधियाँ भी प्रदान की जाती हैं। **समुदाय** भी **सभा** और **समागम** की तरह का सार्विक शब्द है। जब बहुत-से लोग किसी विशिष्ट उद्देश्य से एक स्थान पर एकत्र होते हैं, तब उनका वह जमाव **समुदाय** कहलाता है। सब प्रकार की सभाओं और सस्थाओं मे यही होता है कि सब लोग एक साथ मिलकर बैठते हैं और बहुत सी बातों पर विचार करते हैं। उन लोगों का नित्य अथवा हर बार इस प्रकार बैठना **बैठक** कहलाता है। व्युत्पत्तिक दृष्टि से बैठक का सम्बन्ध हिन्दी की बैठना क्रिया से है; और **बैठक** का अर्थ है—बैठने की क्रिया, ढग या प्रकार और स्थान आदि*। पर प्रस्तुत प्रसंग मे यह

निश्चय भी जो प्राय. प्रथाओं और रूढ़ियों का रूप धारण कर लेते हैं। पर हिन्दी में इस प्रकार के निर्णय (हमारे यहाँ के पुराने शब्द 'समय' के आधार पर) 'अभिसमय' कहलाते हैं। दे०—'समझौता' के अन्तर्गत 'अभिसमय'।

*** इसी आधार पर वह व्यायाम भी बैठक कहलाता है, जो बार बार कुछ विशिष्ट प्रकार से उठ और बैठकर किया जाता है, और घर की वह कोठरी या कमरा भी बैठक कहलाता है, जिसमे घर के लोग भी और बाहर से मिलने-जुलने के लिए आनेवाले लोग भी साथ मिलकर बैठते हैं।**

शब्द किसी सस्था, सभा, समिति आदि के सदस्यों के हर बार साथ मिलकर बैठने का वाचक है। जब कोई बडी सभा या महासभा कई दिनो तक चलती रहती है, तब प्राय नित्य और कभी-कभी दिन मे दो या तीन बार भी उसकी बैठकें होती हैं। हर बार सदस्यों का विचार-विमर्श के लिए मिलकर बैठना एक स्वतत्र बैठक कहलाता है। यों अधिवेशन का शब्दार्थ तो है—बहुत-से लोगों का साथ मिलकर बैठना, पर पारिभाषिक क्षेत्र मे यह कुछ और ही अर्थ का वाचक हो गया है। जब कोई बड़ी सभा या महासभा बराबर कई दिनों तक और कई बैठकों के रूप मे लगातार चलती रहती है, तब उन सब बैठकों का सामूहिक रूप अधिवेशन कहलाता है। हम कहते हैं—हमारी राष्ट्रीय महासभा का अगला अधिवेशन अमृतसर में होगा। आशय यही होता है कि सब प्रतिनिधि और नेता एक साथ मिलकर कई बैठकों में महासभा के सब काम करेंगे। प्राय विधान सभाओं के अधिवेशन महीनों तक चलते रहते हैं; और नित्य उनकी एक बैठक होती रहती है। पर अधिवेशन के लिए सदा यह आवश्यक नहीं है कि वह कई बैठकों मे ही हो। एक ही बैठक मे भी पूरा अधिवेशन हो सकता है; और उस दशा मे यह शब्द ऐसी पूरी बैठक का वाचक हो जाता है, जिसमे सब लोग साथ बैठकर सब कार्य सम्पन्न करते हैं। इसी विचार से कहा जाता है—अमुक सस्था का वार्षिक अधिवेशन आज सन्ध्या को होनेवाला है। इस प्रकार यह मुख्य रूप से सब प्रतिनिधियों या सदस्यों के साथ बैठकर विचार-विमर्श करने का वाचक है।

सभापति (Chairman)

अध्यक्ष (President) **प्रमुख** (Speaker)

प्रधान **संयोजक** (Convener)

सभापति का साधारण शब्दार्थ है—सभा का प्रधान अधिकारी। जब कहीं कुछ लोग किसी विषय या विषयों पर विचार करने के लिए सभा के रूप मे एकत्र

होते हैं, तब प्राय प्रचलित परिपाटी के अनुसार सभा के कार्यों का ठीक तरह से, नियम और व्यवस्थापूर्वक संचालन करने के लिए, कार्य आरम्भ करने से पहले, उपस्थित सज्जनों में से किसी उपयुक्त और योग्य व्यक्ति को उस सभा का **सभापति** चुन लेते हैं। सभापति का यह काम होता है कि वह लोगों को कोई अनुचित, अशिष्टतापूर्ण या नियम-विरुद्ध काम या बात न करने दे, सब लोगों को बारी-बारी से अपना मत प्रकट करने का अवसर दे; विचार-विमर्श के उपरान्त प्रत्येक विषय पर उपस्थित लोगों के मत लेकर उचित निर्णय या निश्चय करने-कराने मे सहायता दे; और यदि कोई ऐसा विवादास्पद विषय सामने आवे, जिसके सम्बन्ध में लोग आपस मे सहमत न हों, तब अपना उचित निर्णय दे। साधारणतः सभापति की आज्ञा, आदेश, निर्णय आदि सभी उपस्थित लोगों के लिए मानना आवश्यक होता है। अध्यक्ष का साधारण अर्थ तो मालिक या स्वामी है; परन्तु प्रस्तुत प्रसग मे अध्यक्ष भी अधिकतर बातों मे वही है, जो **सभापति** है। फिर भी दोनों मे प्रमुख अन्तर यह है कि सभापति तो साधारणत किसी सभा की बैठक होने पर उसी समय और वहीं चुन लिया जाता है, परन्तु अध्यक्ष साधारणत किसी संस्था का ऐसा सभापति होता है, जो किसी निश्चित अवधि के लिए अथवा संस्था के नियमों के अनुसार अगला चुनाव होने तक के लिए चुना जाता है। सस्था की हर बैठक मे नियमत उसका अध्यक्ष ही उसके प्रधान अधिकारी के रूप में सब कार्यों का सचालन करता है। पर यदि वह उपस्थित न हो तो उस बैठक के कार्य सचालन के लिए उसके स्थान पर अ-स्थायी रूप से कोई और व्यक्ति सभापति चुन लिया जाता है। यों सभापति किसी सभा या उसकी बैठक का अस्थायी प्रधान अधिकारी होता है, और अध्यक्ष किसी संस्था का नियत-कालिक प्रधान अधिकारी होता है*। सिद्धान्तत अध्यक्ष मे तो सभापति का भी अन्तर्भाव हो जाता है; पर सभापति मे अध्यक्ष का अन्तर्भाव नहीं होता। हम

* साधारणतः हमारे यहाँ सभापति और अध्यक्ष में कोई अन्तर नहीं माना जाता, और प्राय सभी अवसरों पर सभापति का प्रयोग सार्विक रूप से होता है। पर दोनों का जो तात्त्विक अन्तर ऊपर बतलाया गया है, वह सदा ध्यान मे रखना चाहिए।

हर अध्यक्ष को तो सभापति भी कह सकते हैं, पर हर सभापति को अध्यक्ष नहीं कह सकते। सभापति अपने पद पर तभी तक रहता है, जब तक सभा की बैठक होती रहती है; पर अध्यक्ष अपने पद पर उतने दिनों तक बराबर बना रहता है, जितने दिनों के लिए वह सस्था के नियमों के अनुसार चुना जाता है। सभापति का चुनाव तो उपस्थित लोग ही अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार करते हैं; पर अध्यक्ष का चुनाव सस्था के सदस्यों के नियमित मत से होता है। प्रमुख भी है तो वस्तुत अध्यक्ष ही, पर इस शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से राजकीय या राष्ट्रीय विधान-सभाओं या राज-सभाओं के अध्यक्ष के लिए व्यासिद्ध है। प्रधान शब्द किसी विशिष्ट प्रकार के पद के लिए नियत या निश्चित नहीं है; और इसका प्रयोग लोग अध्यक्ष, प्रमुख और सभापति तीनों के स्थान पर प्राय मन माने ढग से करते हैं। सभाओं मे भी और राजकीय या विधान-सभाओ मे भी लोग कह जाते हैं—प्रधान जी की ऐसी ही आज्ञा (या निर्णय) है। ऐसे अवसरों पर प्रधान उसी व्यक्ति का वाचक हो जाता है, जो उस समय प्रधान अधिकारी के आसन या पद पर हो अथवा रहा हो। संयोजक का साधारण शब्दार्थ है—सयोजन या इकट्ठा करनेवाला। पर प्रस्तुत प्रसग मे यह शब्द एक विशिष्ट पद का वाचक है। जब कोई सभा या सस्था किसी काम के लिए कोई समिति नियुक्त करती है, तब साथ ही यह भी निश्चित कर देती है कि अमुक सज्जन इसके संयोजक रहेगे या होंगे। आशय यही होता है कि वे सज्जन उस समिति के सब सदस्यों का सयोजन करेंगे, और उन्हें एकत्र करके उसके सब कार्यों की व्यवस्था या सचालन करेंगे। इस प्रकार संयोजक उस समिति का मत्री भी हो जाता है और प्रधान या सभापति भी। उसे एक साथ उक्त दोनों पदों के काम करने पड़ते हैं। वही समिति की बैठकों की सूचना भी सदस्यो के पास भेजता है, विचारणीय विषयों के सम्बन्ध की जानने और करने योग्य सब बातें भी समिति के सामने रखता है, और प्रधान अधिकारी, अध्यक्ष या सभापति के रूप मे उसके सब कार्यों का सचालन भी करता है। समिति की बैठकों की कार्रवाइयों, निर्णयों आदि का विवरण प्रस्तुत करके नियोजक सस्था के पास भेजना भी उसी का काम होता है।

सभ्यता (Civilisation)

परिकर्षण (Cultivation) **संस्कृति** (Culture)

परिष्कृति (Refinement)

सभ्यता और संस्कृति दोनों शब्द इस बात के सूचक हैं कि किसी जन-समाज या वर्ग ने आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों मे कितनी उन्नति की है; अथवा अपनी आदिम अवस्था से आगे बढकर वह उन्नति या विकास की किस सीढ़ी अथवा स्तर पर पहुँचा है। सभ्यता मानव समाज की बाह्य और भौतिक सिद्धियों का माप-दड है और सस्कृति उसकी आन्तरिक तथा मानसिक सिद्धियों का। इस प्रकार हम सभ्यता का सम्बन्ध समूह से और सस्कृति का व्यक्ति से भी मान सकते हैं। बिलकुल आरम्भिक अवस्था मे मनुष्य जिस तरह रहते थे और जैसा आचरण करते थे, उससे आगे बटकर क्रमश उन्नति करना ही सभ्यता के क्षेत्र में अग्रसर होना है। प्रकृति पर विजय पाने के लिए भौतिक पदार्थों के उपयोग और जीवन-निर्वाह मे सुगमता लाने के प्रयत्न इसी के अन्तर्गत आते हैं। प्रस्तर युग की सभ्यता, लौह युग की सभ्यता आदि पद इसी तत्त्व के सूचक हैं। असभ्य जंगलियों को सभ्य बनाने के लिए (नागर दृष्टि से उनकी उन्नति करने के लिए) हम उन्हे नई-नई चीजों के उपयोग बताते और उद्योग-धन्धे सिखाते हैं। अलग-अलग जातियों और देशों के लोग अलग-अलग ढग से अपनी सभ्यता की सृष्टि और विकास करते हैं। इसी से चीनी सभ्यता, भारतीय सभ्यता, मिस्री सभ्यता आदि पद बने हैं। मनुष्य के अच्छे और परिष्कृत आचरण, व्यवहार, शिष्टता आदि से भी सभ्यता का सम्बन्ध है। हम कहते हैं—जरा सभ्यता से बाते करना सीखो। अर्थात् उजड्डों, जगलियों आदि की तरह बातें करना छोडो। यहाँ हम मानो सास्कृतिक दृष्टि से ऊपर उठने पर जोर देते हैं। संस्कृति भी इसी सभ्यता का एक दूसरा अग, पक्ष या रूप है। यह मानव समाज के आध्यात्मिक, बौद्धिक और मानसिक विकास की सूचक है। ज्ञान और विद्या के उपार्जन, धार्मिक और नैतिक विचारों के विकास, कला-कौशल के क्षेत्र में उन्नति, सामाजिक रहन-सहन और परम्परगत योग्यताओं तथा विशिष्टताओं के

विचार से किसी जाति या देश की जो पूर्व-पीठिका होती है, वही उसकी **संस्कृति** कहलाती है। सामूहिक दृष्टि से **सभ्यता** तो किसी विशिष्ट दिशा मे आगे बढती चलती है, पर **सस्कृति** प्राय अपना रूप कुछ बदलती भी रहती है। जातियों के पारस्परिक सम्पर्क से **सभ्यता** पर कुछ अधिक और जल्दी तथा **सस्कृति** पर कुछ कम और देर मे प्रभाव पडता है। **कर्षण** का एक पहला अर्थ है—खींचना या घसीटना; और दूसरा अर्थ है—खेती-बारी के लिए जमीन जोतना-बोना और उपज या फसल तैयार करना। इसी कर्षण मे 'परि' उपसर्ग लगाकर **परिकर्षण*** बनाया गया है। **परिकर्षण** मे मुख्य भाव है—किसी काम मे बराबर लगे रहकर उसकी उन्नति या विकास करना। हम अपनी शक्तियों को निरन्तर सक्रिय रखकर उन्हें स्वतत्र रूप से उपयोगी बनाने का जो प्रयत्न करते हैं, वही उन शक्तियों का **परिकर्षण** कहा जायगा। इसमे अध्यवसाय का भाव मुख्य है। अलग-अलग क्षेत्रों मे हम अपने बुद्धि-बल, योग्यता और शक्तियों का जो **परिकर्षण** करते हैं, उन्हीं सब का सामूहिक फल हमारी **सस्कृति** के रूप मे सामने आता है। यही **परिकर्षण** मनुष्य मे भावुकता, रसिकता, कला तथा सौन्दर्य का प्रेम, बोल चाल और रहन-सहन के अच्छे ढग आदि अनेक बाते लाता है। **परिष्कृति** का साधारण अर्थ है—सफाई। परन्तु वर्द्धित अर्थ मे यह हमारे आचार-व्यवहार की उस स्थिति का सूचक है, जिसमें अशिष्ट, उद्धत, ग्राम्य, परुष तथा रुक्ष तत्त्वों का अभाव और शिष्ट, विनम्र, नागर, कोमल तथा स्निग्ध तत्त्वों की प्रबलता या बहुलता होती है। आचार-व्यवहार आदि मे से सभी तरह की दूषित और खटकनेवाली बातें हटाकर उनकी जगह अच्छी और रुचिकर बातें लाना ही सामाजिक विकास के क्षेत्र मे **परिष्कृति** है। **परिकर्षण** हमारी सभ्यता का बीजा-

---

* अँगरेजी का कल्टिवेशन (Cultivation) शब्द तो कृषिक क्षेत्र भी और सामाजिक विकास के क्षेत्र में भी समान रूप से चलता है; पर न्दी में खाली कर्षण शब्द दोनों क्षेत्रो में नहीं चल सकता। इसी लिए हमें समें 'परि' उपसर्ग लगाना पड़ा है। अपने इस नये रूप में यह दोनो क्षेत्रों अँगरेजी के कल्टिवेशन की तरह, समान रूप से चल सकता है

रोपण करता है, और उसका चरम फल परिष्कृति के रूप मे प्रकट होता है। बराबर अनेक पीढियों तक परिकर्षण करते-करते जितनी अधिक परिष्कृति हम अपने आपमें लाते हैं, उतनी ही उन्नत तथा विकसित हमारी संस्कृति होती है।

समझौता (१. Agreement, २. Compromise)

अनुबन्ध=संविदा
अभिसमय (Convention)
अवहार (१ Armistice, २ Truce)
ठहराव=परियुक्ति
ठहरौनी=ठहराव, परियुक्ति
ठीका (Contract)
निपटारा (Settlement)
परियुक्ति (Engagement
पाशक* (Pact)
प्रपाशक* (Compact)
संधि (Treaty)
संविदा (Covenant)
सौदा (Bargain)

इस माला के सभी शब्द ऐसे पारस्परिक निश्चयों के वाचक हैं जो दो या अधिक दलों, वर्गों, व्यक्तियों आदि मे (क) आपसी झगड़े या मत-भेद दूर करने

---

* निरुक्त की दृष्टि से अँगरेजी के पैक्ट (Pact) का सम्बन्ध सं० पाश से माना जाता है। इसी विचार से यहाँ पैक्ट के लिए पाशक और कम्पैक्ट (Compact) लिए प्रपाशक रखा गया है। शब्दार्थ के विचार से अं० कम्पैक्ट (विशेषण) का स० तदर्थी सहत और इसका सज्ञा रूप सहनि होता है, पर यदि हम कम्पैक्ट को सहति मान ले तो पैक्ट के लिए कोई सगत शब्द न बन सकेगा; इसी लिए यहाँ पाशक और प्रपाशक शब्द रखे गये हैं। हाँ सारिक क्षेत्र मे कम्पैक्ट के लिए संहत और सहति ही रहना चाहिए। (दे० 'सारिक' के अन्तर्गत 'सहत')

अथवा (ख) भावी कार्यों, व्यापारों, व्यवहारों आदि के सचालन का स्वरूप स्थिर करने के लिए होते हैं। ऐसे लिखित निश्चयों के द्वारा सम्बद्ध दल या व्यक्ति भविष्य मे कुछ काम मिलकर करने अथवा कुछ बाते न करने के लिए बँध जाते हैं। इस माला का मुख्य शब्द **समझौता** अर्थ की दृष्टि से बहुत व्यापक और सार्विक है; और इसमें प्राय शेष सभी शब्दों का किसी न किसी रूप मे अन्तर्भाव हो जाता है। **समझौता** हि० समझना का भाव-वाचक रूप है। अपने मूल अर्थ में, आपस मे समझ-बूझकर जो बात स्थिर कर ली जाय, वही **समझौता** है। विधिक दृष्टि से इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। एक पक्ष से कोई विसर्ग (दे० 'अर्पण' के अन्तर्गत 'विसर्ग') हो (कोई बात सामने रखी जाय) और दूसरा पक्ष उसे मान ले। इस अर्थ मे सम्बद्ध पक्षों की आपसी सहमति का भाव मुख्य है। परवर्त्ती अर्थ मे लोग यह भी **समझौता** कर सकते हैं कि हम आपस के पुराने लडाई-झगड़े भूल जायँगे और मिलकर शान्तिपूर्वक रहेंगे। ऐसा **समझौता** किसी विवाद का अन्त करने के लिए होता है, और इसमे दोनों पक्षों को कुछ दबकर या अपनी माँगें घटाकर एक दूसरे के साथ रिआयत भी करनी पडती है। **समझौता** अ-लिखित या मौखिक भी हो सकता है और लिखित भी। ब्योरे की सब बातों से युक्त और लेख्य के रूप मे लिखित **समझौता** ही विधिक क्षेत्र मे सविदा कहलाता है। व्यापारिक और व्यावहारिक क्षेत्रो मे इसका विशेष प्रचलन है। इसमे आपसी झगड़े निपटाने के लिए भी और भावी कार्य-प्रणाली स्थिर करने के लिए भी, प्राय सभी प्रकार की सम्भावनाओं का ध्यान रखते हुए, जो शर्तें पक्की की जाती हैं, उन सबका पूरा और ब्योरेवार उल्लेख होता है। **निपटारा** हिं० निपटाना (स० निवर्त्तन) से बना है, जिसके दो मुख्य अर्थ हैं—(क) काम पूरा करना, और (ख) विवाद का अन्त करना। मत-भेद, विवाद, सन्देह आदि की कोई बात सामने आने पर विचार-पूर्वक उसका जो निराकरण या निर्णय किया जाय, वही **निपटारा** है। यह आपस मे भी हो सकता है और किसी को मध्यस्थ मानकर उसके द्वारा भी कराया जा सकता है। इसकी मुख्य विशेषता यही है कि इसमे अन्तिम निर्णय तो हो जाता है, पर कोई पक्ष दोषी नहीं ठहराया जाता। दोनों पक्षों को सन्तुष्ट रखकर जो इच्छा और ठीक निर्णय किया जाय, वही

निपटारा है। ठीका हिं० ठीक से बना है। इसका शब्दार्थ है—आपस मे ठीक करके तै की हुई बात। पर इसका पारिभाषिक प्रचलित अर्थ कुछ और ही है। समझौते मे तो दो ही बाते अपेक्षित होती हैं—विसर्ग या प्रस्ताव और उसकी मान्यता। पर ठीके मे इनके सिवा आर्थिक लेन-देन का तीसरा तत्त्व भी रहता है। जब पहले से पूरा पारिश्रमिक (वेतन नहीं) तै करके किसी को कोई काम या सेवा सौपी जाय, तब ऐसा व्यवहार ठीका * कहलाता है। पुल, मकान, सडकें आदि प्राय ठीके पर बनवाई जाती हैं; शासन की ओर से गाँजे, भाँग शराब आदि की बिक्री ठीके पर कराई जाती है; और अनेक प्रकार के कर, प्राप्य आदि वसूल करने के लिए ठीके दिये जाते हैं। इसका स्वरूप विशुद्ध व्यापारिक होता है। ठहराव हिं० ठहराना का भाव-वाचक (मानक और शिष्ट-सम्मत) रूप है, और ठहरौनी इसी का पूर्वी रूप। परियुक्ति इसके लिए नया गढा हुआ शब्द है। ठहराना का अर्थ है—कोई बात ठीक या स्थिर करना। जब कोई बात जबानी पक्की कर ली जाती है, तब उसे बात ठहराना कहते हैं। एक्के, रिक्शे या बाजेवाले ठहराये अर्थात् बात-चीत करके नियत या नियुक्त किये जाते हैं। हम कहते हैं—कल हम आपके यहाँ आवेंगे; अथवा परसों सब लोग मिलकर अमुक स्थान पर सैर करने चलेंगे। बोल चाल मे यही ठहराव या परियुक्ति है। लडके-लडकियों के ब्याह की जो बात-चीत पक्की कर ली जाती है, उसे भी पूरब मे ठहरौनी कहते हैं। सौदा तुर्की भाषा का शब्द है और उर्दू के द्वारा हिन्दी मे आकर खूब चल गया है। इसका मूल अर्थ है—क्रय विक्रय या खरीदना-बेचना। बोल-चाल मे यह उस चीज का वाचक हो गया है जो खरीदी या बेची जाय। हम बाजार मे सौदा खरीदने जाते हैं, और दूकानदार अपना सौदा बेचकर प्रसन्न होता है। पर अपने पारिभाषिक रूप और विस्तृत अर्थ मे यह उस निश्चय

* अँग्रेजी मे कन्ट्रैक्ट (Contract) का अर्थ हिन्दी ठीका के इस अर्थ की अपेक्षा बहुत विस्तृत तथा व्यापक है। अ० कन्ट्रैक्ट में सभी प्रकार के समझौते और संविदाएँ आ जाती हैं। पर हिन्दी में बहुत दिनों से कन्ट्रैक्ट के लिए परिमित अर्थवाला 'ठीका' ही चल रहा है।

का वाचक है जो कोई चीज खरीदने बेचने के सम्बन्ध मे दोनों पक्षों में होता है। हम कहते हैं—उस मकान का दस हजार रुपए में **सौदा** हो गया है। आशय यही है कि खरीदनेवाले ने उसे दस हजार पर खरीदने और बेचनेवाले ने इतने ही मूल्य पर बेचने का आपस मे निश्चय कर लिया है। सट्टेबाज चाँदी-सोने का जो **सौदा** करते हैं, उसमे भी परस्पर निश्चित किये हुए भाव या दर पर उक्त प्रकार के लेन-देन का विचार निहित है। देशों या राष्ट्रों मे ऐसा **सौदा** भी होता है कि हम आपको इतनी रूई और लोहा देंगे; और इनके बदले में इतना गेहूँ और ताँबा लेंगे। लाक्षणिक रूप मे इसका प्रयोग ऐसी बात-चीत के सम्बन्ध मे होता है, जिसमे दोनों पक्ष व्यावहारिक दृष्टि से अपना-अपना कुछ लाभ करना या अपने लिए कुछ सुभीता प्राप्त करना चाहते हों। हम कहते हैं—अभी तक उन लोगो मे सिर्फ **सौदा** पटाने की बात-चीत चल रही है। आशय यही होता है कि दोनों पक्ष अपने-अपने अनुकूल निश्चय करना-कराना चाहते हैं। **पाशक** और **प्रपाशक** हैं तो सार्विक क्षेत्र के ही शब्द, पर इनका राजनीतिक, व्यावहारिक तथा सामाजिक क्षेत्रों से विशिष्ट सम्बन्ध है। स० पाश० का अर्थ है—जाल, फन्दा या बन्धन; और **पाशक** का अर्थ है—पाश या बन्धन मे बाँधनेवाला। पर अब इसका प्रयोग कुछ विशिष्ट प्रकार की बातों या व्यवहारों के लिए आपस मे होनेवाले निश्चय या **समझौते** के सम्बन्ध मे होता है। पत्र-सम्पादकों मे यह **पाशक** हो सकता है कि हम अमुक सरकारी विभाग की विज्ञप्तियाँ नहीं छापेंगे; और राष्ट्रों में यह **पाशक** हो सकता है कि हम अमुक अमुक देशों के हाथ अपना माल नहीं बेचेंगे। **प्रपाशक** भी बहुत-कुछ **पाशक** ही है, पर इसके द्वारा होनेवाले निश्चयों में गम्भीरता और दृढता का भाव अधिक है, और इसमे अपने दायित्व का अपेक्षया बहुत अधिक ध्यान रखा जाता है। यह प्राय ऐसे दलों या समाजों मे होता है जो बहुत कुछ एक-से या एक ही तरह के होते हैं और जिन्हे अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए मिलकर रहना पडता है। राजनीतिक क्षेत्र में इसका प्रयोग ऐसे निश्चयों और समझौतों के सम्बन्ध में भी होता है जो भिन्न-भिन्न राष्ट्र अपने सामूहिक हित के विचार से करते हैं। **पाशक** और **प्रपाशक** दोनों अ-लिखित भी हो सकते हैं; और ऐसी दशा मे प्रायः पारस्परिक विश्वास पर

ही आश्रित होते हैं। **सन्धि** वह है जो दो या अधिक राष्ट्रों मे विचार विमर्श के उपरान्त, पारस्परिक हित की दृष्टि से, भावी आचरण से सम्बद्ध निश्चयों के रूप मे हो। यों तो सन्धि मुख्यत युद्ध की समाप्ति पर होती है, पर शान्ति काल मे भी **सन्धियाँ** होती ही हैं। पहले इसकी शर्तें राष्ट्रो के प्रतिनिधि मिलकर स्थिर करते हैं; और तब स्वय राष्ट्र इसकी अभिपुष्टि (रैटिफिकेशन) करके इसे बलवत् (एन्फोर्स) करते या व्यावहारिक रूप मे प्रचलित करते हैं। राष्ट्रों मे पहले जो **समझौते** या **पाशक** होते हैं, वे भी आगे चलकर औपचारिक और लिखित **सन्धि** का रूप धारण कर सकते हैं। **विराम-सन्धि** हाल का बना हुआ शब्द है। इसके लिए हमारे यहाँ का पुराना शब्द **अवहार** है*। जब युद्ध बहुत बटकर दोनों पक्षों के लिए यथेष्ट अनिष्टकारी सिद्ध होता है और वे युद्ध बन्द करना चाहते हैं, तब वे **सन्धि** की बात-चीत चलाने और शर्तें तै करने के लिए अस्थायी रूप से हथियार रखने पर राजी हो जाते हैं। **सन्धि** की बात-चीत चलाने के लिए यही हथियार रखना **विराम-सन्धि** है। **अवहार** अपेक्षया अधिक व्यापक अर्थवाला शब्द है; और **विराम सन्धि** का भी इसमे अन्तर्भाव होता है। युद्ध के सिवा और भी कई तरह की ऐसी लड़ाइयाँ और झगड़े होते हैं, जिनसे लडने-झगडनेवाले भी और देखनेवाले भी ऊब जाते हैं। जैसे—कल-कारखानो के मजदूरों की हडतालें आदि। ऐसे झगडों को भी समझौते के लिए कुछ समय तक रोक रखना अथवा थक जाने पर सुस्ताने के लिए प्रतियोगिता सम्बन्धी खेल आदि रोकना भी **अवहार** ही है। **अभिसमय** स० के समय शब्द मे 'अभि' उपसर्ग लगाकर बनाया हुआ नया शब्द है। समय का पहला और पुराना अर्थ है—आपस मे होनेवाला कोई निश्चय या समझौता, और इस दृष्टि से इस

*** अवहार महाभारत में अँगरेजी के आर्मिस्टस (Armistice) के अर्थ में और कथा-सरित् सागर मे ट्रूस (Truce) के अर्थ में आया है। पर हिन्दी मे आर्मिस्टिस तथा ट्रूस दोनों के लिए** विराम-सन्धि **पद चलने लगा है, जो ठीक नही है। अतः यहाँ आर्मिस्टिस के लिए** विराम-सन्धि **और ट्रूस के लिए** अवहार **रखा गया है।**

माला के प्राय सभी शब्दों का 'समय' मे अन्तर्भाव हो सकता है। पर समय अब काल (या वक्त) के अर्थ में चल गया है; इसी लिए उसमे 'अभि' उपसर्ग लगाकर उसका रूप **अभिसमय** कर दिया गया है। प्राय ऐसी अनेक बाते या विषय होते है जिनका सभी अथवा कई राष्ट्रो से सम्बन्ध होता है। जैसे—डाक, तार, रेल, हवाई जहाज, कृतियों आदि का प्रतिक स्वत्त्व (कॉपी राईट) युद्ध-सचालन के नियम आदि। ऐसी बातों या विषयों के सम्बन्ध में सब राष्ट्र आपस मे बात-चीत करके जो बहुत-कुछ स्थायी समझौता करते हैं, वही **अभिसमय** है। कला, काव्य, सामाजिक रीति-व्यवहार आदि से सम्बन्ध रखनेवाली मानक परिपाटियों या प्रथाओ के मूल मे निहित सब लोगों का जो समझौता या सहमति होती है, वह भी **समय** (या **अभिसमय**) ही है। जैसे—कवि-समय, अर्थात् कवियों मे परम्परा से चली आई हुई परिपाटी। ऐसी बातें स्थिर करने के लिए जो सभाएँ होती हैं, उन्हें भी हम या तो **अभिसमय** अथवा समागम कह सकते हैं। (दे० 'सभा' के अन्तर्गत 'समागम')

सहिक* (Positive)

उलटा (Negative) धन, धनात्मक (Positive)
ऋण, ऋणात्मक (Negative) नहिक (Negative)
गरम (Positive) सीधा (Positive)
ठंढा (Negative)

संस्कृत मे नहि का अर्थ होता है—निश्चित रूप से नहीं; अथवा कभी नहीं। इसी नहि में क प्रत्यय लगाकर नहिक बनाया गया है। इसी नहिक के अनुकरण पर सं० सह या सहि (=स+हि) से सहिक बनाया गया है। नहिक और सहिक मुख्यत हैं तो वैज्ञानिक क्षेत्रों के पारिभाषिक शब्द; परन्तु कुछ अवस्थाओ मे सार्विक क्षेत्रों मे भी इनका प्रयोग होता है। नहिक का अर्थ होगा—न होने या न हो सकनेवाला, और सहिक का अर्थ होगा—रहने या होनेवाला अथवा रह या हो सकनेवाला। इन शब्दों का प्रयोग ऐसे प्रसगो में होता है, जहाँ यह सूचित करना होता है कि (क) कोई अपेक्षित, आवश्यक या विचारणीय तत्त्व (इसमे अथवा यहाँ) नहीं है; अथवा (ख) ऐसा तत्त्व (इसमे

---

* अँगरेजी के पॉजिटिव (Positive) और नेगेटिव (Negative) के लिए हिन्दी में भिन्न भिन्न क्षेत्रों और प्रसगों में प्रयुक्त मेरे देखने में अब तक एक दर्जन से अधिक शब्द-युग्म आ चुके हैं। जैसे—भावात्मक और अभावात्मक, सकारात्मक और नकारात्मक, धनात्मक और ऋणात्मक, स्वीकारात्मक और निषेधात्मक, लोम और विलोम आदि। परन्तु इनमें से एक भी शब्द युग्म ऐसा नही है जो सभी क्षेत्रो और प्रसगों में समान रूप से काम दे सके।। इसी विचार से प्रामाणिक हिन्दी कोश के दूसरे सस्करण में मैंने इनके लिए सहिक और नहिक शब्द रखे थे, जिनके पक्ष या विपक्ष में अभी तक कोई तर्क-सगत चर्चा मेरे देखने में नहीं आई। इसलिए यही दोनों शब्द यहाँ फिर से विचारार्थ और प्रयोगार्थ उपस्थित किये जाते हैं।

अथवा यहाँ) वर्त्तमान है। सहिक का प्रयोग प्राय निम्न-लिखित प्रसगों मे होता है—(क) जो कथन निश्चित और स्पष्ट रूप से प्रतिपादित, प्रस्थापित अथवा व्यक्त किया गया हो; अर्थात् ठीक मानकर साफ तरह से कहा गया हो; (ख) जो सचमुच वर्त्तमान, सत्ता से युक्त और वास्तविक हो, (ग) जो सब तरह से दृढ और निश्चित हो; (घ) जिसमे किसी प्रकार के आक्षेप, सकोच, सन्देह आदि के लिए कोई अवकाश न हो, अथवा (ङ) जिसमे कोई अपेक्षित या विशिष्ट तत्त्व वर्त्तमान हो। इस विचार से सहिक कुछ स्थानों पर ठीक, निश्चित, पूर्ण या वास्तविक का भी आशय प्रकट करता है, और इसी लिए कुछ प्रसंगों मे इसका काम उक्त शब्दों से भी चला लिया जाता है*। फिर भी अनेक अवसरों पर पारिभाषिक शब्द सहिक का ही प्रयोग आवश्यक होता है। जैसे—सौन्दर्य कोई सहिक वस्तु नहीं है; इसका मानक तो लोग अपनी अपनी रुचि के अनुसार ही स्थिर कर लेते हैं। यहाँ सहिक का अर्थ है—धार्य, माप्य या मूर्त्त (दे०—'मूर्त्त' और उसके अन्तर्गत 'धार्य') तत्त्व से युक्त। सहिक प्रतिमा या मूर्त्ति वह कही जायगी, जो धातु, पत्थर आदि से गढकर बनाई हुई और वास्तविक हो। नहिक इसी सहिक का विपर्याय है; अत सहिक के जितने आशय या भाव माने जाते हैं, नहिक उन सबके विपरीत आशयों या भावों का सूचक होगा †। उदाहरणार्थ, यदि हम कहें—'आप वहाँ नही जा सकते।' तो

* उदाहरणार्थ—हिन्दी की प्रवृत्ति के विचार से Positive order के लिए हम कहेगे—निश्चित आज्ञा, और I am not yet positive of any thing की जगह हमें कहना पड़ेगा—अभी किसी बात के सम्बन्ध में मेरा कोई निश्चित मत नहीं है, अथवा मे किसी निश्चित मत पर नही पहुँचा हूँ। परन्तु Positive Laws अथवा Positive Philosophy के लिए हमें क्रमात् कहना पड़ेगा—सहिक विधियाँ (या विधान) अथवा सहिक दर्शन।

† इसी लिए कुछ स्थानो पर यह निषेधात्मक, विपरीत आदि का भी वाचक हो जाता है।

हमारा यह कथन निषेधात्मक तो कहलावेगा ही; पर इसे हम **नहिक** कथन या **नहिक** आदेश भी कह सकते हैं। इसी प्रकार जो कुछ सकारात्मक हो, वह सब **सहिक** होता है। यहाँ तक तो ये दोनों शब्द सार्विक क्षेत्र में चलते हैं। पर इससे आगे कुछ विशिष्ट विज्ञानों और शास्त्रों मे भी इनका कुछ विशिष्ट अर्थों मे प्रयोग होता है, और ऐसे प्रसगों के लिए सस्कृत और हिन्दी मे कहीं-कहीं कुछ शब्द मिलते और चलते भी हैं। हमारे यहाँ के गणित शास्त्र मे अं० पॉजिटिव के लिए **धन** और नेगेटिव के लिए **ऋण** शब्द बहुत दिनो से चले आ रहे हैं, जिन के चिह्न क्रमात् + और—(जोड और बाकी के चिह्न) हैं। जैसे—**घन**कोण, धन राशि, और ऋण चिह्न, ऋण पक्ष आदि प्रसिद्ध पद हैं। विद्युत् शास्त्र मे जिन्हें पॉजिटिव और नेगेटिव तार कहते हैं, उनके लिए हमारे यहाँ के बिजली मिस्तरियों ने क्रमात् **गरम** तार और **ठढा** तार पद बना लिये हैं। परन्तु स्वयं विद्युत् मे भी दो भिन्न अशों या प्रकारों का एक युग्म* होता है, जिन्हे केवल **गरम** और **ठंढा** कहने से काम नहीं चल सकता, और इन अशों या प्रकारोंके लिए भी **सहिक** और **नहिक** का प्रयोग ही ठीक होगा। इसके सिवा चुम्बक की सूई मे एक सिरा वह होता है जो सदा उत्तर की ओर रहता है और दूसरा सिरों सदा दक्षिण की ओर रहता है। इन दोनों सिरों के लिए हमारे यहाँ अलग-अलग शब्द न होने के कारण प्राय गणितीय **धन** और **ऋण** से काम चलाया जाता है। पर इन्हे भी हम क्रमात् **सहिक** और **नहिक** कह सकते हैं। छाया-चित्रण (फोटोग्राफी) में इन शब्दों से जो आशय सूचित होते हैं, उनके लिए हमारे यहाँ अभी तक शब्द बने ही नही हैं, ऐसे अवसरों पर भो **सहिक** और **नहिक** से अच्छी तरह काम चल सकता है। छाया-चित्रण मे **सहिक** वह चित्र या प्रतिबिम्ब कहा जाता है,

---

*** वस्तुतः अपने प्रकृत रूप में भी विद्युत् या बिजली दो अलग अलग प्रकारो की होती है। एक प्रकार की तो वह बिजली होती है, जो शीशे से रेशम को रगड़ने से पैदा होती है, और दूसरे प्रकार की वह बिजली होती है जो गोद, मोम आदि की रगड़ से पैदा होती है। इनमें से पहले प्रकार की बिजली सहिक और दूसरे प्रकार की नहिक कहलाती है।**

जिसमे छाया और प्रकाश दोनों ज्यों के त्यों अपने प्रकृत रूप मे और मूल के ठीक अनुरूप दिखाई देते हों। इसके विपरीत, नहिक चित्र, प्रतिबिम्ब या शीशा वह कहलाता है, जिसमे प्रकृत या मूल की छाया के स्थान पर प्रकाश और प्रकाश के स्थान पर छाया हो। हिन्दी मे साधारण रूप से उन्हें क्रमात् सीधा और उलटा कहते हैं। पर पारिभाषिक क्षेत्र मे इन्हें भी हम क्रमात् सहिक और नहिक कह सकते हैं। कुछ प्रसगों मे सहिक और नहिक का प्रयोग विशेषण रूप के अतिरिक्त सज्ञा रूप मे भी होता है। जैसे छाया-चित्रण के प्रसंग मे वह शीशा तो नहिक कहलाता है, जिस पर वस्तु या व्यक्ति का चित्र पहले लिया जाता है, क्योंकि इसमे छाया की जगह प्रकाश और प्रकास की जगह छाया होती है। पर ऐसे शीशे पर से जो चित्र छापकर तैयार किया जाता है, उसे सहिक कहते हैं, क्योकि इसमें फिर छाया और प्रकाश का क्रम दोबारा उलट जाता है और वे ठीक उसी रूप मे हो जाते हैं, जिस रूप मे वे मूल वस्तु या व्यक्ति में होते हैं।

साधारण (Ordinary)

चलित (Usual)
प्रायिक (Frequent)
लोक-गत (Popular)
लोक-प्रिय (Popular)
विश्वक (Universal)
सामान्य (Common)
सार्वजनिक (Public)
सार्वजनीन=सार्वजनिक
सार्विक (General)

साधारण स० साधार का विकारी रूप है, और साधार स० स + आधार के योग से बना है। साधार का अर्थ है—जिसका कोई आधार हो; या जो किसी के आश्रय या सहारे पर हो। इसी दृष्टि से जो चीजें या बातें एक ही आधार पर या एक ही तरह के आधारों पर आश्रित या स्थित हों, वे साधारण कहलाती

है। जब एक ही तरह की ऐसी बहुत-सी चीजें या बातें हमारे सामने आती हैं, जिनमे एक दूसरी की अपेक्षा कोई महत्त्व का पार्थक्य या विशेषता नहीं होती, तब वे सभी चीजें या बातें हमारे लिए साधारण होती हैं। जिस घटना या व्यक्ति मे हमें कोई विशिष्ट गुण या चमत्कार नहीं दिखाई देता, उसे हम साधारण मनुष्य कहते हैं। इसके विपरीत, जिन बातों या वस्तुओं मे हमे कोई नवीनता या विलक्षणता दिखाई देती है, वही हमारे लिए असाधारण होती हैं। पर यदि वही बातें या वस्तुएँ हमारे सामने प्राय और अधिकता से आने लगे तो वे साधारण बन जाती हैं। बिजली की रोशनी, मोटर, रेडियो या हवाई जहाज पहले विरले होने के कारण असाधारण थे, पर अब बहुत प्रचलित हो जाने के कारण सभ्य जगत् के लिए साधारण हो गये हैं। पहले चोरियाँ, डाके और हत्याएँ बहुत कम होने के कारण असाधारण घटनाएँ मानी जाती थी, पर यही आज-कल साधारण बातें हो गई हैं। साधारण प्राय प्रसम (देखे) से कुछ निम्न कोटि का ही होता है, उच्च कोटि का नहीं होता। हम कहते हैं—यह बात साधारण आदमियों की समझ के बाहर है। आशय यही होता है कि यह बात वही समझ सकते हैं जो या तो प्रसम कोटि के हों या उससे कुछ उच्च कोटि के। सामान्य सं० समान से बना है, और मूलत इस का वही अर्थ* तुल्य या बराबर है जो समान का है। पर बाद मे इसका अर्थ भी बढ और बदलकर बहुत कुछ वही हो गया है जो साधारण का है। जो सब जगह समान रूप से लोगों के देखने-सुनने में आता हो, जो सब में नहीं तो कम से कम बहुतों मे अवश्य पाया जाता हो, अथवा जिसे देखने पर कुछ भी आश्चर्य या कुतूहल न हो, वही सामान्य है। साधरण तो प्रसम से प्राय कुछ नीचा होता है, पर सामान्य

*** अँगरेजी में Common की अपेक्षा Ordinary कुछ ऊँचे भाव का सूचक है—उसमें तुच्छता या निम्नता की भावना अपेक्षया कम है। पर हिन्दी में इसके विपरीत सामान्य ही कुछ अच्छा और साधारण कुछ हलका होता है। सामान्य बुद्धिवाला आदमी, प्रयोग के विचार से, साधारण बुद्धिवाले आदमी की अपेक्षा कुछ अधिक बुद्धिमान् समझा जाता है।**

बहुधा प्रथम के समान ही होता है। जो बात दो अथवा कई वस्तुओ, व्यक्तियो आदि मे समान रूप से पाई जाती हो, वह भी **सामान्य** कहलाती है। जैसे—भूख-प्यास आदि प्राणियों का **सामान्य** धर्म है। यदि ऐसे प्रसगों मे **सामान्य** की जगह **साधारण** का प्रयोग किया जायगा तो वाक्य का आशय कुछ तुच्छता या हीनता का सूचक हो जायगा। **विश्वक** और **सार्विक** एक ही वर्ग के शब्द है। **विश्वक** वह है जो सब जगह और सबमें बिना किसी प्रकार के अपवाद के देखने में आता या पाया जाता हो। पर **सार्विक** वह है जो प्राय सब जगह या सबमे मिलता या होता हो और जिसमे कहीं-कहीं कुछ अपवादों के लिए भी अवकाश हो। **सार्विक** नियम या विधान तो प्राय समाजो या सरकारों के बनाये हुए होते हैं; पर **विश्वक** नियम ईश्वर-कृत या प्रकृत होते हैं। **सार्विक** नियमों मे कुछ अपवाद या त्रुटियाँ भी हो सकती हैं; पर **विश्वक** नियमों मे कोई अपवाद नही होता। मनुष्यों के बनाये हुए विधान **सार्विक** हित के साधक होते हैं, पर ईश्वरीय विधान **विश्वक** हित के। अहिंसा, दया, प्रेम, सत्य आदि **विश्वक** सिद्धान्त हैं। **विश्वक** कहीं-कहीं सामूहिक रूप मे सब या समस्त का भी वाचक होता है। जैसे—भारत-वासियों की यह **विश्वक** आकाक्षा है; अर्थात् समस्त भारत-वासियों की यह आकाक्षा है। **सार्विक** मत तो यही है कि स्त्रियों को घर-गृहस्थी के ही काम देखने चाहिएँ; फिर भी बहुत-सी स्त्रियाँ सार्वजनिक सेवाओं और नौकरी-चाकरी के काम करती ही हैं। पर यह मत **विश्वक** है कि सबको अपने माता-पिता की आज्ञा माननी और सेवा करनी चाहिए। **सार्वजनिक** और **लोक-गत** प्राय एक वर्ग में आते हैं। **सार्वजनिक** का अर्थ है—सर्व जन या सब लोगों से सम्बन्ध रखनेवाला। जिस काम या बात का सम्बन्ध सब लोगों अथवा सारे समाज से हो, वही **सार्वजनिक** कहलाती है। **सार्वजनिक** धर्मशाला या सभा वह होगी जिसमें सब लोग ठहर या सम्मिलित हो सकते हों। इसमे साधारण लोगों में से किसी के लिए निषेध या वर्जन नहीं होता। डाक, तार, रेल आदि के विभाग **सार्वजनिक** उपयोग और हित के लिए ही चलते हैं। **लोक-गत** वह है जिसका उपयोग, प्रयोग या व्यवहार जनता के अधिकाश मे होता हो अथवा अधिकतर जनता में जिसका प्रचलन या मान्यता हो। जनता के अतिरिक्त इसका सम्बन्ध देश, युग आदि से भी होता है। हम कह सकते हैं—अमुक प्रथा या अमुक विश्वास अमुक

काल या युग में हमारे देश मे बहुत अधिक लोक-गत था*। हम यह भी कह सकते हैं—विधिक धारणाओं अथवा मान्यताओं से लोक-गत धारणाएँ अथवा मान्यताएँ प्राय बहुत-कुछ भिन्न हुआ करती हैं। चलित वह है जिसका चलन या प्रचलन साधारणत सब जगह या सब लोगों में प्राय देखने में आता हो। जैसे—हिन्दुओं मे पहले बाल-विवाह प्रायः चलित रूप से होता था; अथवा चलित रूप में ऐसा अनुचित व्यवहार आपस मे नहीं होता। प्रायिक स० प्राय या प्राय से बना हुआ शब्द है। प्रायिक वह है जो सदा और नियमित रूप से या बराबर तो न होता हो, फिर भी बीच बीच में प्राय या बहुधा होता रहता हो। जो क्रिया आपसे आप या लोगों के द्वारा अथवा किसी एक व्यक्ति के द्वारा बीच-बीच मे और बार-बार होती रहती हो, उसे भी प्रायिक कहते हैं। जैसे—माघ फागुन मे वर्षा प्रायिक नहीं होती, केवल एक दो बार होती है।

---

* कुछ लोग ऐसे अवसरों पर Popular का अनुवाद लोक-प्रिय भी कर जाते हैं। कहीं कहीं तो लोक-प्रिय से काम चलता जाता है, जैसे प्रसाद जी की कामायनी सबसे अधिक लोक-प्रिय रचना है। पर उक्त प्रसग में अथवा उससे मिलते-जुलते प्रसगो में लोक-गत ही ठीक बैठता है, जिसका अर्थ होता है—लोक में प्रचलित या मान्य।

सारिक (Brief, Concise)

अर्थ-गर्भित (Pithy)
संहत (Compact*)
अल्पाक्षरिक (Laconic)
सारभूत=सारिक
परिसंहत (Terse)
सारांशिक (Summary)
बह्वर्थक (Sententions)
सुसंहत (Succint)
संक्षिप्त (Abbreviated)

सारिक स० सार (व्युत्पत्ति अनिश्चित) से बनाया हुआ नया शब्द है। सार का मूल अर्थ है—किसी घनी चीज मे का वह प्रधान तत्त्व, जिसपर उस चीज का अस्तित्व, उपयोगिता, शक्ति आदि आश्रित हो । इसी आधार पर किसी चीज या बात का वह सक्षिप्त या सूक्ष्म अश भी सार कहलाता है, जो या तो उसके गुणों, विशेषताओं आदि का परिचायक होता है या उन गुणों, विशेषताओं आदि का उपयोग करने के लिए एकत्र किया या निकाला जाता है। इसी लिए हम इसे साराशिक (सज्ञा साराश से बना हुआ विशेषण) भी कह सकते हैं, और सारभूत भी। पर चल सकने योग्य और हलका शब्द सारिक ही है। प्रस्तुत प्रसग मे सारिक वह चीज या बात कही जायगी, जिसमें केवल काम के और मुख्य,मुख्य अग या अश ही हों, इधर-उधर की अनावश्यक बातें या व्यर्थ का विस्तार न हो। हम अपना कोई अभिप्राय भी सारिक रूप में प्रकट कर सकते हैं; और किसी ग्रन्थ या लेख का भी सारिक प्रस्तुत कर सकते हैं। किसी घटना या सस्था के विस्तृत विवरण का भी सारिक तैयार किया जा सकता है। अपने विशिष्ट और पारिभाषिक अर्थ मे साराशिक वह कहलाता है, जो किसी कथन, वक्तव्य, विवरण आदि के सक्षेप या साराश के रूप में हो; और इस दृष्टि से यह भी बहुत-कुछ वही है, जो सारिक है। सहत ऐसा रूप (व्यापक अर्थ में) कहलाता है जो अच्छी तरह से कसा या गठा हुआ हो, घना

* अँगरेजी कम्पैक्ट (Compact) के संज्ञावाले अर्थ के लिए देखें—'समझौता' के अन्तर्गत 'प्रपाशक'।

या ठोस हो। जिसमें विरलता न हो, जो अपेक्षया कम स्थान घेरे, वही संहत है। इसका प्रयोग भौतिक और अ-भौतिक, मूर्त्त और अमूर्त्त सभी प्रकार की वस्तुओं तथा बातों के लिए हो सकता है। आज-कल कुछ विशिष्ट क्रियाओं से दाब पहुँचाकर काठ के टुकड़े इस प्रकार संहत किये जाते हैं कि वे स्थान भी कम घेरते हैं और पहले से बहुत मजबूत भी हो जाते हैं। इसी संहत में परि उपसर्ग लगाकर **परिसंहत** और सु उपसर्ग लगाकर सुसहत बनाया गया है। ये शब्द मुख्यत वाक्य-रचना और साहित्यिक क्षेत्र के ही हैं। अच्छे लेखकों की वाक्य-रचना **सुसंहत** होती है—ऐसी गठी हुई होती है कि न तो उसमे का कोई शब्द फालतू या व्यर्थ होता है, न इधर-उधर किया जा सकता है। जिन रचनाओं मे केवल काम की बातें हों, व्यर्थ का विस्तार न हो, उन्हे भी हम सुसहत कह सकते हैं। ऐसी ही रचना (अथवा वाक्य-रचना) मे जब ओज, प्रसाद आदि गुण भी सम्मिलित हों, तो उसे **परिसंहत** कहते हैं। **संक्षिप्त** का पहला अर्थ तो है—यों ही फेंका या ढेर लगाया हुआ; पर हिन्दी मे इसका प्रयोग बहुत-कुछ विस्तृत अर्थ और क्षेत्र मे, प्राय मनमाने ढग से होता है। इस शब्द-माला मे जितने शब्द ऊपर आये हैं, उनमे से अधिकतर शब्दो का काम हमारे यहाँ इसी संक्षिप्त से लिया जाता है। समय के अभाव के कारण लोग अपना भाषण सक्षिप्त कर लेते हैं, पुस्तकों के संक्षिप्त सस्करण निकलते हैं; और शब्दों तथा पदों के **संक्षिप्त** रूप बना लिये जाते हैं। पर आर्थी स्पष्टता और सीमा-निर्धारण के विचार से संक्षिप्त का प्रयोग ऐसे पदों, शब्दों आदि के सम्बन्ध में ही होना चाहिए जो नियत या निश्चित प्रकार से कुछ अक्षर घटाकर इतने छोटे कर लिये गये हों कि बड़े पदों, शब्दों आदि के साकेतिक वाचक का काम दे सकें। जैसे—महाराज कुमार का संक्षिप्त रूप महा० कु० या राष्ट्र सघ का संक्षिप्त रूप रा० स० होता है। कोशों आदि में क्रिया प्रयोग की जगह जो क्रि० प्र०, संस्कृत की जगह स० आदि रखे जाते हैं, वे भी सक्षिप्त रूप या संक्षितक (संज्ञा) ही होते हैं। हिन्दी मे बी० ए०, एम० ए० आदि जो शास्त्रीय उपाधियाँ लिखी जाती हैं, वे वस्तुत अँगरेजी सक्षितकों के हिन्दी रूपान्तर मात्र हैं। अर्थ गर्भित का शब्दार्थ ही है—जिसमे बहुत अधिक अर्थ भरा हुआ हो। जो वाक्य **परिसंहत**

या सुसंहत होने के सिवा अपेक्षया बहुत अधिक या गम्भीर परन्तु छिपे हुए अर्थ (या अर्थों) से भी युक्त हो, वही **अर्थ-गर्भित** कहलावेगा। यदि हम किसी अवसर पर कहें—'वाह, क्या बात है!' और सुननेवाले अपनी-अपनी रुचि या विचार के अनुसार इसके अलग अलग (निन्दात्मक और प्रशसात्मक) अर्थ लगाने लगें, तो हमारा उक्त वाक्य **अर्थ-गर्भित** कहा जायगा। प्राय अच्छे लेखक या वक्ता कभी कभी बहुत थोडे शब्दों मे बहुत-सी या बड़ी-बडी बातें कह जाते हैं। ऐसे अवसरों पर कहा जाता है—उनकी हर बात बहुत **अर्थ-गर्भित** थी। **बह्वर्थक** (सं० बहु + अर्थक) भी बहुत-कुछ वही है, जो **अर्थ-गर्भित** है, फिर भी यह **अर्थ-गर्भित** से बहुत-कुछ आगे बढा हुआ शब्द है। जिस कथन या बात मे कोई एक-दो अर्थ छिपे हो, वह तो **अर्थ-गर्भित** कही जायगी, पर जिसमे बहुत अधिक अर्थ छिपे हों या जिससे बहुत-से अर्थ निकल सकते हों, वह **बह्वर्थक** कही जायगी। इसमे थोडी-सी बातों या वाक्यों मे बहुत-से अर्थ निहित होने का भाव प्रधान है। **अल्पाक्षरिक** का अर्थ ही है—जिसमे बहुत ही थोड़े अक्षरों का प्रयोग हुआ हो। **अल्पाक्षरिक** वह बात कही जायगी जिसमे कोई अभिप्राय इतने थोड़े शब्दों मे कहा गया हो कि लोग या तो ठीक ठीक आशय पूरी तरह से समझ ही न सकें या चक्कर मे पड जायँ। ऐसी बात प्राय स्वभाव का रूखापन या असस्कृति की सूचक होती है*।

---

* एक बार किसी लिपिक को अपने प्रधान अधिकारी के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजना पडा, जिसमे बहुत अधिक अनावश्यक विस्तार हो गया था। अधिकारी ने बिगड़कर वह प्रार्थना-पत्र फेंक दिया और कहा—जो कुछ कहना हो, वह बहुत मुख्तसर (सक्षेप) मे लिखकर लाओ। दूसरे दिन उस लिपिक ने एक छोटा-सा कागज अधिकारी के सामने ला रखा, जिसपर लिखा था—अरजी मुख्तसर, बन्दा इधर या उधर !

साहित्य (Literature)

किताब=पुस्तक **प्रकाशन** (Publication)
ग्रन्थ (Literary work) **सत्साहित्य** (Belle-lettre)
पुस्तक (Book) **साहित्यिक कृति या रचना**
पुस्तिका (Booklet) (Literary production)

साहित्य स० सहित का भाव-वाचक रूप है, और इसका शब्दार्थ है—सामूहिक रूप से सबके मिलकर एक साथ रहने या होने की दशा या भाव। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग मे, अपने विस्तृत अर्थ मे,' यह सभी देशों और युगों के लोगों के उन सब विचारों का सूचक हो गया है, जो लिखित अथवा प्रकाशित रूप में पाये जाते हैं। सीमित अर्थ में यह किसी देश, भाषा या युग की अथवा मानवी ज्ञान-विज्ञान के किसी क्षेत्र या विभाग की समस्त लिखित अथवा प्रकाशित पुस्तकों आदि का वाचक है। जैसे—भारतीय साहित्य, यूनानी साहित्य आदि; अथवा बँगला, मराठी या हिन्दी का साहित्य। किसी एक विषय या किसी बहुत बडे लेखक की सब रचनाएँ भी उस विषय या लेखक के नाम के साथ अभिहित होती हैं, जैसे—पुरातत्त्व सम्बन्धी साहित्य, तुलसी या सूर का साहित्य आदि। जिन ग्रन्थो मे उच्च कोटि के और सुरुचिपूर्ण भाव या विचार अच्छी भाषा और सुन्दर शैली मे रहते हैं, उन सबको सामूहिक रूप से सत्साहित्य कहते हैं। इतिहास, काव्य, दर्शन, नीति, विज्ञान आदि से सम्बन्ध रखनेवाली अच्छी-अच्छी पुस्तके प्राय इसी वर्ग में आती हैं। ग्रन्थ सं० ग्रथ् धातु से बना है, जिसका अर्थ है—एक मे बाँधना, गाँठ लगाना, गूथना, पिरोना आदि। प्राचीन काल मे ताड-पत्रों, भोजपत्रों आदि पर सारे विचार लिखकर और उनमें छेद करके उन्हें एक साथ बाँधकर उनमे गाँठ (या ग्रन्थि) लगा दी जाती थी; इसी से यह शब्द उन समस्त लिखित विचारों का वाचक हो गया, जो लिखकर एक साथ या एक जगह

रखे जाते थे। आज-कल यह उच्च कोटि की बड़ी बड़ी पुस्तकों का वाचक हो गया है, पर साधारण पुस्तक शब्द की तुलना मे **ग्रन्थ** विशेष आदर और गौरव या महत्त्व का सूचक है। जैसे—गुरु **ग्रन्थ** साहब, डा० भगवानदास के **ग्रन्थ** आदि। किस्से-कहानी या कजली-होली की पुस्तकें ही कही जाती हैं, **ग्रन्थ** नहीं। हम हर **ग्रन्थ** को तो **पुस्तक** भी कह सकते हैं, पर हर **पुस्तकं** को **ग्रन्थ** नहीं कह सकते। **पुस्तक** का अल्पार्थक **पुस्तिका** है; और यह शब्द छोटी छोटी पुस्तकों के लिए प्रयुक्त होता है। जब कोई **ग्रन्थ** या **पुस्तक** छपकर प्रकाशित हो जाती है, तब (केवल इसी विचार से) वह **प्रकाशन** कहलाती है। यह मुख्यत प्रकाशन या प्रकाशकों के दृष्टि-कोण से बना हुआ शब्द है। हम कहते हैं—अमुक पुस्तक-विक्रेता के पचासों **प्रकाशन** हैं; अर्थात् उसने पचासों पुस्तकें छाप कर प्रकाशित की हैं। यों बाजार में हम किसी लेखक का भी कोई नया **प्रकाशन** ढूँढने निकलते हैं, पर यहाँ भी दृष्टि-कोण वही प्रकाशन या प्रकाशकोंवाला होता है। हमारा आशय यही होता है कि अमुक लेखक का कोई नया **ग्रन्थ** किसी प्रकाशक ने प्रकाशित किया है या नही। **साहित्यिक कृति** या **रचना** किसी ऐसे ग्रन्थ या पुस्तक को कहते हैं, जिसका साहित्यिक दृष्टि से कुछ विशेष महत्त्व हो, जिसमें कुछ अच्छे भाव या विचार हों। साधारणतया क्षणिक मनोविनोद के लिए लिखी हुई छोटी-मोटी या रद्दी की टोकरी में स्थान पाने लायक पुस्तक-पुस्तिकाओं की गिनती **साहित्यिक कृतियों** या रचनाओं मे नहीं होती।

साहित्यिक वाद

अभिव्यंजनावाद (Exppres-sionism) **प्रगतिवाद**
प्रतीकवाद (Symbolism)
आदर्शवाद (Idealism) **प्रयोगवाद**
छायावाद **यथार्थवाद** (Realism)
प्रकृतवाद (Naturalism) **रहस्यवाद** (Mysticism)

इस वर्ग के सब शब्द कुछ नये प्रकार की साहित्यिक रचनाओं, विशेषत. छन्दोबद्ध रचनाओं या कविताओं के विशिष्ट प्रकारों या प्रणालियों के सूचक हैं; और थोडे ही दिनों से प्रचलित हुए हैं। तात्त्विक दृष्टि से **रहस्यवाद** का सिद्धान्त और स्वरूप बहुत पुराना है; और छायावाद उसी की एक विकसित शाखा है। शेष वाद हमारे यहाँ पाश्चात्य देशों के साहित्यिक क्षेत्रों से आये हैं। **रहस्यवाद** का मूल मनुष्य की वह जिज्ञासा है जो उसके मन मे सृष्टि के कर्त्ता के प्रति उत्पन्न होती है। वह समझता है कि एक ऐसी अलौकिक सत्ता भी है जो देश-काल और भौतिक दृष्टि की सीमा से परे है, और हमे उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। चिन्तन जगत् का अद्वैतवाद ही भावना जगत का **रहस्यवाद** है। वैदिक काल से अब तक इस क्षेत्र में जितने विचार हुए हैं, उन सबकी परम्परा मे आज-कल का साहित्यिक **रहस्यवाद** भी है। अपना आपा या अहं भाव भूलकर उस असीम और शाश्वत से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न ही इसका मूल तत्त्व है। छायावाद हमारी वैयक्तिक और सामाजिक अनुभूतियों का ऐसा अभिव्यजन है, जो सौन्दर्यमय प्रतीकों के आश्रय या सहारे पर चलता है। आशा और निराशा, सुख और दु ख, भले और बुरे के प्रकाश और अन्धकार मे भटकनेवाली लालसापूर्ण अनुभूतियों का अभिव्यंजन इस

(छायावाद) की विशेषता है । इस प्रसग मे छाया का अर्थ है—हमारी अनुभूतियों की प्रतिकृति या अनुहार । रहस्यवाद की अपेक्षा इसमे ध्वन्यात्मकता और लाक्षणिकता अधिक होती है । जहाँ रहस्यवाद मे सृष्टि-कर्त्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न होता है, वहाँ छायावाद मे उस आनन्दमयी अनुभूति का प्रकाशन होता है, जो सृष्टि के कण कण मे उस सृष्टि-कर्त्ता की छाया दिखाई देने पर होती है । प्रगतिवाद उस द्वन्द्व की साहित्यिक प्रतिक्रिया है जो आज-कल के भौतिक वाद मे दिन पर दिन उग्र रूप धारण करता जा रहा है । राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टि से इसका लक्ष्य है—समाज की शोचनीय अवस्था की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करना, और ऐसे समाज की सृष्टि करना जिसमे समष्टिवादी सिद्धान्तों का बोल-बाला हो । यह आज-कल की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि व्यवस्थाओं का विद्रोही है, और इसी लिए इसमें साहित्य के सौन्दर्य-पक्ष की उपेक्षा करके उसकी उपादेयता की ओर ही सारा ध्यान दिया जाता है । छायावाद मे जिन बातों के सम्बन्ध मे हृदयगत भावनाएँ प्रकट की जाती हैं, प्रगतिवाद मे उनके प्रति विद्रोह की भावना से विशुद्ध मानसिक विचार प्रकट किये जाते हैं । छायावाद का धरातल अति-काल्पनिक है, और प्रगतिवाद का अति भौतिक । प्रतीकवाद अभिव्यक्ति का वह प्रकार है, जिसमे अ-भौतिक, आध्यात्मिक, आदर्श और अमूर्त्त तथा सूक्ष्म तत्त्वों या भावों का प्रस्थापन कुछ लौकिक प्रतीको के आश्रय से किया जाता है । साहित्य के सिवा चित्र-कला, मूर्त्ति-कला, सगीत आदि मे भी इसका प्रयोग देखने में आता है । जो बात अमूर्त्त या आध्यात्मिक होती अथवा केवल आदर्श के क्षेत्र में रहती है, उसे प्रतीकों की सहायता से सबके सामने रखना इसका मुख्य उद्देश्य है । साधारणत ठीक और पूरी तरह से यह नहीं बतलाया जा सकता कि भावनाएँ क्या हैं; अर्थात् उनकी वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती; अत उनका प्रतीक या अनुहार ढूँढकर केवल समानता के आधार पर उनकी अभिव्यक्ति की जाती है । काव्य के क्षेत्र मे, इसका प्रयोग इसलिए जटिलता और दुरूहता उत्पन्न कर देता है कि इसका उद्देश्य ही पाठकों का कुतूहल और जिज्ञासा और भी जाग्रत तथा प्रबल

करना होता है*। इसमे एक स्तर पर दिखाई देनेवाली वास्तविकता का चित्रण दूसरे स्तरों पर निखाई देनेवाली,उसी प्रकार की वास्तविकता के रूप मे होता है। **प्रयोगवाद** वह शैली है जिसमे कवि या लेखक अपने आपको मार्ग का अन्वेषक समझता और अपनी रचनाओं को प्रयोग मात्र मानता है। जब युग का अन्धकार, अनाचार और विषाद बहुत बढकर भावुक कवि या लेखक को अभिभूत कर लेता है और फलत उसे अपने भाव व्यक्त करने के लिए न छन्द मिलते हैं और न शब्द, तब वह अनेक प्रकार के प्रतीकों के आधार पर नये नये प्रयोग करने लगता है। अमूर्त्त भावनाओं को उनके अनुरूप छन्दों के सहारे मूर्त्त रूप देना ही आज-कल का **प्रयोगवाद** है। इसकी जन-भावना प्रगतिवाद से और प्रतीक-योजना प्रतीक-वाद से अनुप्राणित होती है। कल्पना और सौन्दर्य के विचार से यह छाया-वाद के बहुत कुछ पास तक पहुँचता है। लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर जब हम इस भौतिक जगत और जीवन से परे किसी परम सुखमय, सौन्दर्यमय, सब प्रकार से अभीष्ट तथा पूर्ण आदर्श लोक की कल्पना करते हैं, तब मानों हम **आदर्शवाद** की सृष्टि करते हैं। इस विचार-धारा मे इस बात से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता कि यह जगत और जीवन कैसा है; और यही बात सामने रह जाती है कि हमारा आदर्श कैसा होना चाहिए, और उसकी प्राप्ति या सिद्धि कैसे की जानी चाहिए। **आदर्शवादी** कवि और लेखक अपनी कृतियों मे केवल उदात्त

---

* प्रगतिवाद और प्रतीकवाद दोनों पिछली शती के अन्तिम चरण में फ्रान्स से चले हैं। उन दिनों वहाँ के पूँजीदारों और श्रमिको में बड़े बड़े झगडे होने के कारण अराजकता-सी फैल गई थी। उस समय जिन कवियों ने जन-तन्त्री भावनाओं से सम्बद्ध कविताएँ लिखी थी, वे यथार्थवादी अथवा प्रगतिवादी कहे जाने लगे, पर जो कवि राजनीतिक प्रपचों से दूर रहकर केवल कल्पना और सौन्दर्य की वीथियो में विचरते रहे और आदर्श तथा आध्यात्मिक भावनाओं से युक्त कविताएँ करते रहे, वे प्रतीकवादी कहलाये। छन्द शास्त्र के नियमों और बन्धनों से मुक्त तथा केवल लय-प्रधान और अ-तुकान्त कविताओं की परिपाटी भी इन्हीं लोगों ने चलाई थी।

तथा श्रेष्ठ गुणों और चरित्रो के चित्र अंकित करते हैं; चरित्रों या पात्रों और उनके दोषोंकी ओर वे ध्यान नहीं देते। इसमे यही माना जाता है कि सद् की असद् पर सदा से विजय होती आई है और सदा होती रहेगी। इसके विपरीत, **यथार्थवाद** मे आदर्श की उपेक्षा करके केवल प्रत्यक्ष, प्रस्तुत और यथार्थ या वास्तिविक तत्वों, बातो, स्थितियो आदि का ध्यान रखा जाता है। जो चीज या बात जिस रूप मे सदा सबके सामने आती रहती हो, उसे उसी रूप मे अकित या चित्रित करना **यथार्थवाद** का उद्देश्य होता है। इस प्रकार यह मानो वास्तविकता का नग्न चित्र सबके सामने रखता है। इसमे भौतिक जगत और जीवन से परे किसी अज्ञात शक्ति या सत्ता का अस्तित्व नही माना जाता; प्रत्यक्ष जड़ जगत ही सब कुछ माना जाता है। इसमें न तो अपनी ओर से कोई टीका-टिप्पणी की जाती है और न अपना कोई निजी दृष्टि-कोण उपस्थित किया जाता है। निष्कर्ष निकालने का सारा भार पाठको पर छोड दिया जाता है। यही और आगे बढकर उस **प्रकृतवाद** का रूप धारण कर लेता है, जिसमे प्राय जीवन के ऐसे अश्लील और हेय अगो का भी चित्रण होने लगता है, जो शिष्ट तथा सुरुचि रखनेवाले लोगो को बहुत खटकता है। **आदर्शवाद** और **यथार्थवाद** मे सामजस्य स्थापित करने के लिए अब ऐसी नई विचार-धारा भी प्रवाहित होने लगी है जिसमे **यथार्थवाद** की नींव पर **आदर्शवाद** का भवन खडा करने का प्रयत्न किया जाता है।

मन की सहज अनुभूतियो को कलापूर्ण रूप मे और ज्यो की त्यो सबके सामने रखना ही साहित्यिक क्षेत्र मे **अभिव्यंजना** कहलाता है; और इसी आधार पर **अभिव्यंजनावाद** की सृष्टि हुई है। इसका प्रयोग साहित्यिक क्षेत्र के सिवा चित्र-कला, मूर्त्ति-कला और स्थापत्य मे भी होता है, पर सबसे अधिक यह अभिनय, नृत्य और सगीत से सम्बद्ध है। इसका एक मात्र उद्देश्य अपने मनोविकार कलात्मक ढग से और सुन्दर रूप मे सबके सामने रखना है। इसमे यही माना जाता है कि कला का एक मात्र सम्बन्ध 'सुन्दर' से है—वह 'सत्य' और 'शिव' की अपेक्षा नहीं रखती। कला की दृष्टि मे इतिहास और भौतिक विज्ञान के सत्य का कोई महत्त्व नहीं होता। हाँ औचित्य का विचार अवश्य और सदा उसके सामने रहता है। इसी लिये **अभिव्यंजनवाद** की सबसे बड़ी मान्यता यही है कि औचित्य

का ध्यान रखकर कलात्मक रूप में मनोभावो की जो अभियजना की जाती है, वही जीवन के सब उद्देश्य सफल और सिद्ध कर सकती है।

सीमा (Limit)

अनु-सीमा (Abuttals) **बहिरेखा** (Outline)
चौहद्दी, पर्यन्त (Boundary) **विस्तार** (Extent)
परिमा (Bound)

सीमा किसी दिशा की वह अन्तिम रेखा या विन्दु सूचित करती है, जहाँ तक पहुँचकर कोई विस्तार समाप्त होता है। इसी लिए यह शब्द इस भाव का भी सूचक हो गया है कि अमुक स्थिति से आगे बढना उचित या ठीक नहीं है। **चौहद्दी** और **पर्यन्त** एक ही हैं। इनसे किसी क्षेत्र या प्रदेश के चारों ओर की सीमा या हद सूचित होती है। इन शब्दों का प्रयोग यह बतलाने के लिए होता है कि किसी क्षेत्र की सीमा हर दिशा मे कहाँ तक है, और साथ ही स्पष्टीकरण के लिए प्राय यह भी बतलाया जाता है कि हर दिशा मे सीमा के बाद कौन-सा घर, देश या स्थान पड़ता है। इनका उपयोग प्राय खेतों, मकानों, देशों आदि का विस्तार और उम विस्तार के उपरान्त हर दिशा मे स्थित खेतों, मकानों, देशों आदि का निरूपण करने के लिए होता है। **अनु-सीमा** का प्रयोग किसी क्षेत्र या भूमि की सीमा-रेखा के बहुत ही पास पडनेवाली भूमि और उस पर बनी हुई चीजों के सम्बन्ध मे होता है। किसी बगीचे की चहार-दीवारी से प्राय सटी हुई (इस पार की भी और उस पार की भी) भूमि और विशेषत उस पर बने हुए मकानों या लगे हुए पेड़ों के सम्बन्ध में कहा जायगा कि ये चीजें **अनु-सीमा** पर हैं, अर्थात् **सीमा** के बहुत पास हैं। **परिमा** भी बहुत कुछ वही भाव सूचित करती है जो **सीमा** से सूचित होता है; पर इसका प्रयोग प्राय गणित ज्यामिति

आदि मे किसी क्षेत्र की सीमा-रेखा सूचित करने के लिए होता है। यह अंकित की हुई भी हो सकती है और बिना अंकित की हुई भी। **बहिर्रेखा** प्राय यह सूचित करती है कि किसी क्षेत्र के मुख्य विभागों का विस्तार कहाँ तक है और किसी दिशा मे कोई विभाग कहाँ समाप्त होता है। **विस्तार** उस सारे क्षेत्र का वाचक है, जहाँ तक कोई चीज फैली हुई हो। विस्तार हर चीज और हर बात का होता है, और इसमें सीमा या उस पर की रेखाओं, विन्दुओं आदि का कोई भाव या विचार नहीं होता।



सूचना (१. Information, २. Notice)

अधिसूचन (Notification) **प्रख्यापन** (Declaration)
अभिज्ञापन (Announcement) **प्रसारण** (Broad-casting)
उद्घोषणा (Proclamation) **विज्ञापन** (Advertising)
प्रकाशन (Publishing)

इस वर्ग के सभी शब्द ऐसे कामों या बातों के सूचक हैं, जिनके द्वारा दूसरों को अथवा सब लोगों को प्राय खुले और सार्वजनिक रूप मे किसी विषय की जानकारी या परिचय कराया जाता है। इस वर्ग का मुख्य शब्द **सूचना** स० सूच् से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है—दिखाना, बताना, व्यक्त करना आदि। **सूचना** का मुख्य अर्थ है—निर्देश, सकेत आदि के द्वारा बताना कि यह अमुक अथवा ऐसी बात या वस्तु है। साधारणत किसी बात का सामान्य ज्ञान या परिचय करना-कराना ही **सूचना** कहलाता है। मुख्य रूप से किसी आवश्यक घटना, तथ्य आदि से स्वयं परिचित होना या दूसरों को परिचित कराना तो **सूचना** कहलाता ही है; इस प्रकार ज्ञान या परिचय किया अथवा कराया जाता है, वह ज्ञान या परिचय भी **सूचना** कहलाता है। जैसे—(क) हमे आपके आने की **सूचना** पहले

ही मिल गई थी; अथवा (ख) उनके अस्वस्थ होने की सूचना समाचारपत्रों मे निकल गई थी। विशिष्ट रूप से किसी बात की ओर किसी का ध्यान दिलाना या किसी के ध्यान मे कोई बात लाना भी सूचना है। जैसे—सब कर्मचारियो को सूचना दे दो कि कल कार्यालय बन्द रहेगा। अपने इसी विशिष्ट रूप मे यह **अधिसूचन** भी कहलाता है; पर इसमे औपचारिक रूप से और किसी निश्चित साधन के द्वारा सूचित करने का भाव मुख्य है। राज्य की ओर से सब लोगो की जानकारी के लिए जो बात राजपत्र या समाचारपत्रो मे, विशिष्ट रूप से सबका ध्यान आकृष्ट करने के लिए, प्रकाशित की जाती है, उसे भी **अधि-सूचन** कहते हैं। **विज्ञापन** स० ज्ञापन (जतलाना या बतलाना) मे वि उपसर्ग लगाकर बनाया गया है। समाचारपत्रो आदि मे अथवा यों ही कागज पर लिख या छापकर जनता का ध्यान आकृष्ट करने के उद्देश्य से, कोई बात लोगो को बतलाना **विज्ञापन** कहलाता है। **विज्ञापन** प्रायः बार-बार या कई बार भी होता है। अपने विस्तृत अर्थ मे **विज्ञापन** का प्रयोग उस दशा मे भी होता है, जब कोई बात इस प्रकार बार-बार कही जाती है कि लोगो को कुछ अनुचित या भारी जान पड़े अथवा जिसका उद्देश्य केवल सस्ती ख्याति या प्रसिद्धि प्राप्त करना हो। जैसे—वे सार्वजनिक सभा-समाजों मे भी अपना **विज्ञापन** करने से नहीं चूकते। ज्ञापन में अभि उपसर्ग लगने से **अभिज्ञापन** बना है, जिसका आशय है—पहले पहल लोगों को ऐसी बात की जानकारी कराना, जिससे या तो उनका कोई हित होता हो या जिससे उनका हानि-लाभ सम्बद्ध हो। कभी-कभी यह लोगों की उत्कंठा या कुतूहल शान्त करने के लिए भी होता है। जैसे—शासन का नया **अभिज्ञापन** यह है कि वह अनाज का भाव गिरने नहीं देगा। **उद्घोषणा** का शब्दार्थ है—जोर से चिल्लाकर सब को सुनाते हुए कोई बात कहना, अथवा इस प्रकार कही हुई कोई बात। पहले सार्वजनिक स्थानों मे ढोल आदि बजाते हुए उद्घोषणाएँ होती थीं; पर अब कोई बात जोर देकर, गर्व या दृढतापूर्वक और सब को सुनाने के उद्देश्य से ही जोर जोर से कहना **उद्घोषणा** कहलाता है। आज-कल प्राय शासकों अथवा बडे राजकीय अधिकारियों की ओर से कुछ मुख्य और विशिष्ट अवसरों पर अधिक महत्त्व की बातों की उद्घोषणा होती है। यों **प्रख्यापन** भी है तो कोई बात कहने

या सूचित करने का एक प्रकार ही; पर इसमें औपचारिक रूप से और निश्चित तथा स्पष्ट रूप से कोई बात किसी के सामने या कुछ लोगों के सामने कहने का भाव प्रधान है। हम न्यायालय के सामने (प्राय लिखित रूप मे) यह **प्रख्यापन** करते हैं कि हमने अमुक काम किया है अथवा कदापि नहीं किया। हम जनता के सामने यह भी **प्रख्यापन** कर सकते हैं कि हम अपने नागरिक अधिकारों अथवा अमुक अमुक सुभीतों का परित्याग करते हैं; अथवा जब तक अमुक बात न हो जायगी, तब तक हम सुख-भोग की वस्तुओं का उपभोग नहीं करेंगे। इस प्रकार **प्रख्यापन** दृढ निश्चयपूर्वक किये जानेवाले कथन या प्रतिज्ञा का सूचक होता है। **प्रकाशन** का शब्दार्थ है—प्रकाश मे लाने की क्रिया या भाव। प्रकाश्य रूप से सबके सामने कोई बात रखना या लाना ही वस्तुत **प्रकाशन** है। पर आज-कल कोई चीज छापकर सब के सामने रखना ही **प्रकाशन** कहलाता है। हम कहते हैं—(क) इस पुस्तक के **प्रकाशन** से साहित्य का बहुत उपकार हुआ है; अथवा (ख) प्राचीन काल मे पुस्तकों के **प्रकाशन** के लिए वैसे साधन और सुभीते नहीं थे, जैसे आज-कल हैं। ऐसे अवसरों पर प्रकाशन का अर्थ होता है—ऐसी स्थिति मे सबके सामने रखना कि सब लोग उससे परिचित हो सकें या लाभ उठा सकें*। **प्रसारण** का साधारण अर्थ है—प्रसार करना या फैलाना। पर प्रस्तुत प्रसग में इसका अर्थ होता है—कोई बात चारो ओर दूर-दूर तक इस प्रकार फैलाना कि सब लोग उसे जान जायँ। आज-कल मुख्य रूप से रेडियो के द्वारा सब लोगों को किसी बात से परिचित कराना ही **प्रसारण** कहलाता है; और इसका प्रयोग अब विशिष्ट रूप से रेडियो के कार्य-क्रमों आदि के सम्बन्ध मे होने लगा है। हम कहते हैं—आज कल रेडियो पर पक्के गाने अधिक **प्रसारित** होने लगे हैं, अथवा कल सन्ध्या को रेडियो पर नेहरू जी का भाषण प्रसारित होगा। आशय यही होता है कि वह इस उद्देश्य से सुनाया जायगा कि सारा देश उसे सुन सके।

---

* 'प्रकाशन' के दूसरे अर्थ के लिए देखें—'साहित्य' के अन्तर्गत 'प्रकाशन'।

सूची (List)

अनुक्रमणिका (Index) **सन्दर्भिका** (Bibliography)
अनुसूची (Schedule) **सारणी** (Table)
खर्रा, चीरक (Roll) **सूचीपत्र** (Catalogue)
तालिका (Inventory)

इन सभी शब्दों में मूलत एक ही तत्त्व है। बहुत सी चीजों, बातों, विषयों आदि की क्रम-बद्ध और व्यवस्थित नामावली के अन्तर्गत ऐसी सभी प्रकार की चीजें आ जाती हैं। एक साथ बहुत-सी चीजों के लिखे हुए नाम **सूची** कहलाते हैं। पुस्तकों, शब्दों, किये हुए अथवा किये जानेवाले कामों, छुट्टियों, नगरों अथवा कर्मचारियों की **सूचियाँ** ऐसी ही होती हैं, जिनमे बहुधा नामों का ही उल्लेख रहता है। कुछ **सूचियो** मे कभी-कभी नामों के अतिरिक्त कुछ विशेष परिचय या पहचान की बातें भी रहती हैं। जैसे—गाँव के निवासियों या मत-दाताओं की **सूची**, जिसमें व्यक्ति के नाम के सिवा उसके पिता के नाम, निवास-स्थान आदि का भी उल्लेख होता है। **अनुसूची** मुख्यत वह सूची कहलाती है जो किसी लेख्य या विवरणात्मक ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट के रूप में लगी रहती है और जिसमे कोष्ठकों, स्तम्भों आदि के रूप मे कोई ऐसी सूचना रहती है, जिसका उस ग्रन्थ या लेख मे साधारण उल्लेख मात्र रहता है। ऐसी **अनुसूची** मे गिनाई जानेवाली चीजों या नामों के सम्बन्ध मे कुछ विशिष्ट विवरण या स्पष्टी-करण भी रहते हैं। **खर्रा** या **चीरक** मुख्यत उस वस्तु का सूचक होता है, जिस पर उक्त प्रकार की सूचियाँ आदि लिखी होती हैं। इस वस्तु की चौडाई बहुत कम और लम्बाई अधिक होती है। पुरानी चाल की जन्म-पत्रियाँ, चित्रा-वलियाँ आदि, प्राय **खर्रे** के रूप मे ही होती हैं। गौण रूप से **खर्रा** या **चीरक** उस सूची का भी बोधक होता है जो उस पर लिखी जाती है, पर इसमे सूची की अपेक्षा कुछ आधिक्य तथा विस्तार के भी भाव होते हैं। **तालिका** मुख्यत चीजों

या सामानों की सूची को कहते हैं। जैसे—घर के बर्त्तनों या कपड़ों की तालिका; कार्यालय की मेज-कुरसियों आदि की तालिका। **सन्दर्भिका** स० सन्दर्भ से बना हुआ शब्द है। यह मुख्यत विशेष प्रकार या विषय के सन्दर्भ-ग्रन्थों की ऐसी सूची होती है, जिसमे उन ग्रन्थों के लेखको, सस्करणों आदि का भी उल्लेख रहता है। यह प्राय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो के अन्त मे यह दिखलाने के लिए लगाई जाती है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना मे किन-किन ग्रन्थों से सहायता ली गई है, अथवा जो लोग इस विवेच्य विषय की विशेष जानकारी प्राप्त करना चाहते हों, उन्हे और कौन कौन-से ग्रन्थ देखने चाहिएँ। **सारणी** मे प्राय अनेक ऐसे स्तम्भ होते हैं जिनमे छोटे-छोटे कोष्ठको मे अनेक प्रकार के अकों, पदों, शब्दों आदि का ऐसा विन्यास रहता है जिससे उन अकों, पदों शब्दों आदि के पारस्परिक सम्बन्ध और कुछ विशिष्ट तथ्य सूचित होते हैं। यह ऐसे लोगो के उपयोग के लिए होती है जो किसी विषय के मुख्य मुख्य तत्त्व या तथ्य सहज मे जानना चाहते हों, या बिना स्वय गणना, विश्लेषण आदि किये ठीक निष्कर्ष पर पहुँचना चाहते हों। सारणी मे विशेष अध्ययन और परिश्रम के फल एक जगह और एक साथ इस प्रकार दिये रहते हैं कि लोग सहज मे उनका उपयोग कर सकते है। **सूचीपत्र** प्राय पुस्तक या पुस्तिका के रूप मे होता और व्यापारिक क्षेत्रों मे काम आता है। यह साधारण सूची का ऐसा विस्तृत रूप है जिसमे अपेक्षया अधिक ब्योरे की बातें और विवरण रहते हैं। उदाहरण के लिए, पुस्तकों के सूचीपत्र मे प्रत्येक पुस्तक के लेखक या सम्पादक का नाम, पुस्तक के विषय का यथेष्ट परिचय, पृष्ठ-सख्या, संस्करण, मूल्य आदि का भी उल्लेख रहता है। सूचीपत्र प्राय व्यापारी लोग अपने ग्राहको को अपने यहाँ की बिक्री की चीजो से परिचित कराने के लिए छापकर बिना मूल्य बाँटते हैं। जैसे—घडियों, दवाइयो आदि के सूचीपत्र। पर कभी कभी महत्व के बड़े बड़े सूचीपत्र (जैसे बडे बड़े पुस्तकालयो मे रक्षित ग्रन्थो के सूचीपत्र) उचित मूल्य पर बिकते भी हैं।

स्मृति (Memory)

अनुस्मरण (Recollection) **स्मरण** (Remembrance)
अभिज्ञान=अनुस्मरण, स्मरण **संस्मरण** (Reminiscence)
याद=स्मरण

स्मृति हमारी वह मानसिक शक्ति है जिससे उन बातों या वस्तुओं का चित्र फिर से हमारे सामने आ जाता है, जो पहले किसी समय हमारे मन पर अंकित हो चुकी होती हैं। इसी के द्वारा हम बीती हुई बातों का फिर से ध्यान कर सकते हैं, और देखी हुई वस्तुओं या व्यक्तियों को फिर से पहचान सकते हैं; अथवा मन मे उनका चित्र खडा कर सकते हैं। जीव मात्र मे यह शक्ति थोडी बहुत होती है, पर मनुष्यो मे प्राय विशेष विकसित रूप मे होती है; और कुछ अवस्थाओं मे अभ्यास, शिक्षा आदि के द्वारा और भी अधिक विकसित की जा सकती है। यह शक्ति अपने आप या स्वतंत्र रूप से भी काम कर सकती है और इच्छा शक्ति के सहयोग तथा सहायता से भी। **अनुस्मरण स्मरण, संस्मरण** आदि इसी शक्ति के कार्य हैं—इसकी व्यवहारिकता के परिणाम या फल है। **स्मरण** का अर्थ है—किसी बीती हुई बात या व्यक्ति का चित्र फिर से हमारी मानस दृष्टि के सामने आना या फिर से उसका ध्यान होना। कभी तो किसी बात का **स्मरण** हमें आपसे आप हो आता है, और कभी हमे प्रयत्न-पूर्वक किसी बात का बार बार स्मरण करके (या रटकर*) उसे इस योग्य बनाना पडता है कि हम जब चाहे, तब उसे अपने मन के सामने ला सकें। विद्यार्थी प्राय इसी प्रकार अपने पाठो का **स्मरण** करते हैं। पशु जिस रास्ते से आते-जाते रहते हैं, उसका भी उन्हे उसी प्रकार स्मरण रहता है। **स्मरण** का यह कार्य बहुधा

*** इसी आधार पर एक दूसरे प्रसग से स्मरण का एक और अर्थ होता है—बार बार किसी चीज को उसका नाम लेकर याद करना। जैसे—भगवत के नाम का स्मरण।**

आप से आप या स्वाभाविक रूप से होता रहता है। किसी मित्र का नाम सुनने या पत्र पाने पर उसकी बहुत-सी बातें हमे आप से आप **स्मरण** हो आती हैं, पर कुछ अवस्थाओं मे पिछली बातों का **स्मरण** करने मे हमे कुछ विशेष आयास या प्रयत्न करना पडता है; और इसी आयासपूर्वक स्मरण करने को **अनुस्मरण** कहते हैं। प्राय बहुत-सी पुरानी बातें हमे बहुत-कुछ भूल जाती हैं अथवा उनकी **स्मृति** धुँधली पड़ जाती हैं। उन्हीं बातों को फिर से प्रयत्नपूर्वक या मानसिक आयास से स्मरण करना **अनुस्मरण** है। अपनी बाल्यावस्था की बहुत सी बातों, मित्रों, घटनाओं आदि का हमे **अनुस्मरण** करना पडता है। ऐसा **अनुस्मरण** प्राय सुखद ही होता है। **स्मृति** और **अनुस्मरण** के सम्बन्ध मे ध्यान रखने की एक और बात यह है कि **स्मृति** तो बच्चों और पशु-पक्षियों तक मे देखी जाती है; पर **अनुस्मरण** केवल वयस्क मनुष्य ही कर सकते हैं*। दूसरों को पहचानना तो केवल **स्मृति** का काम है, पर उनके सम्बन्ध की पुरानी और भूली हुई बातें फिर से याद करना—उन्हें लगे हुए ढेर में से ढूढ निकालना—वयस्क की बुद्धि का ही काम है, और यही **अनुस्मरण** है। **संस्मरण** का वास्तविक अर्थ तो अच्छी तरह स्मरण करना ही है; पर आज-कल अ० Reminiscence के अनुकरण पर उसमे एक नया अर्थ लग गया है। किसी बहुत पुरानी घटना या व्यक्ति के सम्बन्ध की बहुत-सी ऐसी बातें होती हैं, जो लोग या तो बिलकुल भूल चुके होते हैं या जिनके जाननेवाले बहुत कम लोग बचे होते हैं। ऐसी ही बातों को फिर से याद करके लोगों को उनसे परिचित कराना **संस्मरण** कहलाता है। ये **संस्मरण** प्राय लोक-प्रिय और सुखद होते हैं, क्योंकि इनसे बहुत-सी पुरानी बातें फिर से सामने आती हैं। किसी व्यक्ति से सम्बन्ध रखनेवाले पुराने **संस्मरणों** से उसके गुणों, विशेषताओं, रहन-सहन, स्वभाव आदि का भी अच्छा पता चलता है।

---

* Beasts & babies remember, that is recognise; but man alone recollects.—Coleridge.

स्वतंत्रता (Freedom)

उन्मुक्ति = छूट
छूट (Exemption)
मुक्ति (Emancipation)
स्वच्छन्दता (Liberty)
स्वाधीनता (Independence)

स्वतन्त्रता का शब्दार्थ अर्थ है—वह अवस्था या स्थिति जिसमे मनुष्य अपने ही तत्र या शासन मे रहे, उस पर किसी दूसरे का या किसी तरह का दबाव या नियत्रण न हो। स्वाधीनता का शब्दार्थ अर्थ है—ऐसी अवस्था या स्थिति जिसमें कोई अपने ही अधीनर हे, दूसरे के अधीन न हो। मूलत उक्त दोनों शब्दों के आशय में कोई विशेष अन्तर नहीं है; इसी लिए प्राय एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग देखने मे आता है। फिर भी बहुधा स्वतन्त्रता का प्रयोग व्यक्तियों के सम्बन्ध मे और स्वाधीनता का प्रयोग देशों, राष्ट्रों आदि के सम्बन्ध मे होता है। 'भारत स्वाधीन हुआ है।' का आशय है कि अब उस पर विदेशियों का शासन नहीं रह गया, और 'भारत स्वतन्त्र हुआ है।' का आशय है कि अब वह अपनी सारी व्यवस्था आप करने की स्थिति मे आ गया है। हम यह तो कहते हैं—(क) हमे अपनी इच्छा के अनुसार काम करने की स्वतन्त्रता है; अथवा (ख) समाचार-पत्रों को पहले से बहुत अधिक स्वतन्त्रता मिल गई है। पर ऐसे प्रसगों मे स्वाधीनता का प्रयोग इसी लिए नहीं होता कि हम अथवा समाचार-पत्र फिर भी किसी न किसी व्यवस्था या शासन के अधीन रहकर ही अपने काम करते हैं। स्वच्छन्दता भी है तो बहुत-कुछ वही, जो स्वतंत्रता या स्वाधीनता है, पर स्वच्छन्दता मे कुछ ऐसी उग्रता या मनमाने आचरण का भाव है, जिससे दूसरों का कुछ अहित हो सकता हो या जो दूसरों को खटक सकता हो। हमारे स्वच्छन्दता पूर्वक आचरण करने का फल दूसरों के लिए कुछ अनिष्ट-कर भी हो सकता है। स्त्रियाँ घर में स्वतन्त्रतापूर्वक सब काम कर सकती हैं; पर उनका स्वच्छन्दता-पूर्वक घूमना-फिरना दुष्परिणाम उत्पन्न कर सकता

है। स्वतन्त्रता और स्वाधीनता अपेक्षया निरीह और अभीष्ट होती हैं। स्वतन्त्रता मे बन्धन और विवशतावाले तत्त्व का अभाव मुख्य है, पर स्वच्छन्दता मे मनमाने आचरण का भाव प्रधान है। यदि किसी विशिष्ट कारण-वश या अवस्था मे हम पर से किसी कर्त्तव्य के पालन या सेवा का भार हटा लिया जाय अथवा हम उक्त प्रकार के बन्धन से छुटकार या छुट्टी पा जायँ, तो यह हमारे लिए उन्मुक्ति या छूट कही जायगी। राज्य जब अनिवार्य रूप से सबके लिए सेना मे भरती होने के नियम बनाता है, तब अपाहिजों, रोगियों और वृद्धों को सैनिक सेवा से उन्मुक्ति या छूट मिल जाती है। सरकारी लगान की वसूली के समय, फसल खराब होने की दशा मे, कुछ विशिष्ट क्षेत्रों के किसानो को लगान देने से उन्मुक्त कर दिया जाता है। यदि बाढ के कारण असम या बगाल मे रेल से माल भेजना बन्द कर दिया जाय, तो भी सरकार खाने-पीने और ओढने-पहनने की चीजों को इस आज्ञा से उन्मुक्त कर देती है—लोगो को ऐसी चीजे भेजने की छूट मिल जाती है। मुक्ति का अर्थ है—बन्धन, बाधा आदि से छूटना या रहित हो जाना। आज हम जिस बात से बँधे हैं, उससे कल यदि हम छूट जायँ तो यह हमारी मुक्ति कही जायगी। कारागार से कैदियों की मुक्ति होती है, और दासत्व प्रथा के उठ जाने पर दासों की मुक्ति हो जाती है। उत्तरादायित्व और ऋण भी एक प्रकार के बन्धन ही है, इसी लिए उपयुक्त अवस्थाओं मे इनसे भी मनुष्य को मुक्ति मिलती है। धार्मिक क्षेत्र मे मुक्ति का अर्थ है—शरीर के बन्धन से छूटना। जो लोग आवागमन का सिद्धान्त मानते हैं, उनकी दृष्टि में बार बार शरीर धारण करने के बन्धन से छूटना ही मुक्ति है; और जो लोग उक्त सिद्धान्त नही मानते, उनकी दृष्टि से वह अवस्था मुक्ति है जिसमे आत्मा को पापों के फल-भोग से छुटकारा मिल जाता है।

अनुक्रमणिका

(क) हिन्दी-अँगरेजी

अनुक्रमणिका

(ख) अँगरेजी-हिन्दी

———

आवश्यक संशोधन

हिन्दी-अगरेजी अनुक्रमणिका मे नीचे लिखे शब्दों के आगे पृष्ठ सख्या छपने से रह गई है। पाठक कृपया इस प्रकार सुधार लें।

भौगोलिकी—Gazetteer		७१
भ्रष्टाचार—Corruption		१४४
मानक—Standard		२४४

अच्छी हिन्दी

लेखक—श्री रामचन्द्र वर्म्मा

क्या आप जानते हैं कि आप जो हिन्दी बोलते या लिखते हैं, उसमे कहाँ-कहाँ और कितने प्रकार की अशुद्धियाँ होती हैं? क्या आपको मालूम है कि समाचार-पत्रों और पुस्तकों मे आप जो हिन्दी पढते हैं, वह कितनी अशुद्ध और बे-मुहावरे होती है? क्या आप जानते हैं कि कोई शब्द जरा-सा आगे-पीछे हो जाने से या एकाध मात्रा हट-बढ जाने से ही वाक्यों के अर्थ और भाव मे कितना अतर पड़ जाता है? क्या आप जानते हैं कि आपकी भाषा मे से हिन्दीपन किस प्रकार निकलता जा रहा है, और उसमे ॲगरेजियत कितनी बढती जा रही है? यदि नहीं, तो इन बातो का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए "अच्छी हिन्दी" पढिये।

लेखकों और कवियों के लिए, सम्पादकों और सवाददाताओं के लिए, अध्यापकों और विद्यार्थियो के लिए, व्याख्यानदाताओं और जन-सेवकों के लिए, व्यापारियों और कर्मचारियों के लिए, न्यायालयों के अधिकारियों और वकीलों के लिए 'अच्छी हिन्दी' पढना आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य भी है। 'अच्छी हिन्दी' का अध्ययन सभी तरह के लोगों के लिए इतना अधिक लाभदायक है कि शब्दों मे उसका वर्णन नहीं हो सकता।

सभी समाचार पत्रों और मासिक-पत्रों ने, हिन्दी के छोटे और बड़े सभी विद्वानों ने और शिक्षा-विभाग के अनेक बड़े-बड़े अधिकारियों ने मुक्त-कण्ठ से "अच्छी हिन्दी" की प्रशसा की है; और एक स्वर से कहा है कि सभी हिन्दी पढने-लिखनेवालों को "अच्छी हिन्दी" का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

आठवाँ सशोधित और परिवर्द्धित सस्करण, पृष्ठ सख्या ३८६, दाम ३) वी० पी० से ३।।।)

अपने यहाँ के पुस्तक-विक्रेता से मागिए; या नीचे लिखे पते से मॅगाइए।

साहित्य-रत्न-माला कार्यालय,

२० धर्म्म कूप, बनारस।

हिन्दी प्रयोग

लेखक—श्री रामचन्द्र वर्म्मा

'अच्छी हिन्दी' तो महाविद्यालयो या कालेजों के आरम्भिक वर्गों के विद्यार्थियों के लिए है; पर यह पुस्तक विशेष रूप से हाई स्कूल के नवें-दसवे और हिन्दी स्कूलों के आठवे वर्ग के अथवा इनमे मिलते-जुलते अन्य वर्गों के विद्यार्थियों के उपयोग के लिए लिखी गई है। केवल हिन्दी की परीक्षाएँ लेनेवाली सस्थाओ की प्रथमा और मध्यमा तथा शिक्षा-विभागों के हिन्दी शिक्षकों आदि की नार्मल, ट्रेनिंग, सरटिकायड टीचर्स और कोविद सरीखी परीक्षाओ मे बैठने वाले लोगों की आवश्यकताओं का भी इसमे पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। जो शिक्षक यह पुस्तक एक बार भली भाँति पढ लेंगे, वे अपने विद्यार्थियों को अच्छी भाषा की शिक्षा देकर स्वयं यश के भागी बनेंगे। एडमिशन या मैट्रिक तक की योग्यता प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों के लिए भी यह परम उपयोगी है। जो विद्यार्थी हिन्दी भाषा और व्याकरण की मुख्य-मुख्य बाते और हिन्दी के शुद्ध प्रयोग बहुत सहज मे सीखना चाहते हों, उनके लिए यह पुस्तक एक अमूल्य रत्न है। इससे आरम्भिक विद्यार्थियों को अपनी भाषा विशुद्ध और निर्दोष बनाने मे बहुत अधिक सहायता मिलेगी और परीक्षा मे वे अच्छे अक प्राप्त कर सकेंगे। हिन्दी की आरम्भिक कक्षाओ के शिक्षकों के जानने योग्य कठिन और जटिल बातें इसमे इतने सहज और मनोरंजक ढग से बतलाई गई हैं कि एक बार पुस्तक पढ लेने पर लिखने मे जल्दी कोई भूल न होगी। इसे उत्तर प्रदेश, बिहार और राजपूताने तथा मध्य-भारत की हाई स्कूल परीक्षाओं, पूर्वी पजाब की हिन्दी भूषण, प्रयाग महिला विद्यापीठ की विद्या-विनोदिनी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की प्रथमा परीक्षा के पाठ्य-क्रम मे स्थान मिल चुका है। छठा सस्करण, पृष्ठ १७२; दाम १।।)

हिन्दी काव्य-दर्शन

लेखक—श्री हीरालाल तिवारी

हिन्दी के सभी उत्कृष्ट कवियों और उनकी कृतियों के ठीक-ठीक स्वरूप और महत्त्व बतलानेवाली यह पुस्तक अपने ढग की अनोखी और सर्व-श्रेष्ठ है। यह भक्ति-काल, रीति-काल और आधुनिक-काल इन तीन विभागों मे विभक्त है। हर विभाग के आरम्भ मे उस काल की प्रवृत्तियों आदि का विचारपूर्ण विवेचन है। भक्ति-काव्य मे विद्यापति, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा; रीति काल मे केशव, बिहारी, भूषण, देव और घनानन्द तथा आधुनिककाल मे भारतेन्दु, रत्नाकर, हरि-औध, गुप्त, प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी और दिनकर के काव्यों के पर्यालोचन के अलग-अलग अध्याय हैं। इसमे प्रत्येक कवि के सम्बन्ध मे यह बतलाया गया है कि रूप, प्रेम, सयोग-शृङ्गार, वियोग-शृङ्गार, भक्ति, लोक-जीवन लोक-कल्याण, प्रकृति-चित्रण, आदि के सम्बन्ध मे उनके कैसे विचार थे, उनके दार्शनिक चिन्तन का क्या स्वरूप है, उनकी भाषा-शैली तथा विचारो की अभि-व्यक्ति की कला किस प्रकार की है, और उसमे क्या-क्या विशेषताएँ हैं। सारी पुस्तक बहुत ही गम्भीर अध्ययन और गूढ-विवेचन का एक नया दृष्टिकोण तथा नया आदर्श प्रस्तुत करती है। हिन्दी-काव्य-जगत का ठीक ठीक महत्त्व और स्वरूप समझने मे कालेजों के अध्ययनशील विद्यार्थियों को जितनी अधिक सहायता इस पुस्तक से मिलेगी, उतनी किसी अन्य पुस्तक से नहीं मिलेगी। इसकी लेखन शैली और अभिव्यजन-प्रणाली इतनी उच्च कोटि की है कि एक दो पृष्ठ पढ़ते ही सारी पुस्तक पढने की उत्सुकता आपके मन मे आपसे आप उत्पन्न होगी; और हर जगह आपको सुयोग्य लेखक की प्रशसा करने के लिए विवश होना पड़ेगा। पुस्तक क्या है, आलोचनात्मक साहित्य का एक अनुपम रत्न है। पृष्ठ सख्या ६०० से ऊपर; पक्की सुन्दर जिल्द और बढिया छपाई; मूल्य केवल ६।) डाक व्यय १)

साहित्य-रत्न माला कार्यालय, २० धर्मकूप, बनारस।

———